हिन्दी साहित्य सम्मेलन

के

प्राणप्रतिष्ठापक

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

की

पुण्य स्मृति में प्रकाशित

राजर्षि टण्डन चित्रावली

विशेषताएँ

- आर्ट पेपर पर मुद्रित नयनाभिराम चित्र
- टण्डन जी के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी
- टण्डन जी की प्रेरणादायी सूक्तियाँ

अवश्य संग्रहणीय अल्पमोली चित्रावली

मूल्य : पाँच रुपए

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सम्मेलन-पत्रिका

(त्रैमासिक)

[भाग ६२ : संख्या ३, ४]

आषाढ़-मार्गशीर्ष : शक १८९८

◎

सम्पादक

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

वार्षिक १५.०० } हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग { इस प्रति का ७.५०

प्रकाशक

प्रभात शास्त्री

प्रधान मंत्री : हिन्दी साहित्य सम्मेलन

मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

विषय-सूची

विविधा

सम्पादकीय

हिन्दी-दिवस : एक अन्तर्दर्शन

जिस प्रकार प्रत्येक वर्ष १५ अगस्त और २६ जनवरी को महात्मा गांधी और पंडित नेहरू की जय-जयकार के नारों के बीच स्वतंत्रता के पावन पर्व को मनाने की हम रस्म अदा करते हैं ठीक उसी प्रकार हम प्रतिवर्ष १४ सितम्बर को यत्र-तत्र छोटे-बड़े मंचों के ऊपर प्रतिष्ठित होकर हिन्दी दिवस मनाते हुए हिन्दी का गुणगान कर लेते हैं और अपनी-अपनी दृष्टि से आलोचनापरक वक्तव्यों द्वारा अपना हिन्दी-प्रेम व्यक्त कर देते हैं। बस इतना ही। इसके बाद वर्षपर्यन्त फिर वही अपनी-अपनी राम कहानी, अपने-अपने ढंग। यही है हमारी राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रप्रेम और हिन्दीप्रेम। इससे अधिक और कुछ नहीं। सन् १९४७ में जब हमने दीर्घ दासता के पश्चात देश के स्वतंत्र वातावरण में सांस ली थी उसी समय से यदि हमने दूरदर्शी बनकर हिन्दी को उसके योग्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया होता तो आज हिन्दी-दिवस मनाने की आवश्यकता ही न होती। वह एक अवसर था, एक शुभ मुहूर्त था जिसे हमने अपनी असावधानी के कारण खो दिया।

हम सब जानते हैं कि किसी भी राष्ट्र के विकास की मूल धुरी शिक्षा है। पर हमें यह अत्यन्त दुःख एवं क्लेश के साथ कहना पड़ता है कि हमारे राष्ट्र के कर्णधारों ने अपनी योजनाओं में शिक्षा को वह महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जो देना चाहिए था। वर्षों तक केन्द्र में शिक्षामंत्री को केबिनट स्तर का मंत्री नहीं माना गया। अब तो यह भी सुना जाता है कि ऐसी योजना बन रही है जिसमे शिक्षा केन्द्र का विषय न रहकर राज्यों का विषय बन जाय। यदि यह सत्य है तो इससे बढ़कर देश का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? आजकल देश में जो यत्र-तत्र अराजकता, अव्यवस्था एवं अशान्ति का स्वरूप दिखलाई पड़ता है उसका मूल कारण है शिक्षा की सम्यक व्यवस्था का न होना। यदि सन १९४७ मे ही हमने शिक्षा को आवश्यक महत्व दिया होता तो आज प्रत्येक स्थान में २०-३० वर्ष के ऐसे सहस्रों युवक तैयार हो जाते जो किसी भी विकट एवं विषम स्थिति को सम्हालने मे सक्षम होते और भावी राष्ट्र के सच्चे अर्थों में कर्णधार बन सकते थे, पर ऐसा न हो सका। उसी का दुष्परिणाम आज आये दिन अपने जीवन में देख रहे हैं। शिक्षा के प्रति उदासीनता का परिणाम हिन्दी को भी भोगना पड़ रहा है। इस तथ्य को कदाचित् कोई भी नकारना न चाहेगा कि जब तक राष्ट्र की अपनी भाषा नहीं होती है तब तक जनमानस में राष्ट्रीयता का भाव संभव ही नहीं है। अपनी राष्ट्रभाषा के अभाव में राष्ट्रप्रेम पनप ही नहीं सकता है। हम कहने के लिए स्वतंत्र तो हो गए पर अंग्रेजी को निरन्तर अपनाए रहने के कारण हमारी मानसिक दासता उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गई। देश में 'पब्लिक स्कूलों' की बढ़ती हुई संख्या इसका प्रमाण है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व हम जिस ऐक्यसूत्र से आबद्ध थे, अब वह ढीला एवं जर्जर-सा

प्रतीत होता है। प्रतिक्षण यह आशंका होती है कि कहीं वह टूट न जाय। पहले हममें त्याग और आत्मबलिदान करने की होड़ लगती थी पर अब होड़ लगती है तथाकथित उपलब्धियों के बटोरने में। दोनों के परिणाम विपरीत दिशागामी हैं। यही कारण है कि हमारी अधिकांश श्लाघनीय योजनाएँ—चाहे वह सरकारी हों या गैरसरकारी—फाइलों की ही शोभा बढ़ाती हैं, उनका कार्यान्वयन सम्यक रूप से नहीं हो पाता है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक अकर्मण्यता का, एक उदासीनता का, तटस्थता का वातावरण व्याप्त हो गया है। हम प्रत्येक कार्य के लिए परमुखापेक्षी बनते जा रहे हैं और सोचते रहते हैं कि जो भी कार्य हो वह सरकार करे। पर सरकार के समक्ष अपनी समस्याएँ और सीमाएँ हैं। उसके अपने प्रश्न हैं। उससे भी अधिक सरकारी छोरों के अपने तौर-तरीके हैं। ऐसी स्थिति में हमें अपने भाग्य को अपने हाथों बनाना है, अपना कंटकाकीर्ण मार्ग स्वतः साफ़ करना है। जब तक हम स्वावलम्बी न बनेंगे, आत्मनिर्भर न होंगे तब तक हमारी कर्मठता सशक्त नहीं हो सकती। हमें देखना है कि देश में ऐसे व्यक्ति और ऐसी संस्थाएँ कितनी हैं जिनका हिन्दीप्रेम फसली न होकर बारहमासी है। हिन्दीप्रेमियों और हिन्दीसेवी संस्थाओं से हमारा यह विनम्र निवेदन है कि वे कुछ ऐसे ठोस कार्यक्रमों की योजनाओं के प्रति सक्रिय हों जिससे—

(क) समस्त प्रतियोगी परीक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में मान्य हो।

(ख) प्रत्येक प्रतियोगी परीक्षा में माध्यम हिन्दी भी हो और प्रतियोगियों के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न किया जाय कि उनके प्रति अन्याय न होगा।

(ग) स्कूलों एवं कालेजों के विभिन्न संकायों में हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकृत हो और उसके लिए आवश्यकतानुरूप पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाय।

(घ) समस्त हिन्दी-भाषी राज्यों में राजकीय कार्य पूरी निष्ठा के साथ हिन्दी में ही किया जाय और इस दिशा में उत्साही एवं विवेकसम्पन्न व्यक्तियों को उनके उत्तम कार्य के लिए पुरस्कृत किया जाय।

(ङ) शिक्षा, व्यवसाय एवं अन्य राजकीय कार्यों में हिन्दी के प्रयोग को राष्ट्रीय गौरव की भावना से सम्मानित किया जाय।

विगत १४ सितम्बर को दिल्ली में हिन्दी-दिवस समारोह के अवसर पर प्रधानमंत्री माननीय श्री मोरारजी देसाई ने कहा था कि "यदि तीस वर्ष पहले मैं केन्द्र में होता तो स्वतंत्रता प्राप्ति के दिन से ही हिन्दी को भारत की पूर्ण राजभाषा घोषित कर इसे सभी स्तरों पर अविलंब लागू कर देता।" प्रभु की कृपा से आज उन्हें वह अवसर प्राप्त है जब वे अपनी कल्पना और मंतव्यों को अपने मन के अनुरूप साकार कर सकते हैं। हिन्दी संबंधी अपने आदर्शों को चरितार्थ कर सकते हैं। तब न सही, अब कुछ ऐसे ठोस कदम अवश्य उठाए जाएँ जिससे हिन्दी-प्रचार फाइलों से हटकर जन-जीवन के बीच दिखाई पड़े।

प्रस्तुत संदर्भ में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हिन्दी-प्रचार की बात करके हम हिन्दी साम्राज्यवाद की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। हमारा विरोध केवल राष्ट्रीय स्तर पर प्रयोग की जानेवाली अंग्रेजी भाषा से है। जहाँ तक उसके या किसी भी भाषा के साहित्य के अध्ययन का प्रश्न है वह अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप अवश्य ही पूरा किया जाय।

भारतीय भाषाएँ तो वैसे भी हमारे बहुत निकट की हैं। वे सर्वतोभावेन सम्माननीया हैं। यदि कोई व्यक्ति व्यावहारिक रूप से यह प्रमाणित कर सके कि हिन्दी के अतिरिक्त अन्य अमुक भाषा सम्यक्रूपेण इतनी सक्षम है जो हिन्दी का विकल्प बन सकती है तो हमें उसे भी स्वीकार करने में किंचितमात्र भी संकोच न होगा। पर यदि हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो अपनी व्यापकता एवं क्षमता की दृष्टि से राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा का पद ले सकती है तो वह सम्पूर्ण भारत को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिन्दी हमारी है और हम हिन्दी के हैं। इसी संदर्भ में यह भी आवश्यक है कि हम हिन्दीभाषी अपनी उदार भावना का परिचय अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन के माध्यम से दें। हम अपने व्यवहार से सबके हृदय में यह विश्वास उत्पन्न कर दें कि हिन्दी भाषा प्रेम की भाषा है, भावनात्मक एकता की भाषा है, राष्ट्रीय गौरव की भाषा है।

—प्रेमनारायण शुक्ल

साहित्य चिन्तन में 'वाजपेयी' प्रस्थान

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

⊙ ⊙

(क) जिस प्रकार शुक्ल जी के विषय में कहा जाता है कि उन्हें काव्य या साहित्य का परिणत प्रतिमान गोस्वामी तुलसीदासजी के साहित्यानुशीलन से प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार वाजपेयी जी के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन्होंने भी काव्यस्वरूप विषयक धारणा का निर्धारण स्वच्छंदतावादी काव्यधारा की परिणत रचनाओं से प्राप्त किया, यद्यपि वाजपेयी जी साहित्य में 'वाद' के विरोधी थे। इन रचनाओं में प्रकृत मानव अनुभूति थी और या नैसर्गिक कल्पना के सहारे सौन्दर्यमय चित्र-विधान, जिससे कि मानव मात्र (पाठक सहृदय मात्र) में अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्यसंवेदनात्मक प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है। भारतीय परिवेश की ये स्वच्छंदतावादी परिणत रचनाएँ जातीय, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय गंध से आपूरित थीं। निष्कर्ष यह कि उन्मिषित कवित्व की काव्यात्मक परिणति में जिन तत्वों की सत्ता वाजपेयी जी देखना चाहते हैं—वे स्वच्छंदतावादी काव्य-रचना और चिन्तन में पुष्कल रूप से वर्तमान हैं। काव्य का मूल उपादान जो प्रकृत मानव अनुभूति है—वह सामान्य अनुभूति से—व्यावहारिक धरातल की संकीर्ण अनुभूति से—भिन्न है। अन्यविध अनुभूतियों से पृथक् करने के लिए इसे सर्जनात्मक अनुभूति भी कहा जाता है।

सर्जनात्मक अनुभूति की सत्ता सभी मानते हैं—पर उसकी व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हैं। शुक्लजी इस अनुभूति को रसात्मक अनुभूति के रूप में परिभाषित करते हैं और बताते हैं कि व्यक्ति हृदय की लोकहृदय में लीन होने की दशा ही रसदशा है। इस प्रकार वे जिस रसात्मकता को काव्यानुभूति के रूप में रखना चाहते हैं—वह एक मानवीय मनोभूमि है—जो काव्य की भाँति व्यावहारिक धरातल पर भी संभव होती है—यह मन की एक प्रकार की सात्त्विक या नैतिक मनोमय भूमि है। काव्य या लोक-व्यवहार—सर्वत्र जहाँ भी हम व्यक्तिगत संकीर्ण भूमि से ऊपर उठकर लोकहृदय में विलयन का अनुभव करते हैं—वहीं रसात्मकता है। जहाँ रसात्मकता है—वहीं सौंदर्य है—चाहे लोक हो या काव्य। इस प्रकार शुक्लजी की रसात्मकता और सौंदर्यभावना नैतिक भावना का पर्याय बन जाती है। उन्हें मानवीय या लोकमंगल की भावना से प्रेरित कार्यकलाप में ही सौंदर्य दिखेगा—राम के व्यापार ही सुन्दर प्रतीत होंगे—रावण के व्यापार नहीं। शुक्लजी की

दृष्टि में रावण की सक्रियता[1] का योगदान काव्य की भूमि पर भी सौन्दर्यबोध में नहीं है। काव्यानुभूति के अखण्ड धरातल पर यह नैतिक-अनैतिक का विभाजन वाजपेयी जी को अभीष्ट नहीं है। यहीं काव्यानुभूति के संबंध में वाजपेयीजी शुक्लजी से अपना प्रस्थान पृथक् कर लेते हैं। उनका कहना है कि काव्यगत सौंदर्य को नैतिक-अनैतिक के खानों में बाँटकर नहीं देखना चाहिए, बल्कि काव्य की भूमिका में उसे इससे ऊपर उठकर समग्रता में सौंदर्यबोध करना चाहिए। शुक्लजी की काव्यानुभूति सात्विक है, वाजपेयीजी की काव्यानुभूति प्रकृत मानव अनुभूति है। काव्य निःसंदेह व्यवहार पर आश्रित है, पर व्यवहार पर आश्रित होने के बावजूद उसकी अपनी स्वायत्त सत्ता है—अतः वहाँ की शब्दावली का प्रयोग यहाँ की स्थिति में विभ्रम पैदा कर देता है। यह बात नहीं है कि वाजपेयीजी की प्रकृत मानव अनुभूति असात्विक या अनैतिक है, नहीं, कतई नही। पर वे इस शब्दावली का यहाँ प्रयोग ही नहीं करना चाहते। वे केवल समग्रता-द्योतित-सौंदर्य की समरस और अखण्ड छवि में नैतिकता का विसंष्ठुल समुद्रेक असमरस उभार अनंगीकार करते हैं। वे इस स्थल के लिए केवल 'सौंदर्यानुभूति' का प्रयोग करना चाहते हैं।

जब वाजपेयी जी प्रायोगिक समीक्षा का प्रथम प्रस्थान बिंदु साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष के आकलन को Analysis of the poetic spirit को मानते हैं—तब उनके अनुसार कलात्मक उत्कर्ष का सर्वग्राह्य प्रतिमान होता है—सौंदर्य। उनके अनुसार इस सौंदर्य की परख किन्हीं निश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती। शुक्लजी से, इसीलिए, अपने प्रस्थान को पृथक् करते हुए वाजपेयीजी ने स्पष्ट कहा है—"साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा मे जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु शुक्लजी ने जिसे बार-बार भुला दिया है—यह है कि हम किसी पूर्वनिश्चित दार्शनिक या साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परख नही कर सकते।"

अनुभूति या काव्यानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने माना है कि अनुभूति या भावना ही काव्य का प्रेरक तत्व है (प्रेरक या मूल उपादान?), उसकी मूलभूत सत्ता है। कल्पना अनुभूति का क्रियाशील रूप है।····कल्पना का मूलस्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है—काव्य की रूपात्मक अभिव्यंजना। वह वस्तु जो कल्पना के विविध अंगों और मानस छवियों का नियमन और एकान्वयन करती है—अनुभूति कहलाती है। इस भावना-अनुभूति में मानव व्यक्तित्व और मानवता ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते हैं जिनसे काव्य में मूल्य और महत्व की प्रतिष्ठा होती है।

"अनुभूति के संघटक तत्व है—उनके अनुसार (क) अनुभव-गोचर विषय (ख) विषयी या आत्मा (ग) विषयी और विषय के संघात से उत्पन्न संवेदन। इन संघटक तत्वों के कारण अनुभूति के स्वरूप और वैशिष्ट्य में असंख्य भेदों का होना स्वाभाविक है, परन्तु

---

१. शुक्लजी ने स्पष्ट कहा है कि राम के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं को रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं।

काव्यात्मक अनुभूति अत्यन्त उच्च स्तर का अनुभव है, अतः वह समरस और समरूप की सूचना करती है। उसमें देश और काल के अनुरूप परिवर्तनशीलता का तत्त्व भी सूचित करता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुसार उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्राएँ रहती हैं।"

वाजपेयीजी अपने वैचारिक क्रम में धीरे-धीरे भारतीय रससिद्धान्त की ओर आकृष्ट होते गए। इसीलिए उन्होंने रससिद्धान्त की प्रक्रिया का साक्ष्य देते हुए यह कहा है कि साहित्य मात्र के मूल में अनुभूति या भावना ही कार्य करती है। काव्य में प्रत्येक पात्र की अनुभूति में रचयिता की ही अनुभूति काम करती रहती है—अतः काव्य में समग्र अनुभूति में सौंदर्य-बोध या रसबोध होता रहता है—नैतिक-अनैतिक के व्यावहारिक संस्कार से उसका विभाजन कर केवल नैतिक अनुभूति में नहीं। उनकी दृष्टि में काव्य की सम्पूर्ण विविधता में एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। "संपूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है, वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।"

वाजपेयीजी ने अनुभूति के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रसिद्ध भाववादी चिंतक क्रोचे तथा रसवादी भारतीय आचार्यों का साक्ष्य देते हुए कहा है कि अनुभूति काव्यानुभूति—समरस और समरूप होती है, वह किसी प्रकार का, देश-काल व्यक्ति का भेद नहीं जानती, वह सार्वजनीन और सार्वभौम होती है। क्रोचे के स्वर-में-स्वर मिलाते हुए वे कहते हैं कि वह अनुभूति अनुभूति ही नहीं है जो अभिव्यक्ति न हो और वह अभिव्यक्ति अभिव्यक्ति नहीं है—जो काव्य न हो। भारतीय आचार्यों ने भी दार्शनिक स्तर पर यह सिद्ध किया है कि रसात्मक अनुभूति अखण्ड, निरवयव तथा विगलित वेद्यान्तर है।

भाववादी या स्वच्छंदतावादी चिन्तकों के साथ वाजपेयीजी यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, वह स्वायत्त है, फिर भी वे मानते हैं—"यह सत्ता जीवन सापेक्ष है। जीवन निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रांति है, जीवन सापेक्ष कला के लिए कला सिद्धान्त है।" ऐसा कहते हुए वे पश्चिमी भाववादी कलाचिन्तकों के जीवन निरपेक्ष अतिवादी सीमाओं से अपने को मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार एक ओर वे इस रसात्मक काव्यानुभूति को जीवन सापेक्ष कहकर जहाँ पश्चिमी भाववादी अतियों से अपने को मुक्त करते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर जीवन और काव्य के मध्यकालीन बँधे ढाँचे से उसे उन्मुक्त कर 'प्रबन्ध' से 'प्रगीत' के सौन्दर्यमय धरातल पर उतार लाते हैं। जहाँ शुक्लजी प्रबन्ध में रस का सर्वोत्तम परिपाक मानते थे, वहाँ वाजपेयीजी प्रगीत में ही रस की अपेक्षाकृत निरवद्य स्थिति घोषित करते हैं। उन्हें प्रबन्धांतर्वर्ती रस में छिलके और रेशों की संभावना रहती है, पर प्रगीत में इन सब अनावश्यक बाधकों से रहित रस-ही-रस की स्थिति मानते हैं।

समीक्षक कभी-कभी मूल्यांकन भी करने लगता है और मूल्यांकन की बात उठते ही उसकी दृष्टि काव्येतर जीवन-मूल्यों की ओर चली जाती है। वाजपेयीजी महादेवी के

काव्य के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हैं—"साहित्यिक रचना का एकदम स्वतंत्र मूल्य है अथवा उसके सामाजिक संपर्क और प्रभाव में है? और यदि साहित्य सामाजिक और वास्तविक जीवनस्रोत से अपना रस ग्रहण करना छोड़ देता है तब केवल कल्पना या वैयक्तिक संवेदना की भूमि पर की गई रचना का साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार आँका जाय?" निष्कर्ष यह कि कृति के मूल्यांकन में कलात्मक सौंदर्य के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य भी है। वाजपेयीजी अपने शुद्ध समीक्षक रूप में काव्य की एक ही सीमा और एक ही प्रतिमान और मूल्य की घोषणा करते हैं और वह है—सौंदर्य, पर मूल्यांकन-कर्ता के रूप में उन्हें कुछ और भी सोचना पड़ा है।

वाजपेयीजी के उक्त प्रश्न के साक्ष्य पर कुछ लोग उनके समीक्षक व्यक्तित्व के विक-सित होने की बात सोचते हैं। यदि समीक्षक में मूल्यांकन भी निहित हो, तो सोचा जा सकता है। सोचने वालों में "हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी" के बाद की समीक्षात्मक कृतियों में उनके विकसित समीक्षक का दर्शन किया है—जहाँ उनकी दृष्टि काव्य-मूल्य के साथ-साथ काव्ये-तर मूल्यों की भी अनिवार्यता पर चली गई है।

वास्तव में स्वच्छंदतावादी समीक्षक वाजपेयीजी की 'दृष्टि' में साहित्य का सर्वाति-शायी और एकमात्र प्रतिमान 'सौंदर्य' ही है, पर जैसे रसवादी भारतीय आचार्य 'रस' को काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान मानते हुए भी उसके व्यंजक उपकरणों में 'औचित्य' का निर्वाह अनिवार्य मानते थे, वैसे ही वाजपेयीजी भी मानते हैं कि कलाकार को मानस सौंदर्य की व्यंजना के लिए 'समुन्नत' होना चाहिए। यह समुन्नति सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों, वैचारिक रश्मियों, जीवन के समुचित पक्षों से संवलित होने पर ही संभव होती है। रसवादी आचार्यों ने भी 'औचित्य' को रस की परा उपनिषद् कहा था और कहा था वह सामाजिकता का ही दूसरा नाम है। सौंदर्यदर्शी कवि की मानस अभिव्यंजना में ये सब तत्व गल-पचकर समरस हो गए रहते हैं—पृथक् से अपनी उद्रिक्तता प्रदर्शित नहीं करते। वाजपेयीजी ने 'नई समीक्षा' शीर्षक लेख में शुक्ल प्रस्थान से स्वयं के प्रस्थान का पार्थक्य स्पष्ट करते हुए कहा है—"भार-तीय रस सिद्धान्त को उन्होंने मुख्य समीक्षा सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द पक्ष पर, उसके संवेदनात्मक पक्ष पर—उनकी निगाह नहीं गई। साहित्य समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देने वाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस संबंधी उनकी व्याख्या भावव्यंजना या अनुभूति पर आश्रित न होकर एक नैतिक और लोकवादी आधार का अवलम्बन लेती है।" शुक्लजी की प्रायोगिक समीक्षाओं में उनका यह मंतव्य बहुत स्पष्ट है। यदि नैतिकता की अपेक्षा संवेदना पक्ष पर अधिक बल होता तो भावनामय सूर के प्रति शुक्लजी वह मत न व्यक्त करते, जो कर गए हैं। उन्हें गोपियों का विरह बैठे-ठाले का धन्धा न लगता। वाजपेयी-जी की दृष्टि में—"काव्य की रसात्मकता का अर्थ है—उसकी लोकोत्तर भावनामयता। रस का आनन्द अलौकिक आनंद इसी अर्थ में है कि वह नैतिक और व्यावहारिक भावभूमियों को आत्मसात् कर भी उनके परे पहुँच जाता है।" इस 'परे पहुँच जाने वाले पर्यवसित रसा-त्मकता या सौंदर्य' के अभिव्यंजक भावात्मक उपकरण को 'उनकी काव्यदृष्टि' दो भावों में

बाँटते हैं—सुन्दर और कुरूप। शुक्लजी कहते हैं—'सुन्दर और कुरूप' काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भवबन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है, पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती, वह उधर देखता है जिधर सौंदर्य दिखाई पड़ता है।" (कविता क्या है?) ... "काव्य में कुरूपता का अब स्थान सौंदर्य की पूर्ण की और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए" (वही)। इस प्रकार यद्यपि इन निरूपणों में शुक्लजी कुछ सचेत हैं, फिर भी शुक्लजी रसानुभूति में कोटियाँ (तीन) स्वीकार करते हैं, उसकी सर्वथा आनन्दमयता अस्वीकार करते हैं। साथ ही स्थापना करते हैं कि रसानुभूति व्यवहार दशा और व्यवहारेतर काव्यनाट्य—सर्वत्र संभव है, क्योंकि वह एक नैतिक और सात्त्विक मानवीय मनोदशा ही है। इसीलिए शुक्लजी रसात्मकता को साध्य नहीं, साधन ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में मनोवृत्ति के रसात्मक होने का अर्थ है—रागात्मक सत्ता का विस्तार, लोकहृदय का स्पर्श अथवा उससे व्यक्ति सत्ता का सामरस्य। इस मनःस्थिति से ही उनकी दृष्टि में मानव-मानस में निहित मानवीय संभावना चरितार्थ हो सकती है और मनुष्य अपना सर्वोत्तम मूल्य (मानवता की उपलब्धि) पा सकता है। विपरीत इन मान्यताओं के वाजपेयीजी 'बुद्धिवाद' को 'अधूरी दृष्टि' और 'वैदिक दर्शन' को 'समग्र जीवन दृष्टि' मानते हैं—इसीलिए वे काव्यानुभूति को सर्वथा आनन्दमय अखण्ड और साध्य बताते हैं।

जिसने अंतःसत्ता की तदाकार परिणति को सौंदर्यानुभूति कहा है—उसने अभिनवगुप्त के 'तन्मयीभवन' का रूपान्तर अनायास किया है और वे हैं—शुक्लजी। तन्मयीभवन 'संवाद' के नाम से जाना जाता है। जो कृति जितने ही व्यापक देश कालान्तर्वर्ती व्यक्ति के मनोजगत् में 'संवाद' जगा पाती है—वह उतनी महान् मानी जाती है। कभी-कभी पाठक या श्रोता जो (Here, Here) कहकर चिल्ला उठते हैं—वह 'संवाद' के ही कारण। इस 'संवाद' में 'क्रमागत' और 'अर्जित' उभयविध संस्कार से आकल्प्य होना चाहिए। प्राचीन आचार्यों ने इन्हें ही 'तदानीन्तन' और 'इदानीन्तन' वासना कहा है। इस मनोजगत् के संस्कार असामाजिक या व्यक्तिगत भी हो सकते हैं और समाज तथा राष्ट्रानुमोदित भी। साहित्य चूँकि सामाजिक कृति है—अतः उसका मनोजगत् के समाजानुमोदित तथा राष्ट्रानुमोदित संस्कार से ही संवाद होता है और होना भी चाहिए। यही संवाद सौंदर्यानुभूति है—जो रसात्मक परिणति लेती है। वाजपेयीजी इसी चिन्ताधारा के अनुरूप काव्य को जीवन और जगत् से, समाज और राष्ट्र से संबद्ध देखना चाहते हैं। भारत की राष्ट्रीयता इतनी विशाल और व्यापक है कि उससे अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध हो ही नहीं सकता। सनातन और चिरन्तन से अविरोधी अद्यतन का चित्रण ही सिद्ध कवि की पहचान है। यही कारण है कि वाजपेयी-

भी इस काव्यधारा को अविसंवादी मानकर अग्राह्य घोषित करते हैं—जो अराष्ट्रीय तथा असामाजिक अथवा नितान्त वैयक्तिक होती है। ऐसी रचनाएँ पाठक को परेशान कर सकती हैं, परन्तु 'संवाद', 'तन्मयीभवन', अथवा 'सौंदर्य-संवेदन' के समुन्नत धरातल पर पाठक को प्रतिष्ठित नहीं कर सकतीं।

एक बात और। काव्य का अपना स्वायत्त मूल्य यही 'संवाद', 'तन्मयीभवन' या 'सौंदर्य संवेदन' है और इसकी प्रकाशक सामग्री में काव्येतर मूल्य है—सामाजिक या अन्य राष्ट्रानुमोदित मानव मूल्य। समीक्षक की समीक्षण-प्रक्रिया में यदि काव्य-मूल्य हावी रहा और अपने तारतमिक अनुपात में काव्येतर मूल्य विवेचित होता रहा—तब तो वह संतुलित समीक्षक की भूमिका निभा सकता है—अन्यथा यदि उसकी दृष्टि काव्येतर मूल्यों पर ही केन्द्रित हो गई तो वह समीक्षक नहीं, उससे कुछ भिन्न अर्थात् मूल्यांकनकर्त्ता हो रह जायगा।

काव्य-मूल्य के साथ-साथ ज्यों-ज्यों काव्येतर मूल्यों की ओर से वाजपेयीजी सचेत होते गये त्यों-त्यों रोमेण्टिक समीक्षक होते हुए भी उन्होंने अपना प्रस्थान उन कलावादियों और सौंदर्यवादियों से पृथक् कर लिया जो कला को जीवन और समाज से धीरे-धीरे काटकर अलग हो जाते हैं। साथ ही, वे उन मार्क्सवादी चिन्तकों से भी अपने को पृथक् कर लेते हैं जो सामाजिक विकास क्रम में आर्थिक व्यवस्था को मूलाधार मानकर साहित्य तथा अन्य उपकरणों को उसका अनुवर्ती सिद्ध करते हैं, साथ ही जो काव्य और कलाओं को समय-विशेष की वर्गीय स्थिति में बाँध कर अवमूल्यन करते हैं।

वाजपेयीजी साहित्य, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का काव्य-सामग्री में होना समुचित सौंदर्यबोध के लिए अनिवार्य मानते हैं—इसीलिए मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टिकोण से अपने दृष्टिकोण का पार्थक्य निरूपित करते हुए उन्होंने कहा है—"राष्ट्र और जातियाँ किसी मतवाद के बल पर खड़ी नहीं होतीं, वे खड़ी होती हैं अपनी आन्तरिक चेतना, सहानुभूति और प्रयत्नों के बल पर।" × × × यह समझना निरी भ्रांति है कि मार्क्सदर्शन या मार्क्सीय विचार-पद्धति हमें जीवन की कोई अनुपम दृष्टि देती है और सत्य का सीधा साक्षात्कार कराती है। भारतीय तत्त्वचिंतन और विचार-विधियों की अपसारिता कर एक नई पद्धति को प्रतिष्ठित करना भारतीय जनगण की सांस्कृतिक परंपरा का अपमान करना भी है। आज हमारे साहित्यिक मानदण्ड इसी खूँटी से बँधे होने के कारण अतिशय सीमित और संकीर्ण हो उठे हैं।" × × निश्चय ही हमारी यह प्रतिक्रिया हिंदी साहित्य के अन्तर्गत चलने वाले प्रगतिवादी आंदोलन के प्रति है। वाजपेयीजी इस दर्शन के अभारतीय स्वर से असहमत रहकर भी यह स्वीकार करते हैं कि इस आंदोलन ने हमें दो उपादेय तथ्य भी दी है—एक यह कि काव्य साहित्य का संबंध सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान् है और उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितनी दूर होगा, उतना ही वह काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा।

काव्येतर सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल उभरने वाले साहित्यिक मूल्यों पर बल देने के कारण ही वाजपेयीजी उस काव्यांदोलन का भी स्वागत न कर सके जो कभी-कभी नितान्त वैयक्तिक होकर प्रयोग परीक्षण के रूप में चल रहे वैज्ञानिक मान्यताओं में अपनी 'दृष्टि' बाँधकर मन की अतल गहराइयों में निहित स्वप्न-सत्य को साहित्यिक अभिव्यक्ति समझ रहा था और उसे टेढ़ी-सीधी लकीरों से व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा था। साथ ही 'धर्मयुग' में प्रकाशित उनके अंतिम दौर के साहित्यिक लेख और उसमें निहित प्रशंसा के स्वर यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि ये ही सर्जनशील प्रतिभाएँ जब विद्रोह के उफान से मुक्त हो गईं और 'परम्परा' के अनुरूप 'प्रयोग' से भारतीय राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना साहित्यिक अभिव्यक्ति करने लगी या जब-जब और जहाँ-जहाँ करने लगी तब वाजपेयी जी ने उन्हें मान्यता भी दी।

(ख) उक्त पंक्तियों के साक्ष्य पर 'वाजपेयी-प्रस्थान' के यत्किंचित् स्पष्टीकरण के अनन्तर संप्रति उनका 'रस विषयक दृष्टिकोण' अपने स्पष्टीकरण के लिए आमंत्रित है। वाजपेयीजी की कृतियों से जो रस विषयक लेख या उद्धरण यहाँ एकत्र किए गए हैं—उनसे स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि धीरे-धीरे वाजपेयीजी की आस्था 'रस सिद्धान्त' के प्रति पर्याप्त सुदृढ़ हो गई।

वाजपेयीजी अपना 'प्रस्थान' लेकर जिस प्रवाह में आ खड़े हुए, वह रचना की दृष्टि से स्वच्छंदतावादी प्रवाह था। रचना और आलोचना समानान्तर रूप से प्रवाहित होती है अतः रचना के अनुरूप रचना के भीतर से ऐसे मानदण्ड के उभारने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो तब तक के साहित्य पर अपना संचार करा सकने में समर्थ हो। भारतीय साहित्यिक चेतना के साथ तादात्म्यापन्न होकर उन्होंने बड़ी गहराई से 'रस सिद्धान्त' की संभावनाओं का साक्षात्कार किया और अनुभव किया कि समानान्तर प्रवाहित रचना-धारा उस मानदण्ड पर विश्लेषित की जा सकती है। उन्होंने अनुभव किया कि जब क्रियामात्र का प्रेरक 'भाव' या 'मनोवेग' है तब 'काव्यक्रिया' इससे शून्य कैसे हो सकती है, फिर रोमैण्टिक भावधारा के संदर्भ में अवश्य-भावधारा के स्वतः स्फूर्तप्रवाह में कवित्व का दर्शन करने वाली अंतश्चेतना काव्य में भावाधृत रससिद्धान्त का समर्थन न करेगी तो करेगी क्या? यह उसकी अनिवार्यता भी थी।

पर जहाँ रससिद्धान्त के समर्थन की एक ओर अनिवार्यता और सहज संभावना थी, वहीं दूसरी ओर उसके परिष्कार और विस्तार की (उसकी संभावनाओं के भीतर से) आवश्यकता भी थी। यह स्वच्छंदतावादी आन्दोलन भारतीयता या राष्ट्रीयता या भारतीय राष्ट्रीय परम्परा का विरोधी नहीं था, विपरीत इसके 'नवजागरण' में जो भारतीय आध्यात्मिक प्रेरणा आत्मस्थानीय थी उसे इस आन्दोलन ने भी शिरसा स्वीकार किया था। इसका विरोध था, उस रूढ़ निर्मोक या केंचुल से जो इस पर इस प्रकार हावी हो गया था कि उसमें न केवल रससिद्धान्त की मूल धारणा तिरोहित हो गई थी, वरन् उसके तिरोहित होने से उसकी संभावनाएँ भी आच्छन्न हो गई थीं। नवजागरण के आन्दोलन ने मध्यकालीन रूढ़ियों से राष्ट्रीय चेतना की ताजगी और उसकी सर्जनशील संभावनाओं का साक्षात्कार कराया।

बात यह है कि मध्यकाल का रीतिवादी प्रवाह 'प्रतिभा' की जगह 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' पर बल देता था। 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' पूर्व निर्धारित प्रतिमानों से संबंध स्थिर कर लेते हैं। रीतिकाल की अधिकांश विशिष्ट व्युत्पन्न प्रतिभाएँ दरबारों में सिमट गई थीं। इन सब कारणों से साहित्य का प्रवाह प्रचुर मात्रा में दरबारी मानसिकता से जुड़ गया था, रियाज का प्रदर्शन करने में लग गया था—तेली के बैल के मानिंद एक ही परिधि में घूमने लग गया था। समाज के एक बड़े भाग की मानसिकता उससे कट गई थी। इस प्रकार यह भावधारा आवृत्त होकर निर्जीव होने लगी थी। इसलिए इस ढाँचे का ढला 'रसवाद' खुली सामाजिकता, जीवन और जगत् से संबद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त पड़ने लगा था। साथ ही इस समय तक साहित्य पद्यात्मक प्रचुर था जिसमें स्वभावतः आपेक्षिक रूप से वर्तमान से पीछे रहा जाता है। वाजपेयी जी तक गद्यसाहित्य ने अपनी पर्याप्त समृद्धि प्राप्त कर ली थी। गद्य साहित्य में व्यक्त आदर्श की जगह गद्य में 'वर्तमान', 'यथार्थ' अधिक मुखर होता है और कथा साहित्य के माध्यम से अधिक मुखर भी होने लग गया था। रस सिद्धान्त का इस साहित्य पर किस प्रकार संचार किया जाय—इसकी चिंता शुक्लजी को ही हो गई थी। काव्यरूप की दृष्टि से 'प्रबन्ध' के पक्षकार शुक्लजी अपेक्षा 'प्रगीत' के पक्षधर वाजपेयीजी को रससिद्धान्त के संचार की यहाँ भी चिंता थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने प्रतिष्ठापित किया कि प्रबन्ध की अपेक्षा प्रगीत में रस-धारा का छिलका रेशा रहित आस्वाद होता है। सब कुछ कहने का अभिप्राय यह कि क्रमागत तथा रीतिकालीन रूढ़ियों के घेरे में आकार ग्रहण करने वाले रससिद्धान्त पुनः विचार करने की आवश्यकता विवेचकों को महसूस हुई। एक तो जैसा कि ऊपर कहा गया कि पुरातन काव्यरूपों की अपेक्षा नई अनुभूति से नए काव्यरूप फूट रहे थे। दूसरे यह कि काव्यगत वस्तुवैविध्य का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था। तीसरे यह कि भावोत्तेजक सामग्री के ग्रहण की दृष्टि भी बदलती जा रही थी। चौथे आदर्श एवं जीवन-मूल्यों में तेजी से परिवर्तन होता जा रहा था। परिवर्तन पहले भी होता था, परिवर्तन अब भी हो रहा था—हो रहा है, पर पहले का परिवर्तन इतनी धीमी गति से होता था कि वह असंलक्ष्य क्रम था, आधुनिककाल का परिवर्तन छलाँग मारता हुआ आ रहा है। इसलिए इसे 'पुरातन' से काट कर कभी-कभी 'नया' कहने का उपक्रम भी हुआ है। इस 'विच्छेद' वादी प्रवृत्ति ने साहित्य को काफी नुकसान पहुँचाया है। पाँचवें साहित्य का संबंध जिस सामाजिक चेतना से है—वह भी बदल रही थी—ये सब बातें 'रस' के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन की मांग कर रही थीं अथवा उसकी अपर्याप्तता को चुनौती दे रही थीं। यही कारण है कि शुक्लजी तथा वाजपेयीजी रस के स्वरूप को व्यापक रूप में परिभाषित कर रहे थे। शुक्लजी ने 'रस' को मानवीय मनोवृत्ति का पर्याय बना दिया और इस बात पर बल दिया कि यदि काव्य मानव की कृति है तो उसकी प्रेरक धुरी मानवीयता होनी चाहिए। वाजपेयी जी ने अपनी विवेचनाओं में साफ कहा कि 'सौंदर्य संवेदनशील' 'स्वतंत्र' आनन्द ये प्रमुख [illegible] नाम रस है। अब वे झुंझलाकर कहते हैं—आखिर काव्य का रस है क्या? वह मानव मात्र वह आनन्दात्मक प्रतिक्रिया है जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़ कर उसे उपलब्ध होती है"... "रस तो काव्यानुभूति

का दूसरा नाम है'' 'संपूर्ण काव्य किसी रस (रचयिता की अनुभूति) को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।" वाजपेयीजी नाट्यरूप को ध्यान में रख कर पश्चिम के 'कथानक वाद' और 'चरित्रवाद' का विरोध करते हुए कहते हैं—'आज भी भारतीय नाट्य-व्याख्या ही अधिक तात्त्विक और तथ्यपूर्ण कही जा सकती है। नाटक में चरित्र-चित्रण और स्वभाव-निरूपण अन्ततः साधन ही है, साध्य नहीं। मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य की सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण कितना ही मार्मिक क्यों न हो, काव्य में वस्तुचित्र मात्र है। वह काव्योपयोगी तभी होगा, जब कवि या नाटककार की मूलवर्ती भावसत्ता या कला का अंग बनकर आये—काव्य में अन्तर्मुक्त हो जाय। मानव प्रकृति की यथार्थवादी खोज अन्ततः विज्ञान का विषय है। पश्चिमी विचारक भले ही उसे काव्य के लिए सब कुछ मान लें, परन्तु वह सारी मार्मिकता और वैज्ञानिकता कविकल्पना (जो अनुभूति या काव्यानुभूति का क्रिया-त्मक रूप है) का समुचित अंग न होने पर निरी निरर्थक भी हो सकती है—इस अनिवार्य तथ्य को भी स्वीकार करना होगा'' 'अन्त में यही सिद्ध होता है कि कविकल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है और वस्तु तथा चरित्र-चित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन मात्र हैं। यदि कवि की कल्पना पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगाया जा सकता, तो वस्तु और चरित्र की कोई सुनिश्चित रूपरेखा भी निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः वस्तु और चरित्र की अपेक्षा रस अथवा भावानुभूति को प्रमुख तत्त्व मानना साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा संगत है"—(जयशंकर प्रसाद १४५-१४७)। इतना बड़ा उद्धरण देकर मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि वाजपेयीजी ने इस वक्तव्य के माध्यम से समस्त अद्यतन नई यथार्थपरक चेतना, विविध काव्यरूप, कवि-मानस गत रसेतर अन्य कृतियों की असाहित्यिकता सब का ध्यान रखते हुए बड़े जोरदार ढंग से स्थापना दी कि काव्यानुभूति—भावात्मक-सत्ता ही रसानुभूति है और सर्वथा साध्य तथा समुत्कृष्ट वही है। यदि काव्यकार के सर्जनाप्रवण मानस में रसेतर इतर चित्त वृत्ति उद्रिक्त हो जाती है और उसका समूचा प्रतिभ सुरम्य, कल्पनात्मक प्रयास—उसी पर केन्द्रित हो जाता है—तो होने को या हुए को अन्यथा तो नहीं किया जा सकता किन्तु वह साहित्यिक दृष्टि से साध्य-तत्त्व की अवहेलना है।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि काव्य वहीं रसात्मक हो सकता है जहाँ बीजरूप में कवि की मनोवृत्ति स्वयं रसात्मक हो। पर सर्जक सर्वथा और सर्वदा रसात्मक मनोवृत्ति में काव्य करता तो काव्य के रसेतर ध्वनिकाव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य कैसे होते? चरित्र और घटनाप्रधान काव्य कैसे होते? 'यथार्थ' के चित्रण को साध्य बनाने वाले यथार्थ यथार्थपर रचनाएँ काव्य क्यों होती? काव्य की परिधि में ये रूप कैसे आते? अथवा इन पर रस का संचार कैसे हो सकेगा?—वाजपेयीजी से सहमत-असहमत होना अलग बात है, पर उन्होंने अपना पक्ष बड़ी दृढ़ता से ऊपर के उद्धरण में इन सब को अकाव्यात्मक कहते हुए कर दिया है। ऐसी बात नहीं कि इनमें काव्य की सामग्री नहीं है, है; परन्तु जो तारतम्य सामंजस्य, सामरस्य और साध्य-साधन के आनुरूप्य निर्वाह का औचित्य है—वह अस्तव्यस्त है। काव्य

की दिशा में रसेतर तत्त्वों को साध्यरूप में प्रस्तुत करने वाली कृतियों को 'प्रयास' कहलें और रसात्मक मनःस्थिति को साध्य रूप में प्रस्तुत करने वाली कृतियों को 'परिपाक' कहलें—तो वाजपेयीजी की दृष्टि में कह सकते हैं।

रस के इस व्यापक रूप को देखकर कुछ आक्षेपकर यह कहते हैं कि उक्त आलोक में 'रस' का स्वरूप यदि निर्धारित किया जाय, तब तो यह मानना पड़ेगा कि 'रसस्वरूप' विषयक क्रमागत भारतीय धारणा का सर्वथा अन्यथा भाव ही हो गया। इसीलिए कभी-कभी वाजपेयी-जी के रससिद्धान्त के विषय में निम्नलिखित तीन विकल्प खड़े किए जा सकते हैं? यहाँ—

(क) रस शब्द भारतीय प्राचीन रसवादी परम्परा से भिन्न अर्थ दिया गया है?

अथवा (ख) मध्यकालीन विजड़ित रूप का परिष्कार किया गया है?

अथवा (ग) आनंदवर्धन का युगोचित भूमिका पर अनुवाद है?

इन तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प वाजपेयीजी के वक्तव्यों के साक्ष्य पर सर्वथा अग्राह्य हो जाता है। वे स्वयम् कहते हैं—'रस' शब्द भारतीय साहित्य शास्त्र का बहुप्रचलित और सर्वविदित शब्द है। प्रायः ढाई हजार वर्षों से इस शब्द का अनेकानेक ग्रन्थों में प्रयोग होता आ रहा है। इस अत्यंत दीर्घकालावधि में प्रयुक्त इस शब्द का महत्त्व अकेले इस बात से ही सिद्ध हो जाता है कि आज तक इसके प्रयोग में किसी प्रकार की कमी नहीं आई, बल्कि इसके स्वरूप के संबंध में विद्वानों और मनीषियों के नित्य नवीन विचार उन्मीलित होते रहते हैं। जहाँ एक ओर इस शब्द से 'रस' शब्द की महाप्राणता सिद्ध होती है वहीं इसके वास्तविक स्वरूप-निर्धारण में मतमतान्तर भी बढ़ते जाते हैं और व्याख्याओं का एक जगत् ही निर्मित होता जाता है। वर्तमान समय में काव्य में रस की स्थिति के विषय को लेकर अनेक चिन्त्य धारणाएँ व्यक्त की जा रही हैं—जिनमें से प्रमुख यह है कि काव्य में रस की संस्थिति ही नहीं होती। यद्यपि सभी प्रबुद्ध विचारक इस प्रकार के निर्देश को अस्वीकार करते हैं, परन्तु इस प्रकार की धारणाओं का निर्मित होना भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का ऐसा असाधारण प्रत्याख्यान है—जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे इस निबन्ध का एक लक्ष्य यह भी है कि रस के स्वरूप के ज्ञान से एक ऐसा रसांजन निर्मित किया जाय जो नए काव्यद्रष्टाओं के लिए 'नयनअमिय दृगदोष विभंजन' का काम भी कर सके। स्पष्ट है कि इस बृहद् व्याख्यान से उनकी स्पष्ट प्रतिज्ञा है—भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा की रक्षा, न कि 'रस' शब्द को परम्परा विच्छिन्न अर्थप्रदान कराना। 'राष्ट्रभाषा की समस्याएँ' शीर्षक कृति में एक लेख है जहाँ उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-मतों का उपस्थापन करते हुए यह स्पष्ट बताया है कि भारतीय तत्त्वज्ञान ही अधिक पुष्ट है। इन वक्तव्यों के आलोक में इतना तो स्पष्ट है कि वाजपेयीजी 'रस' शब्द को जो अर्थ दे रहे हैं वह 'भारतीय परम्परा विच्छिन्न' नहीं है।

इस पर भी प्रथम विकल्प का प्रेत शांत नहीं होता। कारण, वाजपेयीजी ने 'जयशंकर प्रसाद' में कहा है—'यदि पश्चिमी आचार्यों ने काव्य में कल्पना की अवास्तविक और अबाध उड़ानों के लिए जगह छोड़ दी है तो दूसरी ओर भारतीय भावसत्ता के आग्रह में भी 'जीवन और

जगत् की वास्तविक गतिविधि और यथार्थ मानव व्यवहार की उपेक्षा की भी पूरी संभावना रह गई है। वास्तव में पद्धतिबद्ध भाव-निरूपण का ही हम रीतिकालीन शृंगारिक कविता में पाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्य धारणाएँ पूर्णतः अव्याहृत नहीं हैं. . ." लगता है जैसे इस वक्तव्य द्वारा वाजपेयीजी भारतीय धारणा को अपर्याप्त और अव्यावहत मानते हैं और नया अर्थ देने का संकल्प कर रहे हों। उनका मत है कि 'कोई भी काव्य-सिद्धान्त अपने में अकाट्य नहीं होता।

लेकिन इसी 'जयशंकर प्रसाद' में बिलकुल इसी प्रघट्टक के बाद दूसरे प्रघट्टक में वे कहते हैं—"अस्तु, भारतीय धारणा के अनुसार भाव-निरूपण के लिए ही वस्तु-निरूपण किया जाता है। वस्तु के स्वतंत्र चित्रण के लिए काव्य में अधिक अवकाश नहीं रहता, क्योंकि रस निष्पत्ति काव्य का प्रमुख लक्ष्य होती है। भारतीय आचार्यों ने काव्य का विभाव पक्ष और भाव पक्ष अवश्य माना है, पर विभाव और भाव—दोनों ही काव्य में रस का संचार करने के लिए होते हैं। विभाव के अन्तर्गत बाह्य जगत् (आलम्बन के रूप में) और प्रकृति की सत्ता (उद्दीपन रूप में) आ जाती है और इन दोनों के अतिरिक्त कोई वर्णनीय वस्तु हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अनुभाव और संचारियों के अन्तर्गत मनुष्य की संपूर्ण भावात्मक सत्ता का समावेश हो जाता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से रस के अंगों का निरूपण अपने में पूर्ण और अकाट्य है तथा उसमें किसी प्रकार की अव्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं पाई जाती। इस लम्बे उद्धरण से नितान्त स्पष्ट होते विलम्ब भी लगता कि वाजपेयीजी के इस परवर्ती उद्धरण में भारतीय आचार्यों का अनुवाद ही श्रुतिगोचर होता है। ठीक यही आशय 'दशरूपक' के धनंजय कहते है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद् वाऽप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्नरसभावमुपैति लोके।

अर्थात् इस लोक में रमणीय, जुगुप्सित, उदार-नीच, उग्र-मृदु, गहन-विकृत चाहे जैसी भी वस्तु हो या व्यवहार जगत् में वह वस्तु न भी हो—कवि और भावक की कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभा का विषय बनकर रसमय हो जाती है। निष्कर्ष यह कि लोक में ऐसा कुछ भी नहीं है जो कवि की कल्पना का स्पर्श पाकर रसमय न हो जाय। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने भी अपने ध्वन्यालोक में स्पष्ट कहा है—'यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्य प्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तु संस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वांगत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्ति विशेष हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तुकिंचिद्यन्न चित्तवृत्ति विशेषमुपजनयति तदनुत्पादेन वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्।' (ध्वन्यालोक तृ० उ०) अर्थात् काव्य का ऐसा कोई भी प्रकार हो नहीं सकता, जहाँ रस का विषय न हो। कारण, काव्यमात्र में किसी-न-किसी वस्तु का संस्पर्श तो होगा और

वस्तुमात्र, जो संसार में है—किसी-न-किसी रस या भाव का अंग होगी ही, न कुछ होगी, तो विभाव तो होगी ही, किसी-न-किसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया तो उत्पन्न करेगी ही और यही मनोवृत्ति या चित्तवृत्ति रस है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो चित्तवृत्ति न पैदा करे और जो इसमें समर्थ होगी नहीं, ऐसी वस्तु को कवि अपने वर्णन का विषय ही क्यों बनायेगा ? इस प्रकार इन उद्धरणों में 'रस विषयक' बड़ी ही व्यापक धारणा है। वाजपेयीजी के उक्त उद्धरणों में स्पष्ट ही इन उद्धरणों का अनुवाद है। वे रीतिकालीन 'परिपाटीबद्ध रस निरूपण' का विरोध कर रहे थे, संभावनाओं से संवलित 'रस' सिद्धान्त का नहीं। राष्ट्रीय चेतना, वैदिक दृष्टि और भारतीय समाज की स्वस्थ मान्यताओं के प्रति आस्था रखने वाला चिन्तक रस संबंधी भारतीय परंपरा का खण्डन नहीं, अनुनाद कर रहा है। हाँ, मध्यकाल में जो अनावश्यक रूढ़ियाँ निर्मोक बनकर उस पर छा गई थीं—उनका खण्डन अवश्य किया है।

—ई-१, विश्वविद्यालय आवास,
कोठी रोड,
उज्जैन (म० प्र०)

●

देशज शब्दावली

कैलाशचन्द्र भाटिया

◎ ◎

स्रोत की दृष्टि से हिन्दी शब्दावली का जो मोटा विभाजन—तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी के रूप में किया जाता है, उसमें देशी/देशज अवश्य सम्मिलित किया जाता है। इस विभाजन में कोई-कोई भाषाविद् अर्द्धतत्सम भी सम्मिलित करते हैं। इधर अन्य नाम तथा वर्ग भी जोड़ लिए गए हैं पर जहाँ तक देशी और/अथवा देशज का संबंध है इसकी स्थिति अनिवार्य रूप से विद्यमान है। यहाँ विवेच्य बात यह है कि 'देशी' तथा 'देशज' से क्या तात्पर्य है? क्या इन दोनों में भिन्नता है अथवा एक ही वर्ग के दो नाम हैं?

'देशी' का शाब्दिक अर्थ है—'देश का'। जो स्थानीय पदार्थ होते हैं उनकी संज्ञा भी 'देशी' से दी जाती है। यहाँ भाषिक सन्दर्भ में विवेचन किया जा रहा है अतएव इसका अर्थ होगा 'देश की भाषा'। अगर व्युत्पत्तिपरक अर्थ को ही मान्यता दी जाए तो इस वर्ग में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं से गृहीत शब्दावली ही नहीं वरन् द्रविड़ परिवार की भाषाओं के शब्द भी समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार से जो भी शब्द विदेशी नहीं, वे देशी कहे जाने चाहिए। भारतीय भाषाविज्ञान की परंपरा में 'देशी' से भिन्न तथा सीमित अर्थ की व्यंजना प्राप्त होती है। एक प्रकार से सीमित अर्थ-व्यंजना 'जो शब्द न तो प्राचीन आर्य-भाषा से आए हैं और न विदेशी हैं' में ही 'देशी' का प्रयोग किया जाता है।

दूसरा बहुप्रयुक्त शब्द 'देशज' है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'देश से/में उत्पन्न'। यह शब्द पुराना नहीं है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए प्राचीन काल से दूसरे शब्द—देशी, देश्य, देशी प्रसिद्ध, देशीमत—ही अधिक चलते थे। इन शब्दों का प्रयोग 'शब्द' ही नहीं 'भाषा' के अर्थ में भी किया जाता था। इन शब्दों का प्रयोग व्यापक अर्थ में न होकर सीमित अर्थ में किया जाने लगा। यही कारण है कि वर्तमान भाषाविद् 'देशी' के स्थान पर 'देशज' का प्रयोग अधिक करने लगे जिससे भ्रान्ति से बचा जा सके।

प्रत्येक युग में व्याकरणसम्मत साहित्यिक भाषा से इतर जनसाधारण की भाषा को 'भाषा' या 'देसी' से अभिहित किया गया है। इसके लिए अन्य प्रचलित शब्द प्राकृत, पराकिर्त, अपभ्रष्ट, अवहट्ठ, अवहत्थ, अवहंस, अपभ्रंश, अवब्भंस, भाखा, देशीभाषा, देसी, देसभास, देसीवयणा, देसिलवयन, ग्रामगिरा आदि हैं। ये सभी शब्द अपने-अपने युग की तत्कालीन जनभाषा के द्योतक रहे। यहाँ भाषापरक विवेचन विषय-क्षेत्र में नहीं है।

'देशी' अथवा 'देशज' प्राय: दोनों शब्द शब्दार्थ की दृष्टि से किंचित् भिन्न होते हुए भी हिन्दी में समानार्थक हैं, जिसमें उस शब्दावली को समाहित किया जाता है जो अन्य प्राय: स्वीकृत कोटियों में नहीं आती। ऐतिहासिक दृष्टि से भरत के मतानुसार तत्सम और तद्भव से भिन्न शब्द देशी हैं। नाट्यशास्त्र १७।३ में इसका प्रयोग सर्वप्रथम किया गया है। इसके बाद भी 'देशभाषा' का प्रयोग 'ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा विकल्पनम्' नाट्यशास्त्र में मिलता है।

'देशी' वस्तुत: क्या है? इसकी संकल्पना निरन्तर बदलती रही। चण्ड के अनुसार संस्कृत और प्राकृत शब्दों से भिन्न शब्दों को देशी माना गया जिनको 'देशी प्रसिद्ध' कहा गया है। 'देशीप्रसिद्धं तच्चेदं हर्षितं' (प्राकृतलक्षण पृ० १)।

काव्यालंकार (६।२७) के रचयिता रुद्रट के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय-मूलक रचनाविहीन शब्द ही देशी हैं—

प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देशस्य।

इन परिभाषाओं में ही कुछ हेर-फेर होता रहा। संस्कृत में ही शताधिक ऐसे शब्द हैं जिन्हें आर्यभाषाओं से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। यह भी विचार है कि टवर्ग युक्त शब्द संस्कृतेतर हैं। समय-समय पर जो आर्येतर शब्द आते हैं, ये ही 'देशी' कहे गए। काफ़ी, प्रयत्न करने पर भी संस्कृत में देशी शब्द बने रहे। प्राकृत काल में अपेक्षाकृत इस प्रकार के शब्दों की संख्या बढ़ती गई। जनभाषा होने के कारण जनप्रचलित शब्दों का आ जाना स्वाभाविक था।

देशी शब्दों में किस प्रकार के शब्द माने जाने लगे इस संबंध में प्राकृत विद्वान् पिशेल का निम्नलिखित मत है—

१. संस्कृत के मूल तक पहुँचते हैं पर ठीक-ठीक अनुरूप नहीं होते, जैसे,
   पासो/ पासम् (आँख) अर्ध मागधी में पासइ। देशी० ६।७५
   तिव्वी—सुई—देशी० ७।२९
२. सामाजिक या संधियुक्त शब्द जिनके वर्तमान रूप को तोड़ना संभव नहीं, जैसे,
   अच्छिवडणम् (अक्षि+पतन)=आँखें बंद करना—देशी० १।३९
   सत्तविसंजोअणो (सप्तविंशति+द्योतन) चन्द्रमा—देशी० ८।२२
३. वे शब्द जो मूलत: संस्कृत नहीं हैं, जैसे,
   जोडम=कपाल, नक्षत्रम्—देशी० ३।४९
   तुप्पो=चुपड़ा हुआ—देशी० ५।२२
४. ध्वनि नियमों की विचित्रतायुक्त शब्द, जैसे,
   गहरो=गिद्ध—देशी० २।८४
   विहुणड्ओ=राहु—देशी० ७।६५

टिप्पणी—संस्कृत शब्द 'गृध्र:' से जो तद्भव शब्द विकसित हुए हैं वे हैं गिद्ध या गीध। ये दोनों रूप प्राकृतों में मिलते हैं।

पिशेल (पृ० १२-१३) के अनुसार देशी शब्दों में कुछ अनार्य शब्द भी आ गए हैं किन्तु बहुत अधिक शब्द मूल आर्यभाषा के शब्द-भंडार से हैं।

प्राकृतों के सर्वाधिक प्रसिद्ध कोश 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' की भूमिका में कहा गया है, "प्राकृत भाषाओं का जो भौगोलिक विभाग बताया गया है, ये तृतीय प्रकार के देशी शब्द उसी भौगोलिक विभाग से उत्पन्न हुए हैं। वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यदेश में प्रचलित वैदिक काल की प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई है। पंजाब और मध्यदेश के बाहर के अन्य प्रदेशों में उस समय आर्य लोगों की जो प्रादेशिक प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं उन्हीं से ये देशी शब्द गृहीत हुए हैं। यही कारण है कि वैदिक और संस्कृत साहित्य में देशी शब्दों के अनुरूप कोई शब्द नहीं पाया जाता है।"

"जिन शब्दों का संस्कृत के साथ कुछ भी सादृश्य नहीं है—कोई भी संबंध नहीं है, उनको 'देश्य' या 'देशी' बोला जाता है, यथा, अगय, आकासिय, इराव, ईस, उअचित्त, ऊसअ, एलविल, ओंदल आदि।" आगे चल कर भूमिका में लिखा गया है, "प्राकृत-वैयाकरणों ने इन समस्त देश्य शब्दों में अनेक नाम और धातुओं को संस्कृत नामों के और धातुओं के स्थान में आदेश-द्वारा सिद्ध कर के तद्भव-विभाग में अन्तर्गत किए हैं। यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र ने 'अपनी देशीनाममाला' में केवल देशी नामों का ही संग्रह किया है और देशी धातुओं का अपने प्राकृत-व्याकरण में संस्कृत धातुओं के आदेश-रूप में उल्लेख किया है।" (उपोद्घात पृष्ठ सं० २२)।

जहाँ तक 'देशीनाममाला' के रचयिता हेमचन्द्र का संबंध है उन्होंने 'देशी' की भिन्न प्रकार से नकारात्मक परिभाषा प्रस्तुत की है—

> जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
> ण य गउणलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥१।३॥

संस्कृत रूप—

> ये लक्षणे न सिद्धा न प्रसिद्धा संस्कृताभिधानेषु।
> न च गौण-लक्षणा-शक्ति संभवाः ते इह निबद्धा ॥

अर्थात् निम्नलिखित शब्द देशी नहीं हैं—

१. संस्कृत अभिधानों (कोशग्रंथ) में प्राप्त।

२. संस्कृत व्याकरण से जो सिद्ध हो सकते हैं।

३. जिन शब्दों का अर्थ गौण-लक्षणा-शक्ति द्वारा परिवर्तित हो गया हो।

आज देशज/देशी शब्दों का मुख्य आधार व्युत्पत्ति स्वीकार किया गया है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार सम्पूर्ण शब्दावली को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

१. ज्ञातव्युत्पत्तिक (ज्ञातस्रोतिक)

२. अज्ञात व्युत्पत्तिक (अज्ञातस्रोतिक)

'अज्ञात व्युत्पत्तिक' शब्द ही 'देशज' हैं। व्युत्पत्ति को आधार मानना कोई नई बात नहीं है। हिन्दी व्याकरण में कामताप्रसाद गुरु ने इस संबंध में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'देशज वे शब्द हैं जो किसी संस्कृत या प्राकृत मूल से निकले हुए नहीं जान पड़ते और उनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं लगता, जैसे तेन्दुआ, खिड़की, ठेस आदि।' इसी तथ्य पर बाबू

श्यामसुन्दरदास ने कह दिया "जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता।" यही बात पहले दी गई व्याख्या की परिभाषा से काफी मेल खाती है।

इस प्रकार देशज/देशी की परिभाषा तथा उसका स्वरूप निरंतर बदलता रहा। अन्ततः इस कोटि के शब्दों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डॉ० पूर्णसिंह ने परिभाषा को पूर्णता देते हुए लिखा—

> "हिन्दी में प्रचलित उन अज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दों का नाम देशज है जिनकी निश्चित व्युत्पत्ति तो अज्ञात है किन्तु सम्भावना की दृष्टि से जो लोक-व्यवहार में अज्ञात अथवा ध्वनि-अनुकरण के आधार पर निर्मित, अत्यधिक विकार के कारण संस्कृत शब्दों के ही पहचाने जाने वाले रूप, प्रारंभिक प्राकृतों अथवा संस्कृत के ही संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में अप्रयुक्त शब्द तथा आस्ट्रिक एवं द्रविड़ आदि अनार्य भाषाओं से गृहीत हो सकते हैं।"—पृष्ठ ७९।

विभिन्न दृष्टियों से भाषाविद् विभिन्न शब्दों को देशज में परिगणित करते रहे। इस दृष्टि से अनेक कवियों के ग्रंथों में आये देशज शब्दों का परिगणन भी किया जा चुका है, जैसे सूरदास में अखूट, अचमरी, खासी, खुटक, चेटक, टटकी, डोंगर, फँफरी, धगरी आदि; कबीर में अहल, ओप, कूता, कोल्हू, चूल्हा, चोखा, झगर, झूला, टहल, टोप, डाग, डंगर, ढिबुआ, थोथा, पाग, बापड़, बूटी, मटक, लात आदि।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि एक विद्वान् जिस शब्द को 'देशी' कहता है दूसरा उसको 'तद्भव' घोषित कर देता है। अगर व्युत्पत्ति को ही आधार माना जाए तो जब तक कोई व्यक्ति किसी शब्द की उचित व्युत्पत्ति न ढूंढ़ ले तब तक वह देशी कहा जाएगा और व्युत्पत्ति ज्ञात होते ही वह अन्य कोटि में चला जाएगा। 'देशी' शब्दों के एकमात्र कोश 'देशीनाममाला' में लिये गए सैकड़ों शब्दों की व्युत्पत्तियाँ आज दी जा चुकी हैं अतएव आज हिन्दी की दृष्टि से वे देशी नहीं रहे, चाहे प्राकृत-अपभ्रंश काल में रहे हों।

इस प्रकार प्राचीन ऐतिहासिक स्रोत की दृष्टि से देशी/देशज वे शब्द हैं जो संस्कृत, प्राकृत की परम्परा से न आए हों और न सिद्ध किए जा सकें, न उनसे प्रकृति-प्रत्ययों द्वारा निर्मित। ध्वनि अथवा अर्थ परिवर्तनों की दृष्टि से जिनमें इतना अधिक परिवर्तन हो चुका हो कि पहचानना कठिन हो।

द्रविड़ तथा मुण्डा आदि भाषा परिवारों से आगत शब्द भी देशी ही माने जाते हैं। साथ ही बोलचाल में विकसित, स्थानीय, अनुकरणात्मक शब्दों को भी देशी की संज्ञा ही दी जाती है। यद्यपि कामताप्रसाद गुरु ने स्पष्टतः अनुकरणवाचक शब्दों को पृथक् माना पर बाद में उनको इसमें ही सम्मिलित कर लिया गया मात्र इसलिए कि गुरु जी ने दोनों को एक साथ रख दिया था। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इनको ही देशी न कह कर 'भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द' कहा है। डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार "आधुनिक समय में देशी-शब्द किंचित् भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। आज इससे उन शब्दों का तात्पर्य लिया जाता है जो भारत के आदिवासियों की भाषाओं तथा बोलियों से वैदिक तथा पाणिनीय-संस्कृत एवं प्राकृत तथा नव्य आर्यभाषाओं में समय-समय पर आए हैं।...हिंदी तथा अन्य नव्य आर्य-भाषाओं में सैकड़ों देशी-शब्द प्राकृत से होकर आए हैं।"

डॉ० हरदेव बाहरी ने 'हिन्दी, उद्भव, विकास और रूप' (पृ० सं० १४३) में देशी के अन्तर्गत द्रविड़, संथाली, अनुकरणात्मक, मराठी, बंगला, पंजाबी शब्दावली को सम्मिलित किया है।

आग्नेय तथा द्रविड़ परिवार की शब्दावली बहुत पहले ही संस्कृत में गृहीत की जा चुकी थी, भ्रमवश इस शब्दावली को संस्कृत मान कर तत्सम कहते रहे हैं। इस प्रकार की लम्बी सूची टी० बरो ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत' में दी है, जैसे

अगुरु, अलूखल, कज्जल, करीर, कलुष, कानन, कुटिल, कुंडल, कुन्तल, कोटर, कोण, घुण, चिक्कण, चन्दन, ताडक, ताल, दण्ड, निबिड़, पल्ली, पिंड, बिडाल, मयूर, मल्लिका, वल्ली, मुकुल, मीन आदि (द्रविड़), तथा लांगूल, मरिच, ताम्बूल, कर्पास, कदली आदि (आग्नेय) हैं। प्राकृत काल से आये शब्दों में कोरा, खिल्ला, गोड्ड, लोट्ट, लुक्क आदि शब्द लिए जा सकते हैं।

अनुकरणात्मक शब्दों में ठकठक, पोंपों, झनकार, डगर, तड़ातड़, गड़बड़, झिलमिल, टक्कर आदि सैकड़ों शब्द हैं। इन शब्दों को भी वर्गीकृत किया जा सकता है—

अ—ध्वन्यात्मक—भूं-भूं, डकार, बक-बक, काँय-काँय।

आ—वस्तु/गुणवाचक—खसखसा, फटफटिया।

इ—अमूर्तभाव—लसलसा, थोथा, पिलपिला।

ई—प्रतिध्वनिवाचक—गोलमटोल, चुपचाप, अड़ोस-पड़ोस।

निरन्तर भाषा के प्रवाह के साथ देशज शब्द भी बढ़ते जाते हैं। आंचलिक उपन्यासों तथा कहानियों में इस प्रकार की शब्दावली काफी अधिक है। सम्पूर्ण बृहत् शब्दसागर में ५००० के लगभग देशज शब्दावली है। बहुप्रचलित देशज शब्द इस प्रकार हैं—

मोंटू, मुस्टंड, टुंड, मुंड, ठूंठ, टाट, ठाट, टट्टर, टट्टी, ठठरी, ठोंक, अटकल, अरॉना, ऊटपटांग, ऊलजलूल, किचकिचाना, खचाखच, खच्चर, खड़बड़ाहट, खनकना, चिचपिच, टोंटी, गिटपिट, गिलौरी, टोटा, गुड़गुड़ाना, घर्राटा, घुग्घा, घिसपिस, झंझट, ठप्पा, पच्चड़, टुच्चा, चिल्ला, चींचड़, चींचपड़, झकझक, झुग्गी, टीमटाम, थपेड़ा, थप्पड़, धड़ाप, फर्राटा, पिलपिला, भोंपू, मकौड़ा, भड़ास, भबकी, भुरभुरा, लथपथ, सिलवट, हल्ला, हिचकी, हुल्लड़ आदि।

जैसा कि कहा जा चुका है कि देशज शब्द की मूल प्रवृत्ति है कि उसकी व्युत्पत्ति निश्चयात्मक रूप से न दी जा सके। वैसे इस दिशा में प्रयत्न तो किया ही जाता है, जैसे—

घूहा =[(अनु० घूं+हा) (प्रत्य०)]

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३८२

आगे चल कर इसकी ही व्युत्पत्ति के मूल में 'मूषक' के ढाँचे पर 'घूष+क ?' दे दी गई। इस प्रकार की व्युत्पत्तियों से कोई लाभ नहीं। वस्तुतः यह अनुकरण के आधार पर निर्मित शब्द है और उससे ही विकसित।

डॉ० बाबूराम सक्सेना ने 'पेड़' को देशज माना है जबकि डॉ० चाटुर्ज्या इसको 'पिण्ड' से व्युत्पन्न मानते हैं और संभवतः इस आधार पर ही संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर भी 'पिण्ड' (पृ० ७३६) से। यह भी विवादास्पद है कि 'पिण्ड' क्या देशज नहीं है? एक ही विद्वान् एक

स्थान पर अव्युत्पन्न स्वीकार करता है जबकि अन्यत्र किसी शब्द से उसे व्युत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है जैसे 'चोल' को डॉ० चाटुर्ज्या ने 'चेल' से संबंधित कर उत्पत्ति को अज्ञात स्वीकार किया है जबकि अन्यत्र 'चीर' से संबंधित कर उसी धातु से निष्पन्न किया है।

कभी-कभी एक ही शब्द को देशज न स्वीकार कर इधर-उधर से तरह-तरह से संबंध जोड़ा जाता है, जैसे—

अकबक—१. अक। बक का अनु०। बकना
 २. अनु० अक+बक
 ३. संस्कृत काल्पनिक अवक

करार—नदी का किनारा
 १. सं० अल+अग्र। सं० क+अग्र मानक०
 २. सं० कराल पाइअ० २२८।२
 ३. हिं० कर+आर शब्दसागर

अटकल—अटकल की अटकलबाजियाँ द्रष्टव्य हैं—
 १. सं० अर्थकलन
 २. सं० अर्ध+कल। अन्तर+कल् मानक०
 ३. सं० अट्। घूमना।+कल्। फिरना। सं० शब्दसागर
 ४. पश्तो से डॉ० भोलानाथ तिवारी
 ५. सं० अट्टकला डॉ० टर्नर (पृ० सं० १८३)

कढ़ी—एक प्रकार का खाद्य पदार्थ, सूरसागर में भी प्रयुक्त
 १. कढिआ—देशीनाममाला २।६७
 २. सं० क्वाथ से
 ३. क्वथित से
 ४. देशी—पाइअ-सद्द-महण्णवो
 ५. कन्नड़—कढि

अड़—बीच में रुक जाना, आगे न बढ़ना
 १. सं० अल्=वारण करना
 २. सं० अल्=रोक—संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर १०२
 ३. प्रा० अड्ड=जो आड़े आता हो, बीच में बाधक होता है—पाइअ० २७
 ४. इससे ही विकसित अड्डण=ढाल, आडोलिय (पाइअ० १०८)=रोका हुआ।

इस प्रकार विभिन्न व्युत्पत्तियों के होते हुए भी निश्चित रूप से यह प्राकृत परम्परा से आया हुआ शब्द है। इसका विकास निश्चित रूप से 'अड्ड' से हुआ है। इस शब्द पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए डॉ० चन्द्रप्रकाश त्यागी ने लिखा है—

"तिरछे.हौं जु अड़े" सूरसागर के इस पद में सूर ने फँसे अर्थ में प्रयोग किया है। राउलवेल में 'अडणी' शब्द का प्रयोग 'ढाल' अर्थ में किया गया है। यह शब्द अड या अड़ से निष्पन्न है। णी प्रत्यय लगा कर ढाल या आवरण करने वाली वस्तु में प्रयुक्त किया गया है। अड्डा, अड़ा,

अड़ावट, अड़ार आदि शब्दों का विकास 'अड्ड' से ही हुआ है। भिखारीदास ने 'अड्ड' शब्द का बाधा, रोक, बाड़ (शब्दसागर) अर्थ में प्रयोग किया है। हिन्दी में अड़ंगा, अड़ंन, अड़, अड़ी, अड़चन, अड़्डा,अड्डी, अड़न, अड़यायल, अड़ाड, अड़ान, अड़ाना, अड़ाय, अड़िया आदि शब्दों का निर्माण अड्ड से ही हुआ है। गुजराती में अड, अडकवुं, अडकाव, अडकावु, मराठी में अड (परेशानी) अडक (उपाधि) अड (रुकावट) कन्नड़ में भी चलता है। उड़िया, बंगला में भी ये शब्द इन्हीं अर्थों में चलते हैं। नेपाली में 'अड़िनु' रोक या बाधा अर्थ में चलता है।"

—देशी शब्दों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, पृ० सं० १६६

जब तक निश्चित स्रोत न पता चल जाए विभिन्न विद्वान् अटकलें लगाते रहते हैं जैसे 'ओलती' (ढलुवाँ छप्पर का वह सिरा जहाँ से वर्षा का पानी नीचे गिरता है, ओरी) की व्युत्पत्ति मानक कोश में 'ओलमना' से दी गई है जबकि 'ओलमना' का संबंध 'अवलम्बन' से स्थापित किया गया है। एक स्थान पर 'ओर' से भी संबंध स्थापित किया गया है। इस संबंध में डॉ० पूर्णसिंह लिखते हैं—

'मेरे विचार से 'हिं ओलती' का संबंध न तो सं० 'अवलम्बन' से है और न ही यह अज्ञातव्युत्पत्तिक शब्द है। ऐसा लगता है कि यह भी हिन्दी में द्रविड़ भाषाओं से आगत शब्द है। द्रविड़ परिवार की अनेक भाषाओं में बहने, प्रवाहित होने तथा नदी आदि के अर्थ में हिन्दी 'ओलती' से साम्य रखने वाले अनेक शब्द मिलते हैं—

तमिल—ओलियल्=नदी
मलयालम—ओलियुक=बहना
तेलुगु—ओलुकु=बहना

हिन्दी में सैकड़ों ही नहीं सहस्रों शब्द, देशी/देशज कहे जाने वाले, प्राकृत से होकर आये हैं। द्रविड़ तथा आग्नेय परिवार की भाषाओं से आने वाले शब्दों की संख्या भी कम नहीं है और आगे निरन्तर बढ़ती जाएगी। अनुकरण के आधार पर ध्वनि-मूलक शब्दों का निर्माण तो प्रतिक्षण होता रहता है जिनको यदि देशी से पृथक् ही रखा जाय तो उचित रहेगा। आज आवश्यकता है कि इस प्रकार के सभी शब्दों को एकत्रित किया जाए और कोश रूप में पृथक् से प्रकाशित किया जाय।

—प्रोफेसर, हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएं,
राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी,
मसूरी।

आधुनिक तेलुगु कविता-प्रगतिवाद के परिप्रेक्ष्य में

प्रो० जी० सुंदररेड्डी

⊙ ⊙

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु साहित्य में भारत की ही नहीं, अपितु विश्व भर की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। विश्व के महान् चिंतकों की विचारधाराओं तथा फ्रांस, रूस और चीन की क्रांतियों का प्रभाव इसमें मिलता है। इसके फलस्वरूप आधुनिक तेलुगु साहित्य की प्रत्येक शाखा क्रमशः विकसित होती आ रही है।

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु-साहित्य में जन-समुदाय की आशाएँ एवं आकांक्षाएँ अभिव्यक्त होती जा रही हैं। बीसवीं शती के आरम्भ के तेलुगु साहित्य का यदि अनुशीलन किया जाए तो पता चलेगा कि उसमें धर्म निरपेक्षता, प्रजातंत्र एवं समाजवाद की प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में दिखाई देती हैं। आंध्र के साहित्यकार सामाजिक जीवन के इन स्वस्थ सिद्धांतों के प्रति सतत जागरूक रहे हैं और इनका प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा किया है।

भारत अनेक धर्मों का देश है। इन धर्मों में भी शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं। भारत इन सभी धर्मों एवं जातियों से बना हुआ एक संश्लिष्ट चित्र है। ये सभी धर्म एवं जातियाँ भारत के विराट साँचे में ढल कर एक हो गए हैं। इसी कारण भारतीय समाज एवं संस्कृति का रूप सामाजिक है। वह धर्म-निरपेक्ष है। इस पर विचार करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था—"जो इस देश में जन्म लेते हैं और जो इसे अपनी मातृभूमि मानते हैं, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, पारसी, ईसाई, जैन या सिख जो भी हों, वे सभी भारतमाता की संतान हैं, इसलिए भाई-भाई हैं, जो आपस में रक्त से भी सुदृढ़ पाशों से बँधे हुए हैं। हमें वर्गगत अथवा धर्मगत स्वार्थों की बलि देकर संपूर्ण भारत के कल्याण में सहयोग देना चाहिए क्योंकि उसी में सभी की भलाई निहित है। इसलिए हमें एक स्वस्थ वातावरण की सृष्टि करनी है, जिसमें अलगाव के स्थान पर मिलाप हो, संघर्ष के स्थान पर शांति हो, स्थिरता के स्थान पर प्रगति हो और मृत्यु के स्थान पर जीवन हो। वह दिन महान् आनंद का दिन होगा जब धर्मान्धता के स्थान को धर्म-निरपेक्षता ग्रहण करेगी।"

ऐसे समाज के निर्माण में भारत के सभी धर्मों ने अपना योगदान दिया है। श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस पर प्रकाश डालते हुए एक बार कहा था—"ये धर्म (इसलाम, जरथुस्त्र और ईसाई) भारत के बाहर जन्म लेने पर भी भारतीय हैं, वे इसलिए भारतीय नहीं कि भारत

में अनेक धर्मों का अस्तित्व है, बल्कि इसलिए कि ईसाई, इस्लाम और पारसी आदि धर्मों के अनुयायियों ने इस देश को अपना निवासस्थान बना लिया है, इस देश की रक्षा के लिए युद्ध और इस देश के लिए अपने प्राणों का बलिदान किया है। उन्होंने भारत के सामाजिक इतिहास के निर्माण में योग ही नहीं दिया, प्रत्युत् उसके दर्शन एवं संस्कृति, शिल्प और अन्य कलाओं के साथ उसके समाज के निर्माण एवं विकास में सहयोग प्रदान किया है।" भारत के धर्म-निरपेक्ष समाज के निर्माण में तेलुगु के साहित्यकार भी किसी से पीछे नहीं रहे हैं।

मध्ययुग में महामनीषी एवं कवि वेमना तथा आधुनिक युग में महाकवि गुरजाड अप्पाराव ने अपनी कविता में धार्मिक समानता एवं धर्म-समन्वय की भावनाओं को उँडेल दिया है। अप्पाराव ने अपनी 'देशभक्ति' शीर्षक कविता में लिखा है कि भारत के सभी धर्मावलंबियों को भाइयों के समान रहना है और देशवासियों को कंधे-से-कंधा मिलाकर प्रगति-पथ पर अग्रसर होना है। कवि का विश्वास है कि यदि जनता के मन आपस में मिल जाएँगे तो धर्म-पार्थक्य उन्हें अलग नहीं कर सकेगा—

> कंधा कंधे से मिलाकर क्यों न चलते देशवासी?
> जातियाँ औ' धर्म सब को भाइयों-सा सदा रहना।
> धर्म का पार्थक्य क्या है? जब मिलेंगे प्रजा के मन
> तो रहेगी जाति बढ़ती, ख्याति जग में पा सकेगी।

गुरजाड के पश्चात् धर्म-निरपेक्षता को वाणी देनेवाले कवियों में श्री दुव्वूरि रामिरेड्डी तथा गुर्रम् जाषुआ प्रमुख हैं। श्री रामिरेड्डी ने महात्मा गांधी के सर्व-धर्म-समन्वय का प्रचार 'स्वातंत्र्य रथ' नामक काव्य-संग्रह की कविताओं के माध्यम से किया। कविवर जाषुआ ने कट्टर हिन्दू धर्मावलंबियों के द्वारा परित्यक्त हरिजनों की दयनीय दशा का मर्मस्पर्शी-वर्णन 'गब्बिलमु' (चमगीदड़) नामक काव्य में किया। भारत के उच्चवर्गीय-हिन्दुओं द्वारा हरिजनों के प्रति किए जानेवाले अत्याचारों एवं अन्यायों का समाचार चमगीदड़ भगवान् शंकर को देता है। अन्य अवसर पर एक गरीब आदमी चमगीदड़ के समक्ष देश में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा जाति-धर्म कट्टरता का हृदयस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत करता है। इस काव्य के द्वारा कवि ने हरिजनों का मंदिर-प्रवेश तथा हरिजनोद्धार आदि विषयों पर प्रकाश डालकर धर्म के द्वारा पीड़ित एवं शोषित मानव की करुण-गाथा को काव्यत्व प्रदान किया है। जाषुआ के बाद अछूतोद्धार पर काव्य-रचना करनेवालों में सब्ब बोस गुरुनाथराव प्रमुख हैं। अपनी 'पश्चात्ताप' शीर्षक कविता में कवि ने शिवरात्रि के अवसर पर शिव मंदिर में जाने वाले हिन्दू यात्रियों के द्वारा सदियों तक हरिजनों को अछूत समझने के पाप का प्रायश्चित्त करा दिया है—

> सभी हरिजनों को
> मंदिर में ले आकर
> दुग्ध-नीर की भाँति सदा
> हम सब उन से हिल-मिलकर
> जागृत हों शिवरात्रि मनाएँ?

इनके पश्चात् धर्म-निरपेक्षता की माँग करनेवालों में 'श्री श्री' (श्रीरंगम् श्रीनिवासराव) प्रमुख हैं। उन्होंने अपनी ओजस्वी कविता के द्वारा हिन्दू धर्म के अंधविश्वासों का खंडन किया और भारतीय जनता को धर्म-निरपेक्षता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। स्वतंत्रता के पश्चात् उनके अनुयायी सभी प्रगतिवादी कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धर्म-आश्रित रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों का खुलकर खंडन किया। परंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी जब भारत में धार्मिक एवं जातिगत असहिष्णुता प्रबल रूप में व्याप्त रही तो तेलुगु के दिगंबर कवियों ने एक स्वर में भारत की सड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया और उसे अपनी कविता द्वारा सुधारने की चेष्टा की। दिगंबर-कवियों के तीनों काव्य-संग्रहों में (१९६५-७१ तक) धर्मांधता का प्रबल विरोध पाया जाता है। कवि ज्वालामुखी कट्टर धार्मिकों को मानवता विरोधी मानते हुए यों कहते हैं—

धर्म-मीमांसा के दाँतों को बढ़ाते हुए
धर्मांधों के कान पकड़, थप्पड़ मार
क्रूरता से टुकड़ों में काटे हुए
मानव जाति के कल्पवृक्ष को
मैं दिखाना चाहता हूँ।

आगे चलकर ज्वालामुखी वर्ण-रूपगत मोह और जाति-धर्मगत अहंकार आदि को जला देना चाहते हैं। दूसरे दिगंबर कवि चरबंडराजु धर्म-निरपेक्षता का समर्थन निम्नांकित पंक्तियों में करते हैं—

हमें चाहिए समता मानव की, रक्त की, प्राणों की
लिंग-भेदों की, वादों की
पर मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर के
धर्माधिकारियों के धर्म हमें क्यों?
ज्वालामुखी कट्टर-धार्मिकता का खंडन यों करते हैं—
हम टूटे मंदिर की दीवारों को
छोड़ बाहर आ नहीं पाते,
हम अंधे, दुर्गंधमय धर्म पोखरों को
मोक्ष के द्वार समझ लेते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि की व्यंग्यभरी वाणी निहित है। चरबंडराजु का कथन है कि सभी लोगों को धार्मिक कट्टरता से बचना है। वह कहते हैं—

अंध-विश्वासों के इस्पाती आलिंगनों में
पिसते दरिद्र नारायणों को अंधेपन की जंजीर तोड़कर बाहर आना है।

इस प्रकार आधुनिक तेलुगु कविता में धार्मिक अंधविश्वासों का अनेक कवियों ने खंडन किया और धर्म-निरपेक्षता का समर्थन किया।

सन् १९४७ में एक लंबे संघर्ष के बाद साम्राज्यवाद के स्थान पर भारत में पहली बार

प्रजातंत्र की स्थापना हुई। परंतु प्रजातंत्र का फल बहुत कम लोगों को मिला। आर्थिक क्षेत्र में थोड़ी प्रगति करने पर भी हमारे आर्थिक उत्थान में पूंजीवादी समाज की सभी बुराइयाँ दिखाई देने लगीं। प्रजातंत्र की आड़ में निहित स्वार्थों ने देश के साधनों को अपने अधीन कर लिया। ये लोग जनता के अंधविश्वासों तथा उसकी निस्सहायता से लाभ उठाकर जनता एवं देश को लूटने लगे। इस अवस्था की प्रतिक्रिया स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु साहित्य की सभी विधाओं में देखी जा सकती है, विशेषकर कविता में। श्री श्री, आरुद्र, बैरागी, तिलक, नारायण रेड्डी, वरवरराव, सी० विजयलक्ष्मी और दिगंबर कवियों की कविताओं में विगत पच्चीस वर्षों की घटनाओं के प्रति व्यंग्य कसे गए हैं और उनका सशक्त विरोध भी किया गया है। आरुद्र, वरवरराव तथा विजयलक्ष्मी ने शासकों एवं अधिकारियों की भ्रष्टाचार-प्रियता का खुलासा विभिन्न रूपों में किया। अपनी कविता की ओजस्विता एवं कटु व्यंग्य की दृष्टि से विजयलक्ष्मी का स्थान अत्यंत ऊँचा है। हमारी व्यवस्था की विद्रूपता का वर्णन विजयलक्ष्मी (उपनाम) की कविता में इस प्रकार है—

> एक रक्त की बूंद को भी बिना बहाए
> अहिंसा मंत्र जाप से स्वातंत्र्य के मिलने पर
> सफेद बाबू की कुरसी पर काला बाबू बैठ गया है,
> परमोत्कृष्ट प्रजातंत्र व्यवस्था में
> बिना भेद के सब स्त्री-पुरुषों को
> प्रदान किया 'राइट टु वोट'।
> पाँच बरस बीत गए
> फिर आए आम चुनाव
> विगत चुनावों में जीतकर तत्काल ही
> गायब हुए सभी प्रजासेवी
> वर्षा के बीत जाने पर मिट्टी से निकलनेवाले कुकुरमुत्तों की तरह
> वल्मीकों से निकल फन फैलाकर नाचनेवाले नागों की तरह
> धीरे-धीरे बाहर आकर
> 'सब कुछ निर्णय देनेवाली सोवरिन प्रजा है'
> वर्णन करने, निर्विराम रंग-बिरंगे नपमे लगाकर
> लुभावनी बातों के पुल बाँधते हुए धुसंगों से दूर कर रहे हैं
> देश के नेता, देश-भक्ति यूनिट के सेवक
> फिल्मी दुनिया के हीरो और हीरोइन
> धर्मोपदेशक, बाबा और बिशप
> स्वामीजी, और पूज्य गुरुजी
> महिला-संघों के लीडर, धोखेबाज फकीर—
> ये सब चुनाव क्षेत्रों के चारों ओर चक्कर काट रहे हैं।

आगे कवि ने जमींदारों एवं पूंजीपतियों से किस प्रकार प्रत्येक राजनीतिक दल पैसा

लेता है और चुनाव जीतने के लिए तरकश के प्रत्येक बाण का प्रयोग सावधानी से करता है, उसका विशद चित्र अपनी कविता में खींचा है।

दिगंबर कवियों ने भी अपने तीनों काव्य-संकलनों में प्रजातंत्र के नाम पर होनेवाले अत्याचारों एवं अन्यायों का भंडाफोड़ किया है और जनता को ऐसे गोमुख-व्याघ्रों से बचने की चेतावनी दी है।

समाजवाद की प्रवृत्ति पर आधुनिक तेलुगु साहित्य में विशेष चिन्तन हुआ है। कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक आदि सभी विधाओं में इस विचारधारा से प्रभावित साहित्य प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कविता में तो प्रगतिवादी काव्यधारा का मूल स्वर ही समाजवादी है। आज के पूँजीवादी समाज में समाजवाद का आवाहन करनेवाले प्रथक कवि हैं श्री श्री। अपने 'महाप्रस्थान' नामक काव्य-संग्रह में कवि ने सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं का मार्मिक चित्रण किया है। जमींदार और पूँजीपति समाज के उत्पादन के उपकरणों पर अपना अधिकार रखते हैं और श्रमिकों के शोषण पर जीते हैं। वे इस आर्थिक शोषण की प्रक्रिया से श्रमिकों के जीवन को दूभर बना देते हैं। कविवर 'श्री श्री' ने इस सामाजिक अन्याय के विरोध में अपनी आवाज बुलंद की। उनकी लेखनी आग उगलने लगी। कवि समाज के द्वारा तिरस्कृत, लांछित भूखों को सांत्वना देते हुए कहते हैं—

पतित लोग,, भ्रष्ट लोग
पीड़ा-सर्प-दष्ट लोग
ज्वलित प्राण, विगतमान
दारिद्रय के
चक्रों की धुरी बीच दलित-गलित
दीन लोग, हीन लोग
बेचारो! बेचारो!
अधनंगो! अधनंगो!
सकल-स्वजन-परिच्युत हो
अखिल मनुज-तिरस्कृत हो
निखिल भुवन बहिष्कृत हो
प्राणहीन-ज्ञानहीन
स्थानहीन, अतिहताश
रोओ मत! रोओ मत।

(बैरागी जी का अनुवाद)

श्रीरंगम् नारायण बाबू ने भी भारतीय समाज की दरिद्र जनता के जीवन का हृदय-स्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया है—

पीड़ा-पाताल-पतित
दीन-हीन जनगण के
मौन रुदन की पुकार

चीत्कार फूत्कार
अपने उर में बटोर
इस भीषण अंधकार
का, अंधेरे का वक्ष-वक्ष चीर
तरुण अरुण-अरुण राग
गाओ तुम! गहरे पैठ जाओ तुम।

(बैरागी जी के अनुवाद से)

इस प्रकार 'श्री श्री' और नारायणबाबू की कविताओं में उनकी सहानुभूति पीड़ित, शोषित एवं दलित जनता की तरफ है। यह जनता समाज की आर्थिक-विषमता का शिकार हो गई है। 'श्री श्री' और नारायणबाबू की कविताओं से प्रभावित होकर स्वातंत्र्य-प्राप्ति के पश्चात् समाजवाद की प्रवृत्ति को प्रश्रय देनेवाले कवियों में आरुद्र, दाशरथी, डा० सी० नारायण रेड्डी, सोमसुंदर, स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक, रेंटाल गोपालकृष्ण, रमणा रेड्डी, अनिसेट्टि सुब्बाराव, एल्लूरि श्रीरामदास, गोगिनेनि वेंकटेश्वरराव आदि प्रमुख हैं। इन सभी की रचनाओं में भारतीय समाज की आर्थिक विषमता का चित्रण है। इन सभी ने मुक्त कण्ठ से श्रमिकों के शोषण का विरोध किया है और उनकी दुःखद स्थिति का मर्मांतक चित्रण किया है। जब तक उत्पादन के उपकरणों पर समाज का अधिकार नहीं होगा, तब तक समाज में इस भयंकर विषमता का अंत नहीं होगा। अत्याधुनिक दिगंबर कवियों की भी यही विचार-धारा है और उन्होंने भी मुक्तकंठ से दरिद्रनारायण के उत्कर्ष का समर्थन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक तेलुगु-साहित्य की प्रगतिवादी कविता में धर्म-निरपेक्षता, प्रजातंत्र एवं समाजवाद की प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पायी जाती हैं। तेलुगु साहित्य की प्रगतिवादी कविता के द्वारा इन मानवीय सिद्धांतों का प्रचार एवं प्रसार आम जनता के बीच में हुआ है और होता जा रहा है।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
आंध्र विश्वविद्यालय,
विशाखापट्टणम्

●

रीति ग्रंथ 'शृङ्गार सागर' के रचना-काल पर विचार

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

⊙ ⊙

सभा की १९०५ ई० की खोज रिपोर्ट में ७० संख्या पर मोहनलाल मिश्र कृत 'शृंगार सागर' नामक ग्रंथ का विवरण है। मोहनलाल मिश्र को चरखारी का रहने वाला एवं चूड़ामणि मिश्र का पुत्र कहा गया है। इन्होंने इस ग्रंथ की रचना अपने पुत्र लक्ष्मीचंद मिश्र के लिए की थी। इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १६१६ कहा गया है। प्रमाण रूप में रचना-काल सूचक यह दोहा उद्धृत है—

संवत रस सारी रस सु सारी, बिसद बसंत बहार
माघ सुकुल सनि पंचमी, भयो ग्रंथ बिस्तार

ग्रंथ का लिपि-काल सं० १९३९ है और प्राप्ति स्थान है—बाबू जगन्नाथ प्रसाद, छतरपुर।

हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में सबसे पहले मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' में इस कवि को सन्निविष्ट किया। यह सन्निवेश दो स्थलों पर हुआ है—

(१) नाम—(२१४) मोहनलाल मिश्र (चूड़ामणि के पुत्र), चरखारी।
ग्रंथ—शृंगार सागर
रचना-काल—१६१६ (खोज १९०५)
विवरण—रीति-ग्रंथ कहा है। साधारण श्रेणी।

(२) (२४६४) मोहन

इस नाम के चार कवि हुए हैं, जिनमें से हम इस समय चरखारी वाले मोहन का वर्णन करते हैं, जिन्होंने १९१९ में शृंगार सागर नामक ग्रंथ बनाया। यह ग्रंथ हमने देखा है। इनकी कविता अच्छी होती थी। ये साधारण श्रेणी के कवि हैं—

चंद सो बदन, चारु चंद्रमा सी हासी,
परिपूरन उमा सी खासी सूरति सोहाती है
नीति, प्रीति, रीति, रति रीति, रस रीति मीत,
गीत गुन, सीत सीत, सुख सरसाती है
'मोहन' मसाल दीप माल मनि मात जोति-
जात महताब आब दुरि दुरि जाती है

बसो अति अमल अनूप अनमोल तन
अतन मोल अति बंध उपजाती है

चंद्रमा के स्थान पर 'चंद्रिका' होना चाहिए। 'परिपूरन उमा सी' के स्थान पर 'परिपूर्न उपमा सी' भी पाठ है।

मिश्रबंधु विनोद के पश्चात् हिंदी साहित्य के जितने भी इतिहास लिखे गए, सभी में खोज रिपोर्ट, विशेषतया विनोद के आधार पर मोहनलाल मिश्र हिंदी के परम प्रारंभिक रीति कवियों में गिने जाने लगे। किसी ने इस ग्रंथ को देखकर छानबीन करने का प्रयास नहीं किया। मिश्रबंधुओं ने विनोद के प्रथम भाग में खोज के आधार पर इस कवि का विवरण दिया और तृतीय भाग में अपनी निजी जानकारी के आधार पर, परंतु वे न जाने क्यों यह निर्णय नहीं कर सके कि ये दोनों कवि वस्तुतः एक ही हैं और १६१६ में श्रृंगार सागर का रचयिता मोहनलाल मिश्र नामक कोई कवि चरखारी में नहीं हुआ।

गत वर्ष मुझे नागरी प्रचारिणी सभा काशी के अन्वेषक श्री उदयशंकर दुबे (सम्प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अन्वेषक) से ज्ञात हुआ कि उनकी मुलाकात चरखारी में मोहनलाल मिश्र के वंशजों से हुई और उन्होंने उलाहना दिया कि हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने सौ वर्ष पूर्व हुए हमारे पूर्वज को चार सौ वर्ष पुराना बना दिया है। उन्होंने दुबे जी को मूल ग्रंथ भी दिखाया और कहा कि श्रृंगार सागर संवत् १९१६ की रचना है। ऊपर उद्धृत उक्त रचना-काल सूचक दोहे के पार्श्व में कवि के हस्तलेख में सं० १९१६ अंकित भी है।

इधर रीति-काल के परम प्रसिद्ध कवि पद्माकर के वंशज डा० भालचंद्रराव तैलंग, पद्माकर अनुसंधान शाला सुषमा निकुंज, बेगमपुरा, औरंगाबाद (महाराष्ट्र), ने इस ग्रंथ को तीन वर्ष पूर्व (१९७४ ई० में) संपादित करके प्रकाशित किया है। यह ग्रंथ रीति काव्य-मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को समर्पित है और उन्हीं से मुझे देखने को मिला है। डा० भालचंद्र जी से मेरा पत्राचार रहा है और कई वर्ष पहले उन्होंने मुझे सूचित किया था कि मैं मोहनलाल मिश्र कृत श्रृंगार सागर का संपादन कर रहा हूँ। इस ग्रंथ को सं० १६१९ की रचना मानकर इसके फ्लैप पर निम्नांकित विज्ञापन-वाक्यांश हैं—

"पुरातन आदी और प्राक्तन काव्य की युग संधि,
हिंदी रीति काल की आरंभ बेला का अरुणोदय,
हिंदी काव्य शास्त्र का मुखबंध
हिंदी का प्रथम रस ग्रंथ 'श्रृंगार सागर'

भीतरी मुख पृष्ठ पर भी उल्लेख है—

'हिंदी साहित्य के रीति काल का मुखबंध'।

जब मैंने पंडित जी को बताया कि श्रृंगार सागर सं० १६१६ की रचना न होकर सं० १९१६ की रचना है, तब उन्होंने कहा कि मूल ग्रंथ में एक दोहा है, जो बताता है कि पहला रस जिह्वा रस का सूचक है और दूसरा रस साहित्य-रस का। उक्त दोहा यह है—

प्रथम सु रस बिंजन कहे, पुन रस सिंगारादि
इह संवत गनना मिली, समझौ कवि मत सादि ३०

रचना-काल सूचक दोहा इसी प्रथम तरंग का है और २८ संख्या पर है। इस दोहे में कवि ने स्वयं सूचना दे दी है कि प्रथम रस ६ और दूसरा रस ९ का सूचक है—

६ १ ९ १
संवत रस सारी रस सु सारी

'अंकानाम वामतो गतिः' के अनुसार इस ग्रंथ का रचना-काल संवत् १९१६ वि० हुआ। सीधे पढ़ने पर सं० ६१९१ होना चाहिए, जो असंभव है। मिश्रबंधुओं ने इसे सं० १९१९ पढ़ा, जैसा कि विनोद कवि संख्या २०८३ पर है। तैलंग जी ने प्रमाणस्वरूप विनोद के इसी १९१९ संवत् वाले मोहनलाल मिश्र का उद्धरण दिया है। मिश्रबंधु तो २०८३ संख्यक कवि को स्पष्ट ही सं० १९१९ का लिख रहे हैं, फिर इसे सं० १६१६ के प्रमाण में किस प्रकार उद्धृत किया गया है, यह तैलंग जी ही जानें। तैलंग जी ग्रंथ का रचना-काल सं० १६१९ मान रहे हैं, यह अंक पढ़ने की किसी भी प्रकार की मान्य परंपरा से नहीं निकलता। अस्तु, ग्रंथ का रचना-काल सं० १९१६ वि० ही है। इस संवत् की जांच-पड़ताल तत्कालीन चरखारी नरेश रतन सिंह के राज्य-काल पर विचार करके भी की जा सकती है।

मोहनलाल मिश्र चरखारी के रहने वाले थे। चरखारी का एक नाम चक्रपुरी भी है। कवि ने चक्रपुरी के संबंध में तीन दोहे लिखे हैं—

बंदौं चक्रपुरी पुरी, धन मन मोद महान
पुन्न करी गुनगन भरी, रंग रँगी छविधाम
चक्रपुरी ही सोभिजै, चक्रपुरी अभिराम
जन कह जन से जहँ बसैं, अति उत्तम गुन ग्राम १०
ता नगरी को प्रभु बड़ो, रतन सिंघ नरनाह
तासु सुजसु निज मुख कहत, साह सराह सराह ११

कवि ने दो कवित्तों में चरखारी नरेश रतन सिंह की प्रशंसा की है—

(१)

राजन को राजा महाराज रतनेस जैसो
ऐसो और देखो ना सुनो मैं ब्रह्मंड मैं
राजै दीप दीपन उदीपन बिराजै छवि
छाजै अरु लाजै तेज भ्राजै ज्यों अखंड मैं
'मोहन' भनत दान सान घमसान
युद्ध ज्ञान औ जुबान जान जैसे सुत पंड मैं
गायो सुरजनन सुहायो मन आयो
जाको छायो जस अमित अखंड नउखंड मैं १२

(२)

सुंदर सुजान, गुन मंदिर महान,
है पुरंदर समान, औ जहान जस लीबे में

चंडकर सबूस अनोड तेज मंड,
बल अंककर अमित अखंड राज कीबे में
'मोहन' भनत रतु सेवन महान
बुज देवन कौ मान, बरबान दान दीबे में
अति मतिवारी, अति उग्र तप धारी,
नाथ नृप मन प्यारी, म्हारी भुण भुप जीबे में ११

काशी के प्रसिद्ध कवि सेवक पहले बरवारी नरेश इन्हीं रतन सिंह के यहाँ थे। इस तथ्य की अनभिज्ञता के कारण शिव सिंह सेंगर ने दो सेवकों की स्थापना कर दी है, एक असनी वाले, दूसरे बनारसी। शिवसिंह सरोज के अनुसार पहले सेवक का समय सं० १८९७ वि० है और यह 'राजा रतन सिंह चक्रपुर वाले के यहाँ थे।' सरोजकार ने इनके चार छंद उदाहरण में दिए हैं जिनमें से निम्नांकित दो में इन्हीं रतन सिंह की प्रशंसा है। डा० तैलंग ने भी इन्हें प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका में उद्धृत किया है—

७४३ सेवक कवि

(१)

काबुल कँपत, करनाटक तपत,
कलकत्ता पत्र के समान हालै हद बुरतें
रूम छहितान मुगलान खुरासान,
हबसान सान छोड़ि छोड़ि मरे उर डर तें
'सेवक' कहत गड़बड़ द्राविड़न परै,
थकत विलसि देस वेस तेज तुरतें
भानु-सुत भानु महादानी रतनेस जब
चक्रधर सुमिरि चलत चक्रपुर तें १६९०

(२)

सहजही पक्षा सतारो जाने तोरि डारो
सपार उजारि जाने गढ़ आगरो लहो
कस्मीर काबुल कलकत्ता औ कलिंज राज
गौड़ गुजरात ग्वालियर को हद गहो
'सेवक' कहत और कहाँ लौं बखानौं वेस,
जाके निरदेस को नरेस चित दै चहो
और के पनाह, नरनाह श्री रतन सिंह
तीन नरनाह तेरी बाँह छाँह में रहो १६९१

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य कवि प्रतापसाहि भी इन रतन सिंह के आश्रय में थे। उन्होंने इनके लिए सं० १८९६ में बिहारी सतसई की गद्य टीका रतन-चंद्रिका नाम से (खोज रिपोर्ट १९०६ । ९१ एफ) एवं उसी वर्ष मतिराम के रसराज की टीका 'रसराज तिलक' (खोज रिपोर्ट १९०६ । ९१ बी) नाम से प्रस्तुत की थी—

रतन सिंघ नृप हुकुम तैं, मन में करि अति बोध
सुगम तिलक रसराज को, कीनौ निज मति सोध ४२५

डा० तैलंग ने सं० १६१९ को ध्यान में रखकर इस रतन को ओरछा नरेश मधुकर शाह के आठ पुत्रों में से एक वह रतन माना है, जिनके लिए महाकवि केशव ने 'रतन बावनी' नामक ग्रंथ रचा था। तैलंग जी ने इनका मृत्युकाल सं० १६२९ बि० माना है और रतन बावनी का यह दोहा भी उद्धृत किया है—

ओड़छेन्द्र मधुसाह सुत, रतनसिंघ यह नाम
बादसाह सों समर करि, गए स्वर्ग के धाम

इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में कई आपत्तियाँ हैं—यह रतन सिंह केवल राजकुमार थे, राजा नहीं थे। इनके पिता मधुकर शाह ओड़छा के राजा थे, राजकाल सं० १६११-१६४९ बि० है, जिनकी मृत्यु पर इनके बड़े पुत्र रामशाही राजा हुए थे। रतन सिंह १६ ही वर्ष की वय में सम्राट् अकबर से युद्ध करते हुए मारे गए थे। यदि यह युद्ध सं० १६२९ में हुआ तो सं० १६१९ में इनकी अवस्था केवल ६ वर्ष की रही होगी, और यह वय काव्यास्वाद की वय नहीं है। साथ ही उस समय तक चरखारी राज्य की स्थापना भी नहीं हुई थी। चरखारी राज्य की स्थापना तो सं० १८२१ बि० में हुई। फिर सं० १६१९ में रतन सिंह यहाँ के राजा कैसे हो गए?

महाराज छत्रसाल (सं० १७०६-१७८८ बि०) ने अपने बाहुबल से एक प्रबल बुंदेला राज्य की स्थापना की थी। मृत्यु के पूर्व ही उन्होंने इस राज्य के तीन टुकड़े कर दिए थे। एक टुकड़ा बड़े पुत्र हृदयशाह को, दूसरा टुकड़ा दूसरे पुत्र जगतराज को एवं तीसरा बाजीराव पेशवा को मिला। चरखारी का इलाका जगतराज के अधिकार में आया। इनकी राजधानी जैतपुर थी। जगतराज की मृत्यु सं० १८१५ में हुई और इनके तीसरे पुत्र पहाड़ सिंह राजा हो गए। जगतराज ने अपने दूसरे पुत्र कीरत सिंह को युवराज बनाया था, पर उनकी मृत्यु पिता के जीवनकाल ही में हो गई थी, अतः कीरत सिंह के पुत्र गुमान सिंह एवं खुमान सिंह अपने को जैतपुर राज्य का उत्तराधिकारी समझकर पहाड़ सिंह से युद्धरत हो गए। अंततोगत्वा सं० १८२१ में पहाड़ सिंह ने जैतपुर राज्य के तीन टुकड़े कर दिए, जैतपुर (१३३ लाख रुपये का) अपने पुत्र गजसिंह को दिया, बाँदा अजयगढ़ (९$^1/_4$ लाख रुपये का) गुमान सिंह को तथा चरखारी (एक लाख बासठ हजार रुपये का) खुमान सिंह को। अस्तु चरखारी राज्य की स्थापना सं० १८२१ बि० में हुई।

खुमान सिंह चरखारी के पहले राजा हुए। इनका शासनकाल सं० १८२१-३९ बि० है। इनके बाद विक्रमाजीत उर्फ विजय बहादुर चरखारी के दूसरे राजा हुए। इनका राज्यकाल सं० १८३९-१८८६ बि० है। यह हिंदी के बहुत अच्छे कवि थे। इनकी विक्रम सतसई प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध नीतिकार कवि बैताल इन्हीं के यहाँ थे।

विक्रमाजीत के आठ लड़के थे। इनके मरने पर इनके चतुर्थ पुत्र दिवंगत रनजीत सिंह के पुत्र रतन सिंह चरखारी के तीसरे राजा हुए। इनका राज्यकाल सं० १८८६ से १९१७ बि० है। इन्हीं रतन सिंह के राज्यकाल में मोहनलाल मिश्र ने सं० १९१६ में शृंगार सागर की रचना की थी।

गोरेलाल तिवारी ने 'बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास' में यह सब विवरण दिया है, जिसे अत्यंत संक्षेप में ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

मैंने सरोज सर्वेक्षण में ६३३ संख्यक 'मोहन कवि' के, सं० १७१५ के विवरण तीन मोहन कवियों का विवरण दिया है, जिनमें से एक यह मोहनलाल मिश्र हैं। वहाँ मैंने इनके संबंध में इतनी सूचना दी है—यह चरखारी के रहने वाले थे, चूड़ामणि मिश्र के पुत्र थे, लक्ष्मीचंद मिश्र के पिता थे। इन्होंने सं० १६१६ में शृंगार सागर की रचना अपने पुत्र लक्ष्मीचंद के लिए की थी।

सरोज सर्वेक्षण में मैंने उपसंहार में पृष्ठ ९०० पर केशव के पूर्ववर्ती रीति साहित्य पर विचार करते हुए लिखा है—

"(केवल) मोहनलाल मिश्र का एक ग्रंथ शृङ्गार सागर है, जो सं० १६१६ में रचा गया था। ......। शृङ्गार सागर १९१९ की भी रचना हो सकती है। पूर्ण प्रति देखने पर ही कुछ सुनिश्चित बात कही जा सकती है।"

शृङ्गार सागर के प्रकाशन के बाद अब हम इस सुदृढ़ स्थिति में हैं कि यह निश्चय-पूर्वक घोषित कर सकें कि मोहनलाल मिश्र कृत शृङ्गार सागर भक्तिकालीन प्रथम रीति ग्रंथ नहीं है, रीतिकाल के अंतिम दिनों की सुप्रसिद्ध प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध (१८५७ ई०) के भी दो वर्ष बाद की, सं० १९१६ वि० की रचना है। इस प्रकाशन के लिए डा० तैलंग हम समस्त प्राचीन हिंदी काव्य प्रेमियों के धन्यवाद के पात्र हैं।

मोहनलाल मिश्र ने इस ग्रंथ में स्व-वंश वर्णन भी दिया है (छंद १४-२६), इसके आधार पर इनका वंश-वृक्ष यह है—
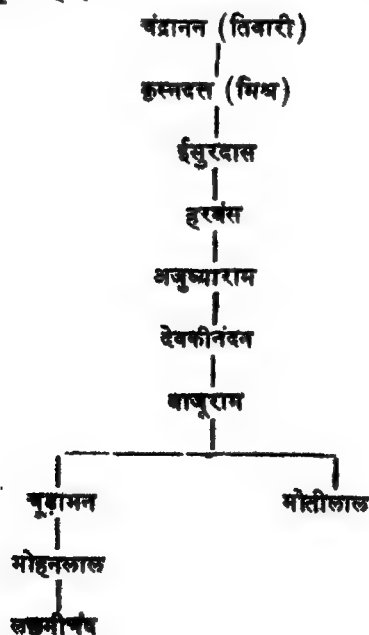
इनके पुरखा चंद्रामन तिवारी थे, जो भरद्वाज के वंश में थे। इन्होंने गंगा तट पर तीन यज्ञ किए थे, इसी से यह तिवारी कहलाए। इन्होंने तिवारीपुर नामक गाँव बसाया था। चंद्रामन तिवारी के पुत्र कृष्णदत्त तिवारी को किसी 'साहुल मीर' ने मिश्र की उपाधि दी, तभी से यह लोग तिवारी से मिश्र हो गए।

शृङ्गार सागर की रचना चरखारी नरेश रतन सिंह के शासनकाल में हुई, उनके लिए नहीं हुई। कवि ने इसकी रचना अपने पुत्र लक्ष्मीचंद को काव्य शिक्षा देने के लिये की थी—

चूड़ामन के सुत प्रगट भए सु मोहनलाल २६
तिनके लछमीचंद सुत, तिन हित किय यह ग्रंथ
ताहि पढ़ै, गुन गन बढ़ै, समुझै सब रस पंथ २७

इस ग्रंथ की प्रत्येक तरंग के अंत में आई हुई पुस्तिकाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। प्रथम तरंग की पुस्तिका यह है—

स्वस्ति श्री सर्वगुनगनालंकार, सर्वविद्यावित्पन्न, सर्वसास्त्र कोविद,
दुजकुलकमलप्रकासकर भासकर, भरद्वाजबंसोद्भव
पं० श्री मिश्र चूड़ामन जु तस्यात्मज मोहनलाल
सुकवि विरचिते स्रंगार सागर नामकाव्ये
मंगलाचरन कवि वंस वर्ननो नाम
॥ प्रथमो तरंगः ॥

स्व० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'ब्रजभाषा रीति शास्त्र ग्रंथ कोश' नामक एक ग्रंथ लिखा था, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित है। ग्रंथ उपयोगी है, पर इसका उपयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। इस शृंगार सागर को ही ले लीजिए। इसका उल्लेख पृष्ठ ९२ पर तीन ग्रंथों के रूप में हुआ है—

(१) शृंगार सागर—रच० मोहन कवि : चरखारी; सं० १९१९ वि० प्रा० स्था० बा० ललित प्रसाद, सागर (मध्य प्रदेश)

(२) शृंगार सागर—रच० मोहनलाल, सं० १६१६ वि०

(३) शृंगार सागर—रच० लक्ष्मीचंद (मोहन कवि : चरखारी के पुत्र), सं०—अज्ञात।

पहला विवरण मिश्रबंधु विनोद तृतीय भाग, पृ० ११३० के आधार पर, दूसरा मिश्रबंधु विनोद प्रथम भाग, पृ० ३१८ के आधार पर है। तीसरे के आधार की सूचना नहीं दी गई है।

इसी प्रकार अनर्थों की सृष्टि हुआ करती है।

श्री उदय शंकर दुबे ने मुझे (फरवरी प्रथम सप्ताह ७५) दतिया से सूचित किया था कि उन्हें मोहनलाल मिश्र के छोटे-बड़े कुल ३९ ग्रंथ मिले हैं और वे इस कवि के संपूर्ण कृतित्व पर शोधरत हैं।

—सुधर्मी वाराणसी

लेखकों के पत्र

विश्वम्भर 'मानव'

⊙ ⊙

मेरा पहला समीक्षा-ग्रंथ 'खड़ी बोली के गौरव-ग्रंथ' नाम से सन् १९४३ में प्रकाशित हुआ। इसमें बीसवीं शताब्दी के कुछ प्रसिद्ध महाकाव्यों, उपन्यासों और नाटकों पर एक दर्जन लंबे निबंध थे। एक लेख 'साकेत' पर भी था। अतः पुस्तक की एक प्रति मैंने श्री मैथिली-शरण गुप्त के पास भिजवायी। 'साकेत' का मुख्य विषय एक प्रकार से उर्मिला का विरह-वर्णन है। मेरी धारणा थी कि 'साकेत' में और सब कुछ आकर्षक है; लेकिन उर्मिला के विरह का वर्णन कवि ठीक से नहीं कर पाया। उसे लेकर वह इतने विस्तार में चला गया है कि सारा विवरण अनुपातहीन ही नहीं हो गया है, उसकी मार्मिकता भी नष्ट हो गयी है। गुप्त जी संयोग के कवि हैं, वियोग के नहीं। तुरंत ही गुप्त जी का एक पत्र मुझे मिला, जिसमें उस लेख के संबंध में उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। यह उनका पहला पत्र था। इस समय वह कहीं इधर-उधर हो गया है। उन्होंने बुरा माना हो, ऐसा नहीं लगा। इसके उपरांत भी, उनके संबंध में, मैंने कभी कुछ लिखा, तो उनके पास भिजवाता रहा। अपनी प्रकाशन-संस्था को उन्होंने आदेश दे रखा था कि उनका कोई ग्रंथ प्रकाशित हो, तो उसकी एक प्रति मेरे पास भिजवा दी जाय। जब ऐसा नहीं होता था और मैं उन्हें स्मरण दिलाता था, तो उन्हें बहुत कष्ट होता था। वे प्रायः कार्ड लिखते थे; पर चाहे दो पंक्तियों में ही सही, मेरी रचना के संबंध में अपनी प्रतिक्रिया अवश्य व्यक्त करते थे। गुप्त जी पत्र का उत्तर तुरंत देते थे। यह गुण हिन्दी-लेखकों में, जहाँ तक मेरा अनुभव है, श्री हरिवंशराय 'बच्चन' में सबसे अधिक है। हिन्दी में कई लेखक ऐसे भी हैं जो आवश्यक पत्रों का उत्तर देना भी अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते हैं।

आकाशवाणी से सम्बद्ध होने के बाद गुप्त जी से इलाहाबाद और लखनऊ में कई बार भेंट हुई। जब वे इन स्थानों पर आते थे, तो न जाने कितने चाटुकार लपक कर उनके पैर छूते थे, उन्हें घेरे फिरते थे और बात-बात पर दद्दा-दद्दा करते थे। वे जानते थे कि मैं उन व्यक्तियों में नहीं हूँ। अतः मुझे देखते, तो अवसर निकालकर दो-एक बात कर लेते थे। उन वाक्यों से जो उनकी आत्मीयता झलकती थी, वह अन्य लोगों की उनके प्रति घनिष्ठता की विज्ञापनबाजी की तुलना में कहीं अधिक मूल्यवान थी। अब तो वे दिन ही समाप्त हो गए।

साहित्य में मेरा सबसे पहला परिचय बाबू देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' नामक प्रसिद्ध उपन्यास से हुआ। इसके उपरांत मैंने उनके सम्पूर्ण साहित्य को अनेक बार पढ़ा। वे एक प्रतिभाशाली लेखक थे। हिन्दी में जिसने देवकीनंदन खत्री को नहीं पढ़ा, उसने कुछ भी नहीं पढ़ा। उनके प्रति मेरा यह आकर्षण आज भी बना हुआ है। जिस समय मेरा ट्रांसफर लखनऊ रेडियो स्टेशन को हुआ, उस समय हमारे एक विद्यार्थी खत्री जी पर शोध-प्रबंध लिख रहे थे। वे एक साहित्य-गोष्ठी के संयोजक थे। जब तक मैं वहाँ रहा, खत्री जी का जन्म-दिवस हम प्रति वर्ष मनाते रहे। प्राचीन साहित्यकारों के जन्म-दिवस मनाने का अब तो वह उत्साह ही लोगों में ठंडा पड़ गया है। उनके सुयोग्य पुत्र बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री ने ऐसे ही किसी उत्सव का उल्लेख काशी से अपने एक पत्र में किया है। देवकीनंदन खत्री के अपूर्ण उपन्यास 'भूत-नाथ' को इन्होंने पूरा किया है। पूरी रचना में कहीं जोड़ नहीं दिखलायी देता। दुर्गाप्रसाद खत्री ने अपने 'रोहतासमठ' में भी 'चंद्रकांता संतति' के कुछ प्रमुख पात्रों को लेकर अपने यशस्वी पिता की परंपरा को आगे बढ़ाया। उनका मुख्य काम हिन्दी को ऐसे वैज्ञानिक-राज-नीतिक उपन्यासों की देन है, जिनसे देश की पराधीनता के काल में राष्ट्रीयता एवं क्रांति की भावना को बल मिला।

सन १९५० में मेरी नियुक्ति आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र पर श्री सुमित्रानंदन पंत के सहायक के रूप में हुई। सन् १९५३ में मुझे 'सहायक हिन्दी परामर्शदाता' बनाकर श्री भगवतीचरण वर्मा के साथ काम करने के लिए लखनऊ भेज दिया गया। उस समय रेडियो से हिन्दी-लेखकों को अनेक प्रकार की शिकायतें थीं। उनमें से एक तो यह कि केवल कुछ लेखकों को प्रोग्राम मिलते हैं। अतः इन केन्द्रों की परिधि में जितने भी छोटे-बड़े लेखक थे, उन सबकी एक विस्तृत सूची मैंने तैयार की और जहाँ तक मुझसे बन पड़ा, इनमें से प्रत्येक को खोजकर किसी-न-किसी बहाने एक बार अवश्य बुलाया। बाहर से जब कोई वयोवृद्ध साहित्यकार आता था, तो उससे मैं अवश्य मिलता था। इस संबंध में आचार्य चतुरसेन शास्त्री, गुरुदत्त, वृन्दावनलाल वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और गुरुभक्त सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। हरिशंकर शर्मा से मेरा परिचय उस समय हुआ जब सन् १९३९ में मेरी नियुक्ति आगरा कालेज, आगरा में हिन्दी-लेक्चरर के रूप में हुई। इनमें से सभी के इंटर-व्यू या संस्मरण इलाहाबाद या लखनऊ से प्रसारित हुए। कुछ ने कृपापूर्वक मुझे पत्र भी लिखे। यहाँ एक छोटी-सी बात का उल्लेख करने की अनुमति चाहता हूँ। सम्पर्क में आने पर इन लोगों से विचारों का आदान-प्रदान भी होता था। वृंदावनलाल वर्मा से भेंट होने पर मैंने कहा कि वे सन् १८५७ से लेकर १९४७ तक के स्वाधीनता-संग्राम पर एक ओजस्वी उपन्यास लिखें। उन्होंने उत्तर में कहा कि उपन्यास के लिए यह बहुत बड़ा विषय है। एक उपन्यास इसे नहीं संभाल सकता। महाकाव्य की बात मैं नहीं जानता। और।

ये पत्र प्रकाशित होने की इच्छा से नहीं लिखे गये थे। इसीसे इनमें किसी प्रकार की कला नहीं पायी जाती। फिर भी, इनसे इतना आभास तो मिलता ही है कि पुराने लेखक कितने विनम्र होते थे। हम उनसे इतना तो सीख सकें, तो क्या कुछ कम है?

विश्वास है; अन्य लेखकों के पत्रों को प्रस्तुत करने का अवसर भी कभी प्राप्त होगा।

श्रीराम

चिरगाँव

१८-४-५६

प्रिय मानव जी,

'ज्ञानोदय' की कतरन के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। आपके उदार शब्द मैं अपने लिए आशीर्वाद समझता हूँ। और क्या लिखूँ?

बहुत दिन से आपके सत्संग की कामना है। देखूँ कब सुयोग मिलता है।

आप सानंद होंगे।

कल दिल्ली जा रहा हूँ।

आपका

मैथिलीशरण

श्रीराम

चिरगाँव

१०-२-५७

प्रिय मानव जी,

मैं इधर अस्वस्थ था। इसी कारण यथासमय पत्र न भेज सका। स्वस्थ हूँ।

'जयभारत' आपको रुचा, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। हृदय से आभारी हूँ। आपने उसे पढ़ा, यही बहुत है। दिल्ली में एक सज्जन ने और उसके विषय में जो कुछ लिखा था, वह मुझे सुनाया था। किसी तीसरे सज्जन की बात मुझे ज्ञात नहीं, जिन्होंने उसे इस प्रकार पढ़कर कुछ लिखा हो।

एक छोटी-सी पोथी बहुत दिन पश्चात् अभी छपी है—'राजा-प्रजा'। सेवा में जाती है।

आपका

मैथिलीशरण

श्रीराम

६ नार्थ एवेन्यू

नई दिल्ली

२७-४-५९

प्रियवर मानव जी,

कृपा-पत्र और 'सूनी घाटी के गीत' यहाँ मिले। बहुत-बहुत धन्यवाद।

मेरा सौभाग्य है कि मुझ पर आपका इतना अनुग्रह है। परन्तु उसका इस रूप में प्रकट

होना कहीं विवाद का विषय न बन जाय, यही भय है। मुझ पर तो बहुत छींटे फेंके गए हैं। मुझे लेकर आप किसी के लक्ष्य न बन जायँ, यही चिंता है।

मेरी हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार कीजिए।

स्वयं मेरी तो यही धारणा है—जो पीछे आ रहे उन्हीं का मैं आगे का जय जयकार।

आयुष्मान प्रभातरंजन जी अभी युवक हैं। फिर भी उनकी रचना में प्रौढ़ि दिखाई पड़ती है। गीत शब्द के विषय में मेरी मान्यता दूसरी है; परन्तु उनमें कहने का ढंग है। प्रभु से प्रार्थना है, वे उत्तरोत्तर उन्नति करें। और, जितने ऊँचे वे उठें, उतने ही विनम्र हों।

आप स्वस्थ सानंद होंगे।

आपका
मैथिलीशरण

श्रीराम

चिरगाँव
२-११-६०

प्रियवर मानव जी,

कृपा-पत्र मिला। धन्यवाद

'रत्नावली' प्रेस में जा रही है। आशा है एक महीने में छप जायगी। आपकी सेवा में यथासमय पहुँचेगी। बहुत दिनों से अधूरी पड़ी थी। इस बार जैसे-तैसे पूरी हो गयी। मन पर एक बोझ था।

प्रेमचंद जी पर आपने जो कुछ लिखा है, बहुत अच्छा है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने वाल्मीकि की वंदना करते हुए उनके प्रति अपने संबंध में कहा है—

तव अनुगामी दास, राजेन्द्र संगमे।
दीन यथा जाय दूर, तीर्थ दरशने॥

प्रेमचंद जी के विषय में कुछ ऐसी ही मेरी स्थिति है। आपने उनकी चर्चा करते हुए मेरे विषय में जो लिखा है, वह मुझ पर आपका अति स्नेह और अनुग्रह है। मुझे भय है, उसके लिए लोग आप पर आक्षेप न करें। आप प्रसन्न होंगे। आजकल क्या करते हैं?

आपका
मैथिलीशरण

श्रीराम

६ मार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली
९-३-६१

प्रियवर मानव जी,

कृपा-पत्र पाकर अनुगृहीत हुआ।

आपका अनुग्रह और स्नेह है, जिसके कारण मेरी रचना आपको रुचती है। और क्या लिखूं? आपके पत्र से मैं कृतार्थता का अनुभव करता हूँ।

आषाढ़-मार्गशीर्ष : शक १८९८]

'रत्नावली' के साथ दो पुस्तकें और छपी हैं। क्या वे नहीं पहुँचीं? न पहुँची हों, तो लिखवाइये। घर से भेजी जानी थीं।

आप बंधुजनों की शुभ कामना से मैं चला चल रहा हूँ।

आपका
मैथिलीशरण

श्रीराम

६ नार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली
१९-३-६१

प्रियवर मानव जी,

कृपा-पत्र मिला। मैं दो तीन दिन में घर पहुँच जाऊँगा और तुरन्त दोनों पुस्तकें सेवा में भिजवाऊँगा। आश्चर्य है! भूल कैसे हो गई?

आपके संबंध में लखनऊ में किसने क्या कहा, मुझे कुछ ज्ञात नहीं। आजकल जो न कहा-सुना जाय, वही थोड़ा है। आज हाथ जोड़ना, कल लात मारने में भी, भलेमानुसों को कुछ नहीं लगता। परन्तु मैं जानता हूँ, आपका कुछ बिगड़ नहीं सकता।

आप प्रसन्न होंगे।

आपका
मैथिलीशरण

श्रीराम

१२ डी० फीरोजशाह रोड
नई दिल्ली
२५-५-६२

प्रियवर मानव जी,

'प्रसाद' जी के संबंध में आपकी नई पुस्तक पहुँची। 'कावेरी' भी आई होगी। घर जाकर देखूंगा।

मैं बीच में कुछ अस्वस्थ हो गया था। अगले अधिवेशन तक डाक्टरों के निर्देशानुसार इस बार यहीं रह गया हूँ। ऊपर चढ़ने से बचने के लिए फ्लैट भी बदल लिया है। यहीं रहता हूँ। इधर-उधर नहीं जा पाता।

आपके अनुग्रह के लिए हृदय से आभारी हूँ। उसे कैसे आप पर प्रकट करूँ, नहीं जानता।

आप प्रसन्न होंगे।

आपका
मैथिलीशरण

[[illegible]]

श्रीराम

चिरगाँव (झाँसी)
१ अप्रैल, १९६३

प्रिय श्री मानव जी,

आपका पत्र मिला। श्री सियारामशरण सहसा चले गए। मेरे जीवन में तो अपूरणीय रिक्तता आ गई। ऐसे में आप लोगों की समवेदना का ही संबल है।

शोकाकुल
मैथिलीशरण

श्रीराम

चिरगाँव
८-६-६३

प्रियवर मानव जी,

'काव्य का देवता : निराला' मिला। पाकर अनुगृहीत हुआ। बहुत-बहुत धन्यवाद। पढ़कर उपकृत हूँगा।

आलोचक के लिए सत्य ठीक ही है, पर सहानुभूति भी आवश्यक है। वह भी आपमें है, इसे स्वीकार करते हुए संतोष होता है।

मेरा शैथिल्य बढ़ रहा है। इधर ऋतु की प्रखरता भी खल रही है। ठीक ही हूँ।

आपका
मैथिलीशरण

श्रीराम

चिरगाँव (झाँसी)
२८-६-६३

प्रिय मानव जी,

पत्र मिला। मैं कल ही काशी से लौटा हूँ। ७-८ दस्त लग जाने से कुछ दुर्बल-सा हो रहा हूँ। चिंता की बात नहीं।

'युग संहार' सेवा में भिजवा रहा हूँ। यह तो पहले ही पहुँचना चाहिए था। प्रमाद के लिए क्षम्य हूँ।

अब कुछ नया आरंभ करने की स्थिति में नहीं रह गया हूँ। प्रभु की कृपा और आपका आशीर्वाद कुछ करा सके, तो दूसरी बात है।

संसद् में पढ़ी गयी रचना आपको रुची, यही बहुत है। शासन को जो करना था, वह तो उसने कर ही दिया।

आप स्वस्थ सानंद होंगे।

आपका
मैथिलीशरण

[illegible] १६९८]

श्रीराम

चिरगाँव
[illegible]

प्रियवर

मैं अस्वस्थ होने के कारण दो सप्ताह डाक्टरों के अधीन झाँसी में था। कल ही लौटा हूँ।

शिक्षा प्रसार के अधिकारियों से वृत्त-चित्र के विषय में क्या लिखा-पढ़ी हुई थी, मुझे स्मरण नहीं। परन्तु जब भी आप यहाँ पधारेंगे, मैं उपकृत हूँगा। आपको यहाँ समुचित साधनों के अभाव में जो कष्ट होगा, उसके लिए पहले ही क्षमा-याचना करता हूँ।

आपका
मैथिलीशरण

श्रीराम

चिरगाँव
२७-७-६१

प्रियवर

आपका कृपा-पत्र मिला। सियारामशरण के विषय में आपने जो कुछ अपने ग्रंथ में लिखा है, वह आपके ही अनुरूप है। उनके विषय में पहले डाक्टर नगेन्द्र जी ने एक पुस्तक लिखी थी। संभवतः वह अब अप्राप्य है। कोई सज्जन उन पर थीसिस भी लिख रहे हैं। परन्तु मुझे ठीक पता नहीं है।

मैं इधर स्वस्थ नहीं हूँ। वैसे चला चलता हूँ।

'साकेत' भेजने के लिए कह दिया था। पहुँचा होगा? और जो पुस्तकें आवश्यक हों, कृपया लिखिए।

आप स्वस्थ सानंद होवें।

आपका
मैथिलीशरण

श्रीराम

साहित्य-सदन
चिरगाँव (झाँसी)
१६-६-६४

प्रिय मानव जी

सस्नेह वंदन। आशा है, आप सानंद एवं स्वस्थ हैं। ग्रीष्म की उष्णता इन दिनों अपने पूरे यौवन पर है।

'गोपिका' पूज्य भैया की (पूज्य सियारामशरण जी की) काव्य-कृति छपी तो बहुत दिनों से रक्खी थी; किंतु उसके ब्लाक के डिजाइन में एवं उसके छपने में इतना अधिक समय

लगा, जिसके लिए अत्यंत लज्जा की अनुभूति हुई। रचना भैया के जीवन-काल में ही प्रकाशित होने को थी; पर अब प्रकाशित हुई है। आशा है आप विलम्ब के लिए कृपा-पूर्वक क्षमा करेंगे एवं रजिस्टर्ड पैकेट से भेजी गयी 'गोपिका' को स्वीकार करने की कृपा करेंगे। विशेष विनय।

भवदीय

चारुशीलाशरण गुप्त

श्रीराम

चिरगाँव

८-११-६४

प्रियवर मानव जी

ग्रंथ पाकर अनुगृहीत हुआ। आपकी साहित्य-सेवा ऐसी ही निरंतर चलती रहे।

पूज्य द्विवेदी[1] जी पर लेख पढ़ लिया। बहुत अच्छा लगा। आप तटस्थ भाव से लिखते हुए भी सहानुभूति रखते हैं, यह बड़ी बात है।

सर्विस के विषय में जानकर खेद हुआ। पता नहीं, क्या बात हुई। प्रभु और कोई प्रबंध करेंगे। आप तो विश्वासी व्यक्ति हैं।

मेरा शरीर शिथिल हो रहा है। परन्तु किसी प्रकार अजमेरी[2] पर एक बड़ा-सा निबंध लिख गया। उसकी टीस थी। छपने पर भेजूँगा।

भास के तीन[3] नाटक आ रहे हैं।

आपका

मैथिलीशरण

श्रीराम

चिरगाँव

१४-११-६४

प्रियवर मानव जी,

पत्र मिला। आपकी नियुक्ति तो कहीं होनी ही थी। फिर भी संतोष हुआ।

'प्रतिनिधि लेखक' के कुछ अंश और भी पढ़े। बहुत अच्छे लगे। आपकी आलोचक बुद्धि निर्मल है, इसका कहना ही क्या!

'स्वप्नवासवदत्ता' सेवा में आता है।

आपका

मैथिलीशरण

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से तात्पर्य है।

२. मुंशी अजमेरी

३. प्रतिमा, अभिषेक, अविमारक।

श्रीराम

चिरगाँव

२०-१२-६४

मान्यवर,

पूज्य दद्दा प्रभु की शरण चले गए[1] और उनकी छाया भी हम सब पर से हट गयी। इस शोक के अवसर पर आपके पत्र से हमें बड़ा बल मिला। हम सभी आपके कृतज्ञ हैं। आशा है आपकी कृपा हम सब पर सदा बनी रहेगी।

शोकाकुल

उर्मिलाचरण[2]

तथा कुटुम्बिजन

लहरी बुक डिपो

पोस्ट बाक्स नं० ३९

सी० २५।१ रामकटोरा रोड

काशी

२३-६-५५

प्रिय श्री मानव जी,

आप और आपके मित्रों ने मेरे पूज्य पिता बाबू देवकीनंदन जी खत्री[3] की जन्मतिथि मनाने का जो आयोजन कर डाला, उसकी बातें लड़कों के मुंह से सुनकर मुझे तो बड़ा ही आश्चर्य हुआ। साठ-पैंसठ वर्ष पहिले लिखे उपन्यासों के प्रशंसक आज भी होंगे, यह आश्चर्य की ही बात है।

आपने इसके लिए जो परिश्रम किया और कष्ट उठाया, उसके लिए मेरा हार्दिक धन्यवाद ग्रहण करें। अपने सहयोगियों और मित्रों तक भी मेरा धन्यवाद पहुँचाने की कृपा करें।

मेरे लायक कोई सेवा?

आपका

दुर्गाप्रसाद खत्री

---

१. १२-१२-६४ को हृदय की गति बंद हो जाने से श्री मैथिलीशरण गुप्त की मृत्यु हो गयी।

२. मैथिलीशरण जी के एकमात्र सुपुत्र।

३. चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति और भूतनाथ उपन्यासों के प्रसिद्ध लेखक।

कोइरीपुर
जौनपुर
३०-५-५९

प्रिय मानव जी,

आपका ध्यान मैं एक गरीब विद्यार्थी की ओर दिलाता हूँ, जो मेरे इसी गाँव का रहने वाला है और मैं जानता हूँ, वह सचमुच बहुत ही गरीब परिवार का लड़का है। किसी तरह उसने मैट्रिक तक पढ़ लिया है,—उसने मैट्रिक की परीक्षा दी है।

उसका विशेष गुण जो रेडियो के काम का है, यह है कि वह हिन्दी-कविता को बड़े ही मधुर स्वर में गाकर सुना सकता है। अतः आप उसे रेडियो में काम देते रहें तो वह आगे पढ़ भी लेगा और उसका जीवन अग्रगामी हो जायगा।

कृपया ध्यान देकर उस पर अनुग्रह कीजिए। उसका नाम और पता यह है :—

नाम—श्री मुहम्मद यासीन
गाँव—रामगंज
डाक—कोइरीपुर
जिला—जौनपुर

भवदीय
रामनरेश त्रिपाठी

लोहामंडी
आगरा
७-१२-५५

प्रिय बंधु मानव जी,

सस्नेह।

मैं उस दिन रेडियो स्टेशन लखनऊ पर गया था। आप अस्वस्थ थे। मैं आपका पता नोट कर आपसे मिलने हैदराबाद—न्यू सिविल लाइन्स गया। एक मित्र साथ थे। जेब टटोली तो आपका नोट किया पता नदारद। फिर आप तक कैसे पहुँचूँ। वहीं मेरी भांजी है। मेजर आर० एस० मिश्र मेरे दामाद हैं। उनके यहाँ होकर चला आया और आगरे के लिए चल पड़ा।

५ मीराबाई मार्ग के श्रीनारायण-भवन में ठहरा था।

आपसे भी मुलाकात नहीं हुई, श्री अमृतलाल से भी नहीं मिल पाया। रेडियो स्टेशन[1] में आप दो ही सज्जन मेरे परिचित थे। आपकी ही कृपा से मैं वहाँ बुलाया गया था।

आशा है, आप अब पूर्ण स्वस्थ हैं। बच्चों को आशीः। श्री नागर जी से नमस्कार निवेदन कर दें।

शुभेच्छु
हरिशंकर शर्मा[2]

---

१. आकाशवाणी के लखनऊ-इलाहाबाद केन्द्रों से मैं नौ वर्ष (१९५०-५९ विविध रूपों में सम्बद्ध रहा।

२. द्विवेदी-युग के प्रसिद्ध कवि पं० नाथूरामशंकर शर्मा के सुपुत्र।

VEV. Anand Kausalyayan
Head of the Department of Hindi
Vidyalankar University, Kelaniya
Ceylon

[illegible]-६४

प्रिय मानव जी

पिछली बार जब मैं भारत आया था, तो 'लोक भारती' की कृपा से मुझे 'हमारे प्रतिनिधि कवि' की एक प्रति मिली थी। मैंने उसे आज ही, अभी पढ़कर समाप्त किया है और इच्छा हुई है कि आपको बधाई दूं। और कृतज्ञता ज्ञापन करूँ कि आपने सैकड़ों मूल कृतियों के सारांश को ही नहीं, उसके सार को भी (Summary को ही नहीं, Essence को भी) इस कृति के रूप में प्राप्य कर दिया है।

आपके इस ग्रंथ का विदेशी भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए। कार्य अत्यंत दुरूह होने पर भी मैं कभी न कभी इसका सिंहल-अनुवाद कराने पर विचार करूँगा। कठिनाई यही है कि जहाँ-जहाँ आत्मा-परमात्मा के संयोग वाले 'रहस्यवाद' की चर्चा है, वहाँ-वहाँ कुछ भी सिंहल के बौद्ध पाठकों के पल्ले न पड़ेगा।

क्या कोई एक और संकलन विदेशी पाठकों को ही दृष्टि में रखकर तैयार नहीं किया जा सकता?

आशा है आप सानंद हैं।

शुभेच्छु
आनंद कौसल्यायन

कालाकांकर
१६-१-५५

प्रिय भाई

कृपा-पत्र के लिए धन्यवाद।

आपका सुझाव मुझे बहुत पसंद आया। आप कृपा करके श्री पंत जी की 'पांच कहानियाँ' पर एक समीक्षा लिख दें। धन्यवाद।

लेख एक महीने के भीतर मिल जाना चाहिए। लखनऊ आऊँगा, तो आपसे अवश्य भेंट करूँगा। विशेष कृपा।

आपका
सुरेशसिंह

कल्याणीदेवी
इलाहाबाद—२

मानव-विशिष्टता का नया आयाम : पंत का 'नव मानव'

डॉ० मीरा श्रीवास्तव

⊙ ⊙

कविता के आधुनिक बल्कि समसामयिक मूल्यों के केन्द्र में 'मानव' की प्रतिष्ठा का विशेष आग्रह है। यह उचित ही है, क्योंकि कला का जीवन से यदि सप्राण सम्बन्ध होगा तो उसके मूल में मानव और उसकी समस्या का होना आवश्यक ही नहीं अवश्यंभावी है। नयी कविता में जिस 'मानव विशिष्टता' की बात उठाई गई है, और जिसे समकालीन परिस्थितियों में खण्डित होते देख वेदना व्यक्त की गई है, वह मानव कहलाने वाले प्राणी के लिये स्वाभाविक ही नहीं सहज भी है। 'सुपरमैन' की प्रतिक्रिया में या वर्ग-मानव के प्रभुत्व से बेचैन 'लघु मानव' का केन्द्रीय विचार काफी जोशखरोश के साथ सक्रिय रहा है। उसके 'भोगे हुए यथार्थ' पर बलि-बलि जाने का भाव 'सुपरमैन' के प्रशस्ति गायन की तुलना में कम नहीं बैठता।

लघुमानव की विशिष्टता उसका आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान है जो परिवेश के समसामयिक बोध से उभरता है। इस आत्मविश्वास के विकास में बुद्धि, तज्जन्य विवेक एवं स्वतंत्र चयन का हाथ है। यह विचारधारा अस्तित्ववादी दृष्टि की उपज है, जहाँ सारी विघटनकारी परिस्थितियों में चुनाव या निर्णय की स्वतंत्रता पर बल दिया जाता है, इस स्वतंत्रता का दायित्व मानव विवेक पर है।

प्रश्न उठ सकता है कि 'मानव विवेक' क्या सर्वोपरि शक्ति है? क्या वह यथार्थ की सारी समस्याओं से पूरी तरह जूझने की अथक, अकुंठ और अक्षय सामर्थ्य प्रदान कर सकता है? क्या बुद्धि के द्वारा सब-कुछ का समाधान संभव है? क्या यांत्रिकता के पैशाचिक पंजे और तज्जन्य अमानवीय व्यक्तित्व और परिवेश को केवल 'वैज्ञानिक' बुद्धि के सहारे खोल लेना संभव है? यदि यह सब यथार्थ-सिद्ध अनुभव होता तो कविता में आज भी इतनी बेचैनी, इतना पछतावा, इतना तनाव, इतना कुंठित व्यक्तित्व क्यों उभरता? बुद्धि मानव विशिष्टता का सैद्धांतिक प्रतिपादन चाहे कितना ही करे, उस 'विशिष्टता' का अनुभव बेचैनी, निरर्थकता, तनाव में क्यों ज्यादा परिणत हो रहा है, आत्मविश्वास और आत्मसम्मान में क्यों नहीं? आज की परिस्थितियों में आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान शब्द व्यंग्य हो गये हैं, बल्कि बड़बोली लगते हैं। परिवेश इतना 'लघु' (छोटे के अर्थ में नहीं, ओछे के अर्थ में) हो गया है कि उसमें बुद्धिजनित 'मानव विशिष्टता' की स्थापना कर सकना सारे व्यावहारिक और यथार्थ धरातल पर असिद्ध हुआ जा रहा है। यदि मसीहा या वर्गमानव एक अभिशाप है, तो 'लघुमानव'

भी अपने तथाकथित गौरव के बावजूद कोई विवशता नहीं है। न तो वह अपने परिवेश पर विजय पाता है, न अपने पर ही। और प्रकृति पर विजय—चाहे अपनी हो या परिवेशजन्य—प्राप्त करने की लालसा मानव में सनातन है। भौतिक रूप में विज्ञान में जो तत्व सक्रिय हुआ है, वह मनोविज्ञान में भी किसी गूढ़ स्तर पर सक्रिय रहता है। उसे अतिमानव की एलर्जी से नकारा नहीं जा सकता। इस विजय में ही आत्मसम्मान तथा स्वाभिमान की धारणा प्रासंगिक लगती है, इसे छोड़कर केवल यथार्थ को 'भोगते' रहने में नहीं। भोगते रहना अपने आप में कोई वरेण्य स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए 'लघुमानव' और 'स्वाभिमान' यथार्थ के अनुभव से कभी-कभी एकदम विरोधी लगने लग जाते हैं। लघुता की भावना स्वाभिमान की प्रेरक हो सकती है इसमें कम ही लोगों को संदेह होगा, लेकिन वह सर्वांग मनुष्य नहीं हो सकती, यह असंदिग्ध है। डॉ० जगदीश गुप्त का यह निरीक्षण उचित जान पड़ता है : "व्यक्तित्व में लघुता दूसरों की महानता से उत्पन्न एक अभिशाप है—मनुष्य को उसके सहज रूप में लघु मानने की कोई आवश्यकता नहीं।—महानता का विरोध करते हुए वह कदापि वरेण्य नहीं हो सकती क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। —पहले अपने को लघु कहना फिर लघुता का महत्व प्रदर्शित करना प्रकारान्तर से अपने को महान् कहना है। समानता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मानव को लघु कहा जावे।" (नयी कविता : स्वरूप और समस्यायें, प्रथम संस्करण, पृ० ३९-४०) यदि लघुता से उबर कर 'सामान्य मनुष्य' की या सहज मानव की प्रतिष्ठा की जाय तो यथार्थ के अनुभव में यह 'सामान्य' बहुत कुछ मिडियॉकर के अर्थ में व्यक्त होने लगता है, उसमें मानव चैतन्य या विवेक परिस्थितियों के जाल में एकदम तिरोहित हो जाता है या समझौतावादी बन जाता है।

तब, क्या साहित्य में जीवन की भाँति 'मिडियॉकर' मनुष्य की प्रतिष्ठा कर दी जाय? क्या वह मानव-मूल्य के रूप में—स्वाभिमान और आत्मसम्मान को मद्देनजर रखते हुए—स्वीकृत हो सकता है? यदि स्वीकृत भी होने लग जाय, जैसा कि अंदेशा है, तो क्या वह कोई सर्जनात्मक मूल्य होगा, कोई रचनात्मक अस्तित्व रखेगा? यहीं पर पंत का 'नव मानव' अपनी अशेष सम्भावनायें लेकर आविर्भूत होता है। यदि उसे केवल 'स्वप्न' की संज्ञा से विभूषित करने की लत छोड़ दी जाय, यथार्थ के अनुभव से विकसित होने की सम्भावना के रूप में सोचा जा सके तो मानव-विवेक और बुद्धि निश्चय ही किन्हीं धनात्मक (positive) निष्कर्षों पर विकसित होगी। कवि के भविष्यद्रष्टा होने की सम्भावना शायद अब चुका दी गई है, इसलिए ऐसा कोई भी अभिनव सत्य जो अभी दिखाई नही देता पर जन्म लेने की प्रक्रिया में कठिनाई से साँस लेने को उत्सुक है उसका गला यह कहकर वैज्ञानिक बुद्धि घोट देती है कि यह 'फेनॉमिनन' 'प्रकृत' नहीं है। पर क्या यह मानव चैतन्य का 'विवेक' है? क्या मानव चैतन्य और वैज्ञानिक दृष्टि दोनों पर्यायवाची हैं? क्या यथार्थ प्रकृति ही संभावित प्रकृति है, उसके अंदर से 'प्रकृति' का कोई नया रूप घटित नहीं हो सकता? क्या मानव-चैतन्य को बुद्धि के द्वार पर माथा टेक कर सदा के लिये प्रणिपात मुद्रा में पड़ा रहना पड़ेगा, या सर उठा कर आगे की चेतना की खोज में भी आरूढ़ होना पड़ेगा? आखिर उसकी नियति क्या है?

यह सत्य है कि 'नियति' यदि 'स्थिति' के बल पर पैदा हो सके तो वह विश्वसनीय होगी, अन्यथा नहीं। प्रकृतिजन्य 'स्थिति' की जड़ताओं को विज्ञान ने 'देश' के धरातल पर जिस तरह ललकारा है, तोड़ा है, उसी तरह का परिपक्व मानव-मनोविज्ञान कोई प्रयास नहीं कर सका है। प्रयासों का यह फासला ही आज की 'नियति' का जनक है। काल के अर्थ में सनातन कुछ भी नहीं है, पर 'देश' के धरातल पर चेतना की अनन्त सम्भावनायें हैं जिन्हें 'विवेक' चुका नहीं सकता। इन्हीं सम्भावनाओं की अनुभूति, परिकल्पना और स्थापना संत के चेतनावादी काव्य में 'नव मानव' के व्यक्तित्व में हुई है।

यह 'नव मानव' लघुमानव और सामान्य मानव की तुलना में बजनी पड़ता है क्योंकि न तो वह बाह्य परिस्थितियों से दीर्ण होता है, न अपनी क्षमता में कभी क्षीण। वह सुपरमैन नहीं है, समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित मानव-'आत्मा' की असली विशिष्टता का प्रतिनिधि है, प्रतीक नहीं। वह आत्मा जो केवल भोगती ही नहीं, क्षुपर्णा के रूप में साक्षी भाव भी रखती है, और इस साक्ष्य से नयी रचनात्मक क्षमता का अन्वेषण कर सकने में समर्थ होती है। एक तरह से यह सामान्य या लघुमानव के आत्मसम्मान की स्वाभाविक परिणति है, क्योंकि यहाँ आकर सम्मान या स्वाभिमान के खण्डित या विकलांग होने का प्रश्न नहीं उठता। मानव-चैतन्य का यह धरातल विवेक से आगे का है, उससे गहरे का है, यदि मानव विवेक चाहे तो उसका वरण कर सकता है। चुनाव की स्वतंत्रता तो है ही, होनी ही चाहिये। यह तो नये कवि भी स्वीकार करते हैं कि 'मानव नियति का संरक्षक या उसका निर्माता कोई देवदूत अथवा कोई अद्वैत शक्ति-प्रतिमा-संपन्न प्रभु नहीं है, वरन् समस्त मानवता है, उसकी प्रत्येक इकाई की सम्पूर्णता, समग्रता और स्वतंत्रता है। (नयी कविता के प्रतिमान : श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ० १६७)। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा आगे कहते हैं—'मानव नियति का नियन्ता और उसका लक्ष्य स्वयं मनुष्य है। वही उसका केन्द्र है और उस केन्द्र की गतिविधि और उसकी नियंत्रित शक्ति भी उसी के हाथ में है, उसी की आत्म-शक्ति और निश्चय-शक्ति में है।" (वही, पृ० १६८)।

अब इन सारी संज्ञाओं (चेतनागत) और विशेषणों पर गौर कीजिए—संपूर्णता, समग्रता, स्वतंत्रता, नियति का नियन्ता, आत्म शक्ति और निश्चय शक्ति। तो क्या ये सारे तत्व अपनी सम्पूर्ण सच्चाई के साथ केवल मानव विवेक या बुद्धि द्वारा पूरी तरह सक्रिय और उद्‌घाटित हो पाते हैं? वास्तविकता क्या है? बुद्धि में संपूर्णता, समग्रता कहाँ तक है, वह खण्ड परिप्रेक्ष्यी होती है, समग्रता का दावा करना अपनी सीमा को अनदेखा करना है। और 'स्वतंत्रता', क्या वह 'विवेक' के बल पर हाथ में आ जाती है? उससे भी आगे 'नियति का नियन्ता' रूप है—वह तो हमारी वर्तमान मानव-चेतना के हर प्रयास को छल जाता है, दगा दे जाता है। क्यों? शायद इसलिए कि इन सारे विशेषणों से विभूषित या सही तौर पर संपृक्त होने के लिये 'आत्मशक्ति' की जरूरत है, बौद्धिक शक्ति की ही नहीं। इस आत्म-शक्ति की ऊर्जा सारी शक्तियों को पराजित कर डालती है, वह अपनी अणुवत् 'लघुता' में भी ऐसा विस्फोट कर सकती है कि 'प्रकृति' के सारे फार्मूले या मान ध्वस्त हो जायें और उस विस्फोट के आगे उसकी सारी दुहाई घिघियाहट में बदल जाये। 'लघुता' की इस शक्ति को

पंत ने 'नव मानव' के स्वरूप में पहचाना है। क्योंकि उसे 'लोकायतन' की इकाई माना है—लोक जीवन का प्रतिष्ठापक सक्रिय सहज व्यक्तित्व, 'युगदर्शन' के रूप में संचालक नहीं। कवि 'वंशी' प्रेरक अवश्य है पर वह जन-जन को 'नव मानव' में गढ़ने को विह्वल है। वह स्वप्नजीवी ही नहीं, 'लोक' का 'आयतन' (निकाय) बनाने में सक्रिय सहयोगी है—अपनी चेतना से, अपने कर्म से।

तो, यह 'नव मानव' पंत के उत्तर-प्रगतिवादी काव्य का उपजीव्य है। वह 'आत्मा' की सक्रिय शक्तियों से संपन्न जीवन-क्रम में आविर्भूत होने में सक्षम प्राणी है, स्वप्नद्रष्टा या स्वप्नविलासी नहीं। आज भी परिस्थितियों का दबाव मानव पर जिस रूप में पड़ रहा है, उसे सारी वैज्ञानिकता के दम के बावजूद झेलना संभव नहीं है। यह भौतिक दबाव वैज्ञानिकता पर दबाव भी डाल रहा है कि वह अपने अंदर से 'चेतना' का 'विज्ञान' ढूँढ़े, कम-से-कम उसे टटोले! इस दबाव का जीवन्त वर्णन पंत के काव्य में है। उनके रूपक नाट्य-तत्व के अभाव में शिल्पगत वैशिष्ट्य से रहित भले ही हों, आंतरिक प्रेरणा के ज्योति-स्फुरणों से भरपूर हैं। इन्हीं काव्य-रूपकों में 'नव मानव' की कल्पना जितने विविध परिप्रेक्ष्यों के भीतर साकार हुई है, उतनी मात्र कविता में नहीं। 'शिल्पी' में कलाकार अभिनव मानव मूर्ति गढ़ने में रत है। 'स्वप्न और सत्य' रूपक वास्तविकता के संघर्ष के भीतर उदित होने वाली प्रेरणा (स्वप्न) का प्रतीक-रूपक नहीं है, धरा के प्रतिनिधियों का परस्पर संगुफन है। लेकिन नव मानव का सबसे प्रस्फुट रूप 'सौवर्ण' रूपक में अभिव्यक्त हुआ है। 'युगान्तर सूचक वादिक' के साथ देवी के माध्यम से यह कथन साभिप्राय इंगित है :

सामंतों, सम्राटों, धनिकों के युग में वह
विकसित होता रहा गुह्य अंतःस्थ कूट यह,
मर्म गुंजरित इसकी प्राणों श्रोणी में
जीवन वैभव रहा झूलता नव शोभा में। (सौवर्ण, पृ० १९)

यह 'गुह्य अंतःस्थ कूट' सबके भीतर विकसित होता रहता है क्योंकि वह अंतर्यामी है, ऊपर से आरोपित नहीं। उसे न तो मसीहा उगा सकता है, न अधिनायक मार सकता है। कोई भी तंत्र—धर्मतंत्र, बुद्धितंत्र, लोकतंत्र—उसे दिशा-निर्देश नहीं दे सकता। वह संघर्षों के माध्यम से, परिस्थितियों के दबाव से अपने अंदर से, खुद ही फूट पड़ता है, उग पड़ता है, या वह निकलता है, या विकसित होता है। यह तो भिन्न-भिन्न प्रकृति की बात है, प्रत्येक की 'विशेषता' को सुरक्षित रखता हुआ वह जीवन के क्रम में कभी-न-कभी आविर्भूत हो सकता है। 'सौवर्ण' में बुद्धिजीवी की भूमिका बड़ी अनास्थाग्रस्त है—"जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट यह।" मौलिक प्रतिमान के रूप में ही कवि के 'सौवर्ण' या स्वर्णपुरुष का उदय हुआ है। उसके लिये कवि का विश्वास है :—

"मानव मूल्यों का है स्रोत मनुज के भीतर,
जीवन मर्यादा में विकसित सहज व्यक्ति में।" (वही, पृ० ३२)

वैसे 'जन युग सागर' आलोड़ित होकर गरजता रहेगा, पर जिसे आना है वह इन उत्ताल तरंगों पर झंझा के रथ पर ही चढ़ कर आ सकता है, टूटते, पिटते, भोगते, झेलते नहीं। कहीं-

न-कहीं इस सारे अवसाद के अंदर कोई ऋजु स्रोत छिपा रहता है जो असंख्य मार और थपेड़ों की चोट से अचानक या धीरे-धीरे फूट पड़ता है, उसी अदम्य वेग से जैसे चट्टानों के प्रतिरोध से नदी का अदम्य स्रोत। इसी अदम्य जिजीविषा को लेकर पंत का नव मानव "सौवर्ण" धरती पर आविर्भूत है। वह 'लोक पुरुष' है, अधिनायक नहीं। किन्तु उसमें मानव विशिष्टता के नये आयाम उभरे हैं। लोक पुरुष 'अग्नि-पुरुष' भी है, उतना ही जाज्वल्य ऊर्जा-वान इसीलिए 'प्राणपुरुष' भी है,—जीवन की सर्जनात्मक क्षमताओं से भरपूर। और ये सारी नयी सृजनात्मक शक्तियाँ रुद्र संस्कारी चेतना के सूर्य-स्वर्ण-रथ पर चढ़कर आ रही हैं। इस लोक पुरुष का पैदल चलना भी रथ के रणन से भरपूर होगा :—

> जन धरणी को वरने आया महाकाल या ?
> दौड़ रहे उनचास पवन, कंपते मनो भुवन,
> निश्चय, यह नव कल्पांतर, यह महा युगांतर।
> नया सृजन आ रहा सूर्य के स्वर्णिम रथ पर
> अग्नि पुरुष यह, प्राण पुरुष यह, लोक पुरुष यह ! (वही, पृ० ५७)

यह 'तप्त स्वर्ण-सा' 'दारुण सुंदर' पुरुष कोई देवदूत नहीं है, ऊपर से उतरा हुआ महा-मानव नहीं, धरा के गूढ़ तमसाच्छन्न गर्भ से ही सूर्य की भाँति प्रकट हुआ है, वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य में 'विद्रोही जन का ईश्वर' प्रतीत होता है, इसीलिए सारे जीवन-क्रम को पलटने के सामर्थ्य से युक्त है। वह अपना परिचय देता है :—

> "मैं हूँ वह सौवर्ण, लोक जीवन का प्रतिनिधि!
> नव मानव में, नव जीवन गरिमा में मंडित,
> युग मानस का पद्म, खिला जो धरा पंक में,
> जड़ चेतन जिसमें सजीव सौंदर्य संतुलित ! —
>
> × × ×
>
> मैं हूँ श्रद्धा का भविष्य, जो व्यक्त जगत के
> काल ग्रसित, खंडित मानों के मृत भविष्यत्,
> वर्तमान को अतिक्रम कर, उनमें प्रविष्ट हो,
> विकसित करता अग जग को नव सीमाओं में।
>
> × × ×
>
> क्या आश्चर्य कि तुम्हें कल्पनावत् लगता हूँ ! (वही, पृ०५८-५९)

ऐसा व्यक्ति अभी कल्पनावत् लग सकता है, पर वह संभावित तो है ही। इस नव मानव के अंदर तूफानों में भी जलने वाली आत्मा की अमर ज्योति है, जो मुक्ति की राह खोजती दीप को छोड़कर निर्वासित हो जाने वाली दीपशिखा नहीं, दीप में जलने वाली दीप-शिखा। उसकी जिजीविषा का स्रोत बुद्धि नहीं आस्था की 'अमर ज्योति' है, इसलिए उसकी अपनी एक विशिष्टता है, अलग पहचान है। वह केवल विवेक के स्तर पर सक्रिय होकर कर्म के क्षेत्र में कुंठित नहीं हो जाता, वह सर्वत्र एक जैसा जल सकता है। सौवर्ण आगे कहता है :—

"तुम दीपक से भिन्न समझते दीपशिखा को?
विस्मय करते कैसे आँधी तूफानों में
जीवित रहती है वह? मैं तूफानों ही में
जलने वाली अमर ज्योति हूँ! —मैं रहस्य हूँ!
भंगुर मिट्टी के प्रदीप ही में पलता हूँ!
झंझा के पंखों पर वह जीवन ज्वाला सा
संग संग फिरता मैं अम्बर, सागर, कानन में!
भूत भविष्यत् वर्तमान मुझमें ही जीवित,
विश्व समन्वय से मैं महत्—समष्टि प्रेरणा,
सृजन प्रेरणा,—मूर्तिमान जीवन स्पंदन में!" (वही, पृ० ५९-६०)

और उसका स्वरूप क्या है? ज्योति, प्रीति, आनंद, मधुरिमा के नये स्पंदन, इंद्रियों का नया विकास, मन प्राणों की नयी अतिचेतनता। वह ऊर्ध्व चेतना को लोकचेतना में भर सकता है क्योंकि स्वयं उसके अंदर वह इसी रूप में भरी हुई है। वह 'चेतना के प्रकाश' को जीवन के सूत्रों में पिरो सकता है :

"प्राण हरित जीवन पादप में,—मूल्य सत्य में,
× × ×
नवयुग में मैं जन मानवता का प्रतीक हूँ,
ज्योति प्रीति, आनंद मधुरिमा में नव स्पंदित!
नव संस्कृति का सारथि, नव आध्यात्मिकता में,
नव विकसित इंद्रिय, मन प्राणों से अतिचेतन!
× × ×
शोषण, दुख, अन्याय, दैन्य का भूमि भार हर।
शतियों के पतझारों में भरने आया मैं
नव मधु की गुंजरित मधुरिमा ज्वाल पल्लवित!
सप्त चेतना भुवनों के अक्षय वैभव को
लोक चेतना में करने आया हूँ मूर्तित!
× × ×
युग युग से विच्छिन्न चेतना के प्रकाश को
मैं जीवन सूत्रों में करने आया गुंफित!" (वही, पृ० ६२-६३)

इसी ज्वाला से पूरित व्यक्ति में वह विशिष्टता हो सकती है जो भीषण रूप से सर्जनात्मक हो। उसमें जीवन तत्व 'प्रदीप्त पर्वत' सा है इसीलिए धरती के दलदल को दग्ध कर सकता है और कुंठित मनोभूमि को दीप्ति प्रदान कर सकता है। उसके आगमन को 'अग्नि बीज' समझकर स्वर्दूती ही नहीं देवता भी भय, विस्मय या आश्चर्य से पूछते हैं "कौन पुरुष वह?" कवि का उत्तर है :

नव युग का मानव, प्रदीप्त जीवन पर्वत सा,
धरा पंक को दग्ध, मनोनभ को दीपित कर!

युग युग के पतझर झर पड़ते उसके नभ से
धूल धुंध पुंजों सा बिखरा अग्नि बीज नव,
× × ×
नव मधु के फूलों की ज्वाला से वह वेष्टित,
रूप रंग शोभा सौरभ के अंग गुंजरित,—
दीपित उससे सूक्ष्म भुवन, युग स्वप्न मंजरित! (वही, पृ० ५५-५६)

'उत्तरा' में एक पूरी कविता 'नव मानव' शीर्षक से अवतरित है। उसकी विशेषताओं का एक के बाद एक वर्णन है। उसकी प्रमुख विशेषता बुद्धि के स्थान पर 'अंतर्ज्ञान' है। इसीलिए कवि ने उसे 'अग्नि चक्षु' एवं 'त्रिनयन' कहा है। दो आँखों से केवल स्थूलतायें दीखती हैं, तीसरा नेत्र अंतर्नेत्र है जिसके बिना घटनाओं, शक्तियों का विश्लेषण एवं उनमें निहित संभावनाओं का अवलोकन नहीं किया जा सकता। इस 'त्रिनयन' मानव को भी पंत ने सौवर्ण की भाँति 'लोकपुरुष' कहा है। उसे 'युगमानव' कहा है, जो युग द्वारा संभव हो सकता है, इसलिए 'युग संभव' है। 'अग्नि चक्षु' केवल दृष्टि संपन्न मानव ही नहीं है, उसमें चेतना का पावक इतना ज्याता है कि संपर्क मात्र से वह दूसरों में धधक उठता है, और मन के तर्कों द्वारा भी ढँका नहीं जा सकता। इसीलिए उस 'नव मानव' की ज्वाला 'जग जीवन दायक' है। सबसे पहले मानसजीवी को वह 'मनस्' के धरातल पर अनुभूत होती है :

ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव!
संपर्कज रे तेरा पावक
चेतना शिखा में उठा धधक,
इसको मन नहीं सकेगा ढँक!
यह ज्वाला जग जीवन दायक,—
स्वप्नों की शोभा से अपलक
मानस भू सुलग, रही धक् धक्!
ओ नवल युगागम के अनुभव! (उत्तरा, पृ० ४४)

उसमें न केवल मनस् को धधकाने की शक्ति है, हृदय को नया प्रकाश देने का भी सामर्थ्य है। इतना ही नहीं, वह ज्योतिर्मयी शक्ति नये सृजन की उर्वरता भी प्रदान करती है, इसीलिए नये मानवीय द्रव्यों की संभावनाओं से भरे पोत सृष्टि के अंधकार-सागर पर तिरने लगते हैं। वह नई उषा को वरण करने वाली अनादि वैदिक चेतना है :

नव ऊषा का स्वर्णाभ वरण
वह शक्ति उतरती ज्योति चरण,
उर का प्रकाश नव कर वितरण!
नव शोणित से उर्वर भू मन,
शोभा से विस्मित कवि लोचन,
नव धरा चेतना नव चेतन!
× × ×
नव मानवीय द्रव्यों से भर! (वही, पृ० ४४-४५)

यह नया मानवीय रूप देवताओं को भी पराजित करने वाला है। वे यदि धरती पर आयेंगे तो नर की छाया में। उसकी नवीन श्री से धरती का मूल रंग जायेगा। उसकी 'स्वर्ण चेतना' की व्यापक नये प्रकार की मानव जाति उत्पन्न करेगी, ऐसी जो 'मानवों का मानव' होगा, मर्त्य धरती को न केवल स्वर्ग बनायेगा बल्कि इससे समस्त भार को धारण करेगा :

वह पूर्ण मानवों का मानव
जो जग में करता कमिक चरण,
वह मर्त्य भूमि को स्वर्ग बना
जन भू को कर लेगा धारण!
अब नरा हृदय-शोणित से रंग
नवयुग प्रभात श्री में मज्जित,
अब देव नरों की छाया में
भू पर विचरेंगे अंत:स्मित! (वही, पृ० १०३-१०४)

कवि को मानव का यह नया रूप काल-चक्र में अवश्यंभावी प्रतीत होता है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में 'आधुनिकता' को चुनौती देता हुआ यह मानव 'अत्याधुनिक' है—क्योंकि वह बहिर्प्रसरित नहीं, अंतर्विकसित होगा, तार्किक नहीं 'चैतन्य पुरुष' होगा, —अंत:प्रबुद्ध तथा बहि:शुद्ध, एक शब्द में 'ज्योतिपद्म'। इसीलिए वह सर्वगत होगा, देशातीत :

अंत:प्रबुद्ध
बहि:शुद्ध
पूर्व पश्चिम का नहीं,
काल की देन
अत्याधुनिक
अंतर्विकसित
चैतन्य पुरुष,
ज्योति पद्म! (कला और बूढ़ा चाँद, पृ० १६४)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस अत्याधुनिकता में समाप्त हो सकेगा क्योंकि वह चैतन्य पुरुष द्वन्द्वों की सार्थकता को प्रज्ञाचक्षु से देखकर समतल द्वन्द्वों के ऊपर उठ जायेगा और सबके सार तत्त्व को सौम्य पंखुरियों के समान समेट कर 'हीरक पद्म'—सा ज्योतित काल-नाल पर खिला रहेगा :

काल नाल पर खिला
नया मानव,
देशधूलि में सना नहीं!
समतल द्वन्द्वों से ऊपर दिक् प्रसारों के
रूप रंग
गंध रज मधु
सौम्य पंखड़ियों में संवारे,
हीरक पद्म! (वही, पृ० १६४)

इन विभिन्न बिम्बों या प्रतीकों के माध्यम से कवि ने अपने 'नव मानव' का स्वरूप व्यंजित किया है। 'सत्यकाम' में कवि के इस नव मानवत्व की खोज का सांगोपांग निरूपण है। किस तरह सत्यकाम आत्मा और प्रकृति का अद्भुत मिश्रण बनता है—इस साधना का वर्णन हुआ है। जो बात उसमें खटकती है, और सर्वत्र पंत-काव्य में खटकती है, वह है भीषण अथवा जटिल कर्म-जीवन का अभाव। बल्कि 'लोकायतन' में कर्मजीवन के कुछ सरल सूत्रों को 'सुंदरपुर' ग्राम में संयोजित किया गया है। इसलिए वहाँ नव मानव का स्वरूप, जितना कुछ कवि से संभव है उतना, विश्वसनीय बन पड़ा है। 'पुरुषोत्तम सौवर्ण राम' ही नये मनुष्य के रूप में कवि की अंतर्दृष्टि के सम्मुख पुनः आविर्भूत होते हैं :

पुरुषोत्तम सौवर्ण राम, नव रवि से
विश्व क्षितिज पर पुनः परम श्री शोभित,
× × ×
सौम्य, चाप-शर हीन, खड़े युग सम्मुख,
आँखों को नव विश्व रूप देता सुख,
जन समूह में श्रम-प्रिय साधारण-से
देख रही तुम में, नव मानव का मुख!
राजा थे तब, सर्व एक में पूजित,
लोकतंत्र अब, सब में सहज प्रजाजन,
बँधा चेतना मुकुल एक मुख था जो
आज खिल उठा वह, सहस्र दल बहु बन! (लोकायतन, पृ० १२)

साधनों का बहिष्कार नहीं स्वीकार है, पर उनके हाथों में यंत्रवत् नाचने की जगह अंतर्जगत् के प्रकाश से परिचालित होगा नव मानव। अंतर और बाह्य जगत् का संयोजन ही पर्याप्ति नहीं होगा, उसे आत्मा के रस में सुसंस्कृत भी करना होगा—

नवयुग की स्थितियों से ले साधन
अंतःक्षितिजों से प्रकाश अभिनव,
बहिरंतर संयोजित वैभव की
रस संस्कृत परिणति हो नव मानव। (लोका० पृ० ५७३)

वैज्ञानिक युग को आत्म-संजीवन की आवश्यकता है। इसी के अभाव में सारा हाहाकार है, बौद्धिकता में गतिरोध है—वह केवल 'शुभ्र तमस' बनकर रह गई है। संपूर्ण सत्य अत्यंत गूढ़ है क्योंकि वह बहिर्मुखी या प्रकृति-परस्त न होकर आभ्यंतरिक आयामों से विकसित होता है, उसका तर्क विश्लेषण नहीं हो सकता, उसे तद्गत बन कर जाना जाता है :—

वैज्ञानिक युग को पिला आत्म-संजीवन
अंतश्चेतन मानव कर रहा पदार्पण!
आर्थिक तांत्रिक सामूहिकता की भू पर
नव मनुष्यत्व अवतरित हो रहा भास्कर!

जो युग की भौतिक सीमाएँ कर विस्तृत
आता सामाजिक मानव अंतर्विकसित !
× × ×
तुम बौद्धिकता के सूक्ष्म तमस में फँसकर
मत गिरो सुनहले ध्वंस गर्त में दुस्तर !
जड़ बहिर्मुखी विज्ञान सत्य आंशिक भर,
संपूर्ण सत्य का स्वर्ग गुह्य अभ्यंतर !
× × ×
छू पाता उसको नहीं तर्क विश्लेषण,
तद्गत जीवन-मन की स्थिति उसका दर्पण ! (वही, पृ० २२४)

इसी रूप में मनुष्य प्रकृतिविजित न होकर आत्मजयी होगा, उसकी जड़ता और चेतना दोनों का विकास होगा क्योंकि गूढ़ चैतन्य (जिसे लोग ईश्वर—आत्मप्रभुत्व के अर्थ में—की संज्ञा देते रहे हैं) नर में बदल जायेगा। अवतार या मसीहा की जरूरत नहीं रहेगी, स्वयं मनुष्य में ही वह चैतन्य अवतरित होगा :

प्रकृति विजित वह, बने आत्मविजयी,
सृष्टि कोश उपकृत हो पा नव नर,
एका विकास, प्रतीक्षा में जड़-चित्—
ईश्वर का नर में हो रूपान्तर ! (वही, पृ० ५६१)

यह रूपान्तर अंतर्जीवन के विकास से संभव है। इसमें जीवन की मधुमती भूमिका छोड़ने की जरूरत नहीं है, उसे प्राण के पावक से रससंस्कृत करने की जरूरत है। इस 'ज्योति स्फूर्ति' से स्पंदित प्रेरित वह कर्म-जीवन में अंतःस्थित होकर संलग्न रहेगा, उद्भ्रांत या विकल या tense होकर नहीं :

अधिकृत कर रस तत्व, प्राण पावक
रजत भाव अंबर में कर संचित,
ज्योति स्फूर्ति से उर अहरह स्पंदित
लोक कर्म रत रहता अंतःस्थित ! (वही, पृ० ५६४)

प्रश्न उठता है कि भीषण कर्म-जगत् में अंतःस्थित कैसे रहा जा सकता है, चिंतन के क्षणों में यदि संभव भी हो जाय तो बाह्य जीवन में कैसे संभव है ? उत्तर में 'गीता' के निदान के अलावा यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे अंतःआलोक बढ़ता है, बाह्य कोलाहल शांत होता जाता है, कर्म की प्रेरणा चेतना अंतर्ज्योति का निर्देश या प्लावन बनती चलती है। है यह मुश्किल अवश्य, लेकिन अन्य निदान क्या है ? बुद्धिवादी तार्किक की टूटन छिपायी नहीं जा सकती, पश्चिम के निष्कर्ष सर्वविदित हैं। तो क्या भौतिक सीमाओं से समझौता कर लिया जाय और सभ्यता को बर्बर युग का आधुनिक संस्करण बनाकर 'आधुनिकता' की दुहाई देते चले जाया जाय, वैज्ञानिकता का नारा लगाये रखा जाय। इस नारे या इस दुहाई का अंजाम क्या हुआ है, और क्या होगा ? पार्थिवता के धरातल पर यही न कि एक तरफ नारा लग'

रहे दूसरी तरफ 'बांगला देश' दुहराया जाता रहे! क्या बर्बर जैविकता का संस्कार वैज्ञानिक बुद्धि या तर्क विश्लेषण से संभव है? क्या मानवीय संवेदना का बौद्धिक धरातल पर्याप्त है? क्या उस स्तर पर मानव-विशिष्टता अपना आत्मसम्मान और स्वाभिमान सुरक्षित रख पाती है? कविवर पंत आश्वस्त हैं : नहीं। धरती को मानव-विशिष्टता का नया आयाम उपजाना होगा। वस्तुतः युग इसी प्रसव-वेदना से पीड़ित है :

युग-प्रसव वेदना से पीड़ित
गर्भित तुमसे भीतर अंतर,
नव मानव को दे सकूँ जन्म
मैं नव जीवन की जन-भू पर! (समाधिता, पृ० ९६)

'बांगला देश' की ज्वलंतता ने कवि को इस निष्कर्ष पर सकारण प्रेरित किया है। केवल अंतर्जगत् के अनुभव के आधार पर ही वह अपने नव मानव की घोषणा नहीं करता रहा, कटु यथार्थ की प्रेरणा भी उसके पीछे सक्रिय रही है। विज्ञान का युग भस्मासुर बनकर अपने ही सिर पर हाथ रखकर खुद नष्ट हो रहा है। अणु-भूत मानवता को 'आत्म संजीवन' चाहिये, तभी विश्व सभ्यता या संस्कृति बनी रह सकती है अन्यथा नहीं। अंतर्जगत् के विज्ञान में ही मानव का विकास सुरक्षित है :

पृष्ठभूमि पर यह
है सोने की बङ्गला भू!
समारंभ भर
मानवता के नये युग का!
× × ×
सत्यवान की प्रेमी है
उसकी सावित्री!
उसकी प्रतिमा
अंतर्जग की वैज्ञानिक
निर्माण कर रही
मनुष्यत्व नव
स्थूल सूक्ष्म कर संयोजन! (समाधिता, पृ० १७२-१७५)

●

—८९ टैगोर नगर,
इलाहाबाद

सूफी काव्य में भाव ध्वनि

डॉ० रामकुमारी मिश्र

⊙ ⊙

भाव स्पष्टत: स्थायी भावों से सम्बद्ध हैं किन्तु विभावों की सम्यक् योजना न होने पर भी वे प्रयुक्त हो सकते हैं अत: अनुभावों के आधार पर अथवा चित्तवृत्तियों की प्रधानता के अनुसार भाव ध्वनियों का निर्णय समीचीन प्रतीत होता है। सूफी काव्यों (१४-१६वीं शती के) में प्राप्त भाव ध्वनियों के स्थलों की संख्या काफी बड़ी है (कुल २१५ स्थल)। हमने भावों की एकरूपता के अनुसार इन्हें २७ वर्गों में विभाजित किया है। यह विभाजन सर्वमान्य ३३ संचारी भावों से कुछ भिन्न है। किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि हमने जानबूझ कर अतिक्रमण करने का प्रयत्न किया है। हमारे विचार से भावों का वर्गीकरण प्राप्त सामग्री के आधार पर ही यथोचित ढंग से हो सकता है। भावों के नामकरण के पचड़े में न पड़कर यथातथ्य अंकित करना हमने श्रेयस्कर समझा है। भोज[1] द्वारा निर्दिष्ट 'अनुरागों' को हम भावों के सर्वाधिक निकट पाते हैं। हमारे द्वारा प्रस्तावित भावों का वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार है (उनके सम्मुख प्राप्त स्थलों की संख्यायें अंकित हैं)—

१. वात्सल्य २४

२. प्रकृति प्रेम ९

३. प्रेम, प्रीति, रति ८

४. विरह, विषाद, पश्चात्ताप, संताप, शोक, विलाप, निरुत्साह, उदासीनता २१

५. हर्ष, प्रसन्नता १०

---

१. शृंगार प्रकाश में भोज ने चौंसठ प्रकार के राग बताए हैं, ये हैं—अभिलाष, आकांक्षा, अपेक्षा, उत्कंठा, ईप्सा, लिप्सा, इच्छा, वांछा, तृष्णा, लालसा, स्पृहा, लौल्य, गर्धा, श्रद्धा, रुचि, दोहद, आशा, आशी:, आशंसा, सक्ति, मोह, आकूत, कुतूहल, विस्मय, राग, वेग, अध्यवसाय, व्यवसाय, कामना, वासना, स्मरण, संकल्प, रति, प्रीति, दाक्षिण्य, अनुग्रह, वात्सल्य, अनुक्रोश, विश्वास, विस्रम्भ, भाव, राग, वशीकार, प्रणय, प्राप्ति, पर्याप्ति, समाप्ति, अभिमानाप्ति, स्नेह, प्रेम, आह्लाद, निवृत्ति।

हमारे विचार से ये भाव हैं किन्तु उनमें से कई ऐसे हैं जिनमें सूक्ष्म भेद कर पाना कठिन है अत: हमने प्राय: समान भावों को एक साथ रखकर विचार किया है।

६. चिन्ता, शंका, आशंका ६

७. अभिलाषा, आकांक्षा, उत्सुकता, उत्कंठा, आशा (निराशा भी), पूर्वानुमान, शकुन २४

८. स्मरण ३

९. मोह, जड़ता, मूर्छा, स्वप्न १३

१०. तिरस्कार, अनादर, अपमान, भर्त्सना ३

११. विनम्रता, विनयशीलता, दीनता, दैन्य, अनुनय-विनय, आदर, स्तुति, भक्ति १४

१२. चाटुकारिता, प्रशंसा ४

१३. वीरोक्ति, देश प्रेम, प्रोत्साहन, उद्‌बोधन, आह्वान ९

१४. पातिव्रत्य, अनुरक्ति, निष्कलुषता, निष्ठा, न्याय १५

१५. कपट १

१६. समता, सौहार्द, सहृदयता, मित्रता ८

१७. तादात्म्य ५

१८. वितर्क ९

१९. विकल्प २

२०. क्रोध, उग्रता २

२१. भय, त्रास ५

२२. आश्चर्य ५

२३. व्यंग्य (हास्य) ३

२४. करुणा २

२५. घृणा १

२६. आशीष ३

२७. लज्जा ५

इनमें से वात्सल्य, प्रकृति, प्रेम-प्रीति, रति—ये तीनों शृंगार रस से सम्बद्ध हैं। वीरोक्ति, देश-प्रेम आदि (१३ वाँ वर्ग) वीर रस से; पातिव्रत्य, समता आदि (वर्ग १४, १६) शृंगार तथा शान्त रस से; क्रोध, उग्रता रौद्र रस से; आश्चर्य, अद्‌भुत रस से; व्यंग्य हास्य रस से; करुणा करुण रस से; घृणा वीभत्स रस से सम्बन्धित भाव ध्वनियाँ हैं।

इन भाव ध्वनियों में से कुछ तो पाँचों सूफी काव्य कृतियों में समान रूप से पाई जाती हैं, कुछ केवल चार में, कुछ तीन, कुछ दो और कुछ केवल एक-एक कृति में पाई जाती हैं। इस दृष्टि से भाव ध्वनियों को निम्नांकित प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

पाँचों कृतियों में समान रूप से प्राप्त : प्रेम, प्रीति, विरह, अभिलाषादि, पातिव्रत्यादि।

चार कृतियों में समान रूप से प्राप्त : वात्सल्य, प्रकृति, विनम्रतादि, वीरोक्ति, वितर्क, लज्जा।

तीन कृतियों में समान रूप से प्राप्त : हर्ष, प्रसन्नता, स्मरण, भय, त्रास, व्यंग्य।

दो कृतियों में समान रूप से प्राप्त : जड़ता, मोहादि, चाटुकारितादि, समतादि, तादात्म्य, विकल्प, क्रोधादि, आश्चर्य, आशीष।

केवल एक कृति में प्राप्त : तिरस्कार (चन्दायन), कपट (माधवानल), करुणा (माधवानल), घृणा (मृगावती)।

समस्त भाव-ध्वनियों में वात्सल्य, विरहादि, अभिलाषादि के उदाहरण सर्वाधिक हैं। इन भाव ध्वनियों में कुछ विरोधी भावों से जन्य हैं—यथा वर्ग ११ तथा १२। कुछ भाव ध्वनियाँ सर्वथा नवीन हैं—यथा तादात्म्य, पातिव्रत्य, निष्ठा तथा समतादि। हमने वात्सल्य या वत्सलता को रस न मान कर भाव माना है। इसी प्रकार प्रकृति-प्रेम को भी हमने भाव मानना उचित समझा है। प्रेम, प्रीति, रति तथा विरह-विषाद यद्यपि शृंगार रस के संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार में अन्तर्भूत किए जा सकते हैं किन्तु भावों की विभिन्नताओं को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उन्हें पृथक्-पृथक् रखा गया है।

अब हम भाव ध्वनियों की विवेचना कतिपय महत्वपूर्ण स्थलों को उद्धृत करते हुए करेंगे किन्तु पूर्णता की दृष्टि से विभिन्न कृतियों में प्राप्त स्थलों का भी उल्लेख किया जाएगा।

१. वात्सल्य भाव ध्वनि

वात्सल्य भाव ध्वनि कई प्रकार से अभिव्यक्त हुई है—

१. सन्तान के प्रति माता-पिता का प्रेम अथवा माता-पिता के प्रति सन्तान का प्रेम।

२. सन्तानों में परस्पर प्रेम।

३. धाई, सन्देशवाहक या अन्यों द्वारा माता-पिता के समान प्रेम प्रदर्शित करना।

सुविधा की दृष्टि से विवेच्य सूफी काव्यों में प्राप्त वात्सल्य भाव ध्वनियों को हम निम्नांकित प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

(क) माँ का बेटे के लिए पक्षपात : यथा बावन की माँ चाँदा को बुरा कहती है, बावन को नहीं :

बावन मोर दूध कर पोवा, निस दिन बावन तो संग सोवा।
तूं अमरैल न देखसि काहू, जिन बहि बस नवइ गयाहू॥

—चंदायन ४९.३-४

(ख) भाई बहन का प्यार : प्रेमा का राजकुमार के प्रति भाई का-सा प्यार प्रदर्शित करना।

मैं मधुमालति राजकुमारी, संतत आछ संग महतारी।
कुँअर आहु जौ चितविसराऊं, हम घर आहि केहु तुह नाऊं॥
भाई बहिन पिता महतारी, करिहैं भगति अनेग तुम्हारी।

—मधुमालती, २५१.३-५

प्रेमा धाइ कुँअर पाँ लागी, छाती भरी प्रेम की आगी।

—मधुमालती, ४२३.३

(घ) माता के निर्दयी होने पर सन्तान द्वारा कुशब्द कथन : चिड़िया बना देने पर मधुमालती का अपनी मां के लिए कुशब्द कहना :

डाइनि पुनि जग धीज न धाई—मधुमालती, ३८९.५

(घ) माता पिता : पुत्र से : बोझ उतारने को कहना, कष्ट मिलने का भय दिखाना।

कहहिं पूत तैं आस हमारी, राज छोड़ कस होहु भिखारी।
और अहै जो अरथ भंडारा, अब लगि मैं तोहि लागि संभारा॥
जो तुह काज न आवे आजू, सो मेरे पुनि कवने काजू॥

—मधुमालती, १७२.३-५

बिनवै रतनसेनि कै माया, मांथे छत्र पाट निति पाया।
बेरसहु नौ लखि लच्छि पियारी, राज छाड जनि होहु भिखारी॥
निति चंदन लागै जेहि देहा, सो तन देखु भरब अब खेहा।
सब दिन करत रहेउ तुम्ह भोगू, सो कैसे साधब तप जोगू॥

—पद्मावत, १२९.१-४

(ङ) पुत्र का माता पिता से हठ या अनुरोध :
(आज्ञाकारिता भी अन्तर्निहित है)

मोहि यह लोभ सुनाउ न माया, काकर सुख काकरि यह काया।
जौ नियान तन होइहि छारा, माँटि पोखि मरै को मारा॥

—पद्मावत, १३०.१-२

यह अपनी माँ से रत्नसेन का अनुरोध है।

चरन लागि माँगौं कर जोरी, सुनहु पिता यह बिनती मोरी।
बिनु जिव कहहु कहं जाई, जिउ तेहि पहं गयां गई लखाई॥
साथ गये तुम्हरे दुख पइहौं, हिय फाटी ततखन मरि जइहौं।

—मृगावती, २३.१-३

यह अपने पिता से राजकुमार का अनुरोध है।

(च) पुत्र या पुत्री का कथन धाई से : अपनी व्यथा सुनाने, सन्देश कहने, आत्मीयता प्रदर्शित करने के उद्देश्य से।

माइ मोर तोह धाइ न होहू, तोहिं छांडि यह उठै मोरांहू।
ताकर रूप कहौं मैं तोहीं, बैठे समुझि टेक देहु मोही॥

—मृगावती, ३१.१-४

यह राजकुमार का कथन धाई से है।

धाई दोख न अहै किछ तोरा, कहेहु जोहार कुँवर से मोरा।

—मृगावती, ६०.१

(छ) धाई का स्नेह : मृगावती के अदृष्ट हो जाने पर राजकुमार की दशा देख कर :

धाय आइ जो देखै पासा, मुख में भरत न आह न सांसा।
अमिअ सींचि बैठाल संभारी, काह देख तें गा बिसंभारी॥

—मृगावती, ३०.४-५

(ज) सास ससुर से भी वत्सलता की प्राप्ति : ताराचंद तथा राजकुमार के बचन प्रेमा तथा मधुमालती के माँ-बाप से।

मीत हुत जन्मे हौ बारा, बाप बाप के तुहु मतियारा।
अहि परिवार मोसाइनि रानी, पितर तर्ई इन्ह अंसुरिन्ह पानी॥

—मधुमालती, ५२४.२-३

(अ) माँ का पश्चात्ताप : मधुमालती को पक्षी बनाकर उस पर निर्दयता करने के लिए।
तौ पिंजरा उर लावा धाई, देखी दुहिता न रही रोवाई।
जल जल गेरै निरखै बारी, नैन नीर नहिं रही पनारी॥

—मधुमालती, ३९३.१-२

२. प्रकृति प्रेम

यद्यपि इसे शृंगार रस के अन्तर्गत उद्दीपन विभाव के रूप में रखा जा सकता है किन्तु हमने इसे भाव माना है। इसके प्रमुख अंग हैं मानवीकरण, उल्लास एवं उत्साह। इसका सम्बन्ध प्रकृति के साहचर्य से है और यह चित्त के विकास को प्रदर्शित करता है। विवेच्य सूफी काव्यों में प्रकृति प्रेम सम्बन्धी भावों को हम दो प्रकार से विभाजित करके उनका वर्णन कर सकते हैं।

(अ) प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य वर्णन : इसके अन्तर्गत मनुष्य के प्राकृतिक दृश्यों के प्रति अनुराग—यथा (क) जल, ताल, मानसरोवर के वर्णन या (ख) अँबराई, मधुबन के वर्णन को सम्मिलित किया जा सकता है—चन्दायन (२२.१), मृगावती (९३.४-६), पद्मावत (३१.१-९, ३३.१-७) में प्रथम प्रकार (क) की तथा पद्मावत (२९.१-९), मधुमालती (२०१.२-५) में द्वितीय प्रकार की भावध्वनि प्राप्त होती है। इसके केवल एक-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

तालाब वर्णन : पैरहिं हंस माछु बहिराहें, चकवा चकई केरि कराहें।
दवला ढेंक बैठ झरपाये, बगुला बगुली सहरी खाये॥

—चंदायन, २२.१-२

जल वर्णन : सीतल सेत अंबुकर रूपा, एक कपूर जो सुनहु अनूपा।
फूले पुहुप कंवल तहँ अहा, लुबुधा भँवर पेम कर गहा॥

—मृगावती, ९३.३-४

मानसरोवर वर्णन : फूला कँवल रहा होइ राता, सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता।
उलथहिं सीप मोति उतिराहीं, चुगहिं हंस औ केलि कराहीं।
कनक पंखि पैरहिं अति लोने, जानहु चित्र सँवारे सोने॥

—पद्मावत, ३१.५-७

(आ) ऋतु वर्णन : बसंत तथा वर्षा ऋतु के वर्णन—

बसंत : आज बसंत नवल रितु राजा, पंचमि होइ जगत सब साजा।
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा, सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा।
बिगसि फूल फूले बहु बासा, भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा।

—पद्मावत, १८३.४-६

वर्षा : छठ मादों निसि भइ अंधियारी, नैन न सूझै बांह पसारी।
बिम गरजै फिर दहुव बरीसा, ओर बरे अर काट न दीसा।
दादुर ररहिं बीजु चमकाई, एइस न जानि कवनु दिसि जाई।

—चंदायन, २००.१-४

३. प्रेम, प्रीति, रति भाव ध्वनि

यद्यपि भोज ने ६४ अनुरागों के अन्तर्गत इनका सूक्ष्म विभेद उदाहरणों द्वारा अंकित किया है किन्तु हम इन्हें एक ही प्रकार के भाव से सम्बद्ध मानते हैं। इनमें केवल मात्रात्मक भेद हो सकता है या प्रकारों का। इनमें मूल भाव एक ही है।

कुसुम चीर तर देखेउं फरे बेल दुइ सांत।
राजा खाइ बिसरिगा, सुन अस्थन भइ सांत॥

—चंदायन, ८८.६-७

(यहाँ बेल के समान कठोर कुचों के वर्णन से प्रेम एवं रति भाव की उत्पत्ति होती है)

मैं आपन जिउ तहियइ काढ़ा, प्रेम प्रीति रस जेहि दिन बाढ़ा।
पेम लागि मैं जिउ परहेवा, भौंर मरै पै छाँड न केवा॥

—मृगावती, १८६.४-५

(अनुरक्ति जताते हुए प्रेम भाव की पुष्टि)

कैसेहुं नवहिं न नाएं, जोबन गरब उठान।
जौ पहिले कर लावै, सो पाछे रति मान॥

—पद्मावत, ४८३.८-९

(कुचों की उन्नति से आकृष्ट होना—प्रेम एवं रति ध्वनि)

४. विरह विषादादि भाव ध्वनि

इन स्थलों में प्रायः 'बिरह' शब्द पाया जाता है, अतः स्वशब्द वाच्यत्व के कारण रसदोष है किन्तु उनमें बिरह ध्वनि तो है ही।

बिरह : रकत न आवा दीख न धाऊ, हिए साल मोर उठे न पाऊ।

—चंदायन, ९६.९

राजा इहां तैस तपि सूरा, भा जरि बिरह छार कर कूरा।

—पद्मावत, २३५.१

विषाद : दइया कौन मैं कीन्ह बुराई, सरें कचौंर बूडेउं आई।

—चंदायन, ४५.५

रोवै बहुत बात नहिं आवै, सौंरि सौंरि पछिताय।

—मृगावती, २०.७

भयमिश्रित विषाद : कहै काहु मैं सुना देवराउव, सन एक माहं कुंवर जो आउब।

—मृगावती, ५८.५

मोंहि न कोइ केहि मिलवै रोई, को भर बाँधि [illegible] होई।
भँवर [illegible] [illegible] कंवल कहुँ, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] मरा कोई हस्ति तहँ, पूरि भयेउ सब बेलि॥

—[illegible]

वियोग : मोंहि भर [illegible] बीर तुम्ह दीन्हा, पंछी [illegible] सों मानुस कीन्हा।
मठ जिउ रहत बीर तोंहि देवे, आजु उजार जगत मोंहि लेवें।

—मधुमालती, ५३०

को अरि भयेउ हमरेउ को उपकार यह [illegible]।

—मृगावती, ६५.७. इल

५. हर्ष, प्रसन्नता ध्वनि

प्रेमी तथा प्रेमिका के मिलने या मिलने की आशा से जन्य उत्साह के कारण हर्ष तथा प्रसन्नता के भाव उत्पन्न होंगे।

सूफी काव्यों में हर्ष तथा प्रसन्नता की ध्वनि कई प्रकार से प्राप्त होती है।

प्रिया के वासस्थान के दर्शन : गहगहाय मन मन जिउ उठई, कहिसि कंचनपुर इहवँ अहई।

—मृगावती, १६४.३

संदेश : सुनत संदेस कुँवर गा आई, कंचुकि तरकि तरकि उर आई।

—मृगावती, ३२५.२

दिशाओं से आभास : कहै कौन दिसि आजु सोहावा, जाहि बास में प्रीतम पावा।

—मधुमालती, ३१८.२

झूला झूलना : घोइ सब अपने रंग बौरानी, झूलहिं गाइ गाइ पिक बानी।
झूलहिं सब जोबन मदमाती, आँचर उड़हिं न ढांपहिं छाती॥

मधुमालती, ४७१.४-५

प्रिय का नाम श्रवण : सुवा परत माधौनल जागा, पलटे प्रान सुनत भ्रम भागा।
चली साँस आँखी उघर, कीन्ह प्रान बिश्राम।
कामकँदला कंवला, लेत उठा मुख नाम॥

—माधवानल, १३२.५-७

६. चिन्ता, शंका आदि ध्वनि

चिन्ता दो प्रकार की है—प्रेमी के लिए चिन्ता (रतिजन्य) तथा भयमिश्रित चिन्ता। चन्दायन तथा पद्मावत में प्रथम प्रकार की ध्वनि किन्तु मृगावती, मधुमालती तथा माधवानल में द्वितीय प्रकार की ध्वनि पाई जाती है।

रतिजन्य चिन्ता : धाई पद्मावती से पूछती है :

पूछ धाइ बारि कहु बाता, तूं जस कंवल करी रँगराता।
केसरि बरन हिया भा तोरा, मानहुं मनहिं भयेउ कछु तोरा॥

मकन न पावै संचरै, भंवर न तहां बईठ।
मुहि कुरंगिनि कस भई, मनहुं सिंघ तुह डीठि॥

—पद्मावत, १६९.६-९

समाविष्ट चिन्ता : कुंवर की चिन्ता

औ रे मुवंचम हम कहं आई, मिरगावति सौं को कहु जाई।

—मृगावती, ८८.५

पेमै कहा सुनु राजकुँवारा, सजग होहु नइ राकस बारा।
सुनतैं चकित भा जिय माहीं, भंग माहिं रिपु जीतब काही।

—मधुमालती, २६०.३-४

नीच भाव करि करैं अंदेसा, अब का कहिहौं ताहि संदेसा।

—माधवानल, १२३.७

७. अभिलाषादि ध्वनि

ये भाव ध्वनियाँ चिन्ता से भिन्न हैं। रूपाकर्षण जन्य उत्सुकता, उत्सर्ग से युक्त अभिलाषा, पूर्वाभास, शकुन आदि मनोवांछित फल की प्राप्ति—ऐसी भाव ध्वनियाँ इस वर्ग में सम्मिलित हैं। निराशा इस वर्ग की ध्वनियों की विलोम ध्वनि है। यह माधवानल(५१.४-५) में पाई गई है।

रूपाकर्षण जन्य उत्सुकता : चाँदा का नाम सुनकर राव का आसक्त होना।

बाजिर कौन देस सो नारी, ठौर कहउ बउ तुमहि बिचारी।
करन कहउ औ लखन बिसेखी, अछरी रूप सो तिरिया देखी॥
मारग कौन कैस बेवहारा, लांब छोट कस आह—

—चंदायन, ७४.४-६

अभिलाषा : सो दिन सखी होइ कस, जेहि पाऊं पिय चाह।
तन मन जोबन बलि करौं, और बस्त है काह—

—मृगावती, ३२०.६-७

दई बिधात पूजइ आसा, अस तिरिया जो पावइ पासा—

—चंदायन, ३०५.२

रातिहु देवस इहै मन मोरे लागौं कंत छार जेंउ तोरे—

—पद्मावत, ३५२.७

बिधि सो देवस कब होइहि मोरा, जो देखब ससि बदन इंजोरा।

—मधुमालती, २४४.५

निष्ठा से युक्त अभिलाषा : सौ पदुमावति गुरु हौं चेला, जोग तंत जेहि कारन खेला।
तजि ओहि बार न आसौं दूजा, जेहि दिन मिलै जातरा पूजा॥

—पद्मावत, २४६.१-२

सम्भावना : जो बिधि इन्ह दुहुं होइ मेरावा,
बाजै तीनो लोक बधावा

—मधुमालती, ६९.२

उत्कंठा : मिलन औधि सुनि जिउ महुवरा,
दौरि कुँवर पेमा पाँव परा।
—मधुमालती, २११.१

आशा : पंडित बैद बिदेसिया, गुनी सो सुंदर आहि।
सनमुख आवत देखि कै, रहीं सखीं सब चाहि॥
—माधवानल, १३४.६-७

शकुन : कहा आजु अस सगुन जनावा, हरखि हरखि के गहबरि आवा।
फरकै नैन भुआ बर मोरा, पान पियार आव कोउ कोरा॥
—मधुमालती, २८१.२-३

८. स्मरण

रोदन रूप स्मरण, गुण कथन—ये विप्रलम्भ शृंगार के ही अंग हैं।

चंदायन, मृगावती तथा मधुमालती में स्मरण ध्वनि के उदाहरण प्राप्त हुए हैं।

रोदन : कुँवर नाव सुनि रोवै बारी, जस गजमोति ढाँट कै मारी।
—मृगावती २७७.१

रूपस्मरण : चाँदा की सखी से लोरक का कथन—
जेहि दिन हौं जेउनार बोलावा, महर मंदिर काहू देखरावा।
सौ जिउ लै गई कही न जाई, बिनु जिउ भयेउ परेउ बहराई॥
—चंदायन, १६८.४-५

(यहाँ पर 'काहू' 'सौ' पदों से ध्वनि मिलती है)

गुणकथन : जौना का ताराचंद से मधुमालती के उड़ने की बात कहना—
ता दिन ते मैं फूल न गांथे, फूल गांथि बांधौं केहि माथे।
जेहि निति गुंथे पुहुप कर माला, तिथि हरि लीन्हा पहिरन हारा॥
—मधुमालती, ३८५.४-५

९. मोह, जड़तादि

ये रतिजन्य भाव हैं। मोह, जड़ता, मूर्च्छा पृथक्-पृथक् तथा एक साथ भी अंकित हुए हैं। चंदायन तथा मधुमालती में ही इनके उदाहरण प्राप्त हैं।

मोह : देखि रूप चखु भर्मे, सौंह न सकै सँभारि।
रक्त आँसु बह नैनन्हि, पलक न जाइ उघारि॥
—मधुमालती, १०१.६-७

जड़ता : बचनी बान कै मारे मैं न सकेउँ जग पेखि।
—मधुमालती, ८१.६

मूर्च्छा : पूछ छोर झार सी नारी, देखसहि रात होंम अंधियारी।
डँक चढ़ सुन राजा, परा लहर मुरझाइ —चंदायन, ७६.५-६

मोह, जड़ता, मूर्च्छा : परत दिस्टि जिउ लै भी हरी, बिनु जिउ काया भुइँ कबि परी

जिव परबस भा धरती, परा अहि बिसंभार।

जस कोइ साँप डसा, बिसंभर बकतिन सकै पुकार॥

—मधुमालती, ४७२.५-७

१०. तिरस्कारादि

चंदायन में ३ स्थलों पर प्राप्त हैं—

८२.७, १६१.१-५, ३१२.३-७।

सुवन सुना हुत तुम्हरा नाऊँ, तरसि मुयउं पै सेज न पायउं।

जस आयेउं तस मैके गयऊं, दई क लिखा सो मैं पयेऊं॥

बहुरि जाहु घर अपने, बावन संग तज मोर

(चाँदा बावन का तिरस्कार करती है।)

इस वर्ग की भाव ध्वनि की विलोम भाव ध्वनि दया ध्वनि है जो मृगावती (३१८.१-३) तथा मधुमालती (१०८.३-५) में पाई जाती है।

११. विनम्रतादि

ईश्वर के प्रति स्तुति, दैन्य दीनता भाव तथा अपने बड़ों से विनम्रता, विनय-शीलता, आदर-भाव मानकर इस वर्ग की योजना की गई है। भक्तिभाव भी ईश्वर के प्रति भावों की अभिव्यक्ति है। कुछ आचार्यों ने भक्ति को रस माना है।

स्तुति, विनय या भक्तिभाव : तीनि भुवन तैं रखक साईं, केहि जांचौ तोहि छांड़ि गोसाईं।

जग जीवन दायक बिनु तोहीं, को बूड़त पै काढ़ै मोंहीं॥

—मधुमालती, १७५.२-३

आदरभाव : जेहि जेहि मारग पग धरा, तेहि तेहि सीस धराउं।

—मृगावती, ७५.७

जबहिं प्रानपति हियरे छाये, कुच सकोच उठि बाहर आये।

—मधुमालती, ९१.५

(यहाँ पर कुचों का मानवीकरण हुआ है—वे आदरभाव व्यक्त करते हैं)

दयानिधि तुह रूप मुरारी, राजा के राजन्ह सिधि भारी।

—माधवानल, १४२.२

विनम्रता (लघुता स्वीकृति)

रतनसेन बिनवा कर जोरी, अस्तुति जोग जीभ नहिं मोरी।

तुम्हं गोसाइं जेइ छार छ्ड़ाईं, कै मानुस अस दीन्ह बड़ाई॥

जौ तुम्ह दीन्ह तौ पावा, जियन जरम सुख भोग।

नाहिं तौ खेह पाय कै, हौं न जानौं केहि जोग॥

—पद्मावत, २८७.६-९

१२. चाटुकारिता, प्रशंसा

अनुनय-विनय के रूप में अथवा रूप-गुण प्रशंसा के रूप में अभिव्यक्ति को चाटुकारिता या प्रशंसा भाव ध्वनि कहेंगे। चन्दायन (८६.५, १७०.२-७) तथा पद्मावत (५३७,५९६,६-९) में इसके उदाहरण प्राप्त हैं—

कुमुदनी पद्मावती से चाटुकारिता के भाव से कहती है—

तोर जोबन अस समुंद हिलोरा, देखि देखि जिउ बूड़े मोरा।
दिन क ओर नहिं पाइअ जैसे, अरम ओर पुइं पाउब कैसे॥
देखि अनूप तोर नैना, मोहि लागहिं बिख बान।
बिहंसि कँवल जौ आनै, भँवर मिलावौं आनि॥

—पद्मावत, ५९६.६-९

आकांक्षा से युक्त चाटुकारिता या रूप प्रशंसा :

का कहुं अस कै दई सवांरी, को तिह लागि दई अंकवारी।

—चंदायन, ८६.५

१३. वीरोक्ति, देश-प्रेमादि

शुद्ध देशप्रेम भाव के उदाहरण केवल पद्मावत में हैं, किन्तु वीरोक्ति के उदाहरण कई कृतियों में प्राप्त हैं। प्रोत्साहन का एकमात्र उदाहरण चंदायन में है जिसमें अभिसार के लिए प्रोत्साहन है।

देश प्रेम, मातृभूमि प्रेम : चितउर है हिन्दुन्ह कै माता, गाढ़ परै तजि जाइ न नाता।

—पद्मावत, ५०२.३

वीरोक्ति : यह चितउर गढ़ सोइ पहारू, सूर उठै चिकि होइ अंगारू। —पद्मावत, ४,९३.७

कुंअर कहा जो सोवत मारौं, पुरसन्ह माँहि पुरुषारथ हारौं।

—मृगावती, १७२.५

कसेहि कौन है तोर का नाऊं, काल गहा आयेहु हम ठाऊं।
मीच आइ जानहु सिर चढ़ी, तेहि अभाग आयेहु हम मढ़ी॥

—मधुमालती, २६३.१-२

प्रोत्साहन : लोरक से बिरस्पत का कथन—

उतरु बीर जौ उतरै पावसु, तरल पंथ जो चढ़त संभारसु।
कै कारन हनुवंत बर बांधउ, कै कर लाइ पंखि सर साधउ॥

—चंदायन, १९३.४-५

१४. पातिव्रत्य आदि

इसके अन्तर्गत निष्ठा, निष्कलुषता, अनुरक्ति का वर्गीकरण इस दृष्टि से किया गया है कि ये सभी भाव चित्त की ऐसी वृत्ति से सम्बन्धित हैं जिससे प्रेमी या प्रेमिका का अनेक कष्टों के बाद परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित रहता है। सूफी साधना का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। अतः सूफी काव्यों में ऐसी भावध्वनि का पाया जाना सहज एवं स्वाभाविक है। हमारे विचार से सूफी काव्य में अप्रस्तुत विधान की यह महत्वपूर्ण कड़ी है।

वात्सल्य : जिउ पाइअ जग जन्मे, पिय पाइअ कै जीव।—पदमावत, [illegible]

तव गुन हम हिय अस कै छाये, चित्र लिखे पुनि मेटि न जाये।
मम मनि बिसरिअ आह तुव गुन गुनि गुंथी जिअ माल।
तुअ नाम निज मंत्र किय, जपति रैनि बासरि हौं बाल॥

—मृगावती, १९५.५-७

निष्ठा : वोहि लगि जीउ संकलपेउ, आपन जो भाव सौ होउ।
जो जिउ दीजै दक्खिना, ताकर कौन मुरोउ॥

—मृगावती, ८१.६-७

जानत नेह पतंग, मिलत नैन नहिं रहि सकै।
देखत होमइ अंग, छूटै बिरह बियोग ते॥

—माधवानल, ५५.६-७

अनुरक्ति : मिरगावती के पेम रस कैसेहु निकसि न जाइ।
चित मयंद हिय पंक ज्यौं, खिनु खिनु अधिक सोहाय॥

—मृगावती, ६७.६-७

१५. कपट

असत्य भाषण द्वारा कपट भाव—
मैं देखा माधौनल जोगी, पुर उजैनि मो बिरह बियोगी।
नारि बियोग तासु दुख मैऊ, बिरह के सूल बिप्र मरि गयेऊ॥

—माधवानल, ११९.२-३

१६. समता, सौहार्द आदि

चंदायन (१२.३-४) तथा मधुमालती (१२.१-७ ३०५.१-७, ३२९, ३७४, ३७९.१-५, ५२६.६-७, ५२९) में उदाहरण प्राप्त हैं। यह समता न्याय के द्वारा, त्याग की भावना से, चुटकी या फटकार द्वारा या कृतज्ञता द्वारा व्यक्त होती है। आधार के अनुसार उसे सहृदयता, मित्रता या सौहार्द्र के नाम से भी पुकारा जा सकता है।

समता : हिन्दू तुरुक दुहूं सम राखै, सत जो होइ दुहूं कहं भाखै।
गउव सिंह एक पथ रेंगावइ, एक घाट दुहुं पानि पियावै॥

—चंदायन, १२.३-४

सुहृदता : कहेसि होहि जौ सौ जिउ मोरा, देउं सबै नेवछावरि तोरा।
औ न आज तोरे संग अइहौं, पुनि केहि काज कालि मैं ऐहौं॥

—मधुमालती, ३७९.२-३

चुटकी द्वारा अभिव्यक्ता : चतुराइन सो जै अति खाइहि, खाइ कै आगे पेट छपाइहि।

—मधुमालती, ३०५.४

१७. तादात्म्य

तादात्म्य दो प्रकार का होता है—१. तृप्ति के कारण यह संभोग के अवसर पर या रतिपूर्ण होने के कारण अथवा २. ईश्वर और जीव के मिलन के कारण। पद्मावत तथा मधु-मालती में ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं।

तृप्ति से : मालति देखि भँवर गा भूली, भँवर देखि मालति मन फूली।
दीठा दरसन भए एक पासा, वह ओहि के वह ओहि के पासा॥
—पद्मावत, ४१८.५-६

अधर अधर उर उर सौं, भेरे रहै सुख सोइ।
देखि समुझ ना मन परै, दुहुँ हहिं एक कि दोइ॥
—मधुमालती, ३३७.६-७

सांते पियत रूप रस दोऊ, रवि ससि मिलि एकै भौ दोऊ।
—मधुमालती, ४५०.१

रहस्यवादी दृष्टि : जस सुवास मैं मिलै समीरु, दुइ मिलि कै भौ एक सरीरु।
हेतु आइ दुहुं जीव समाना, भौ दुनहूं कर एक पराना॥
सहजे दुवौ जीव मिलि गये, रहै न अन्तर एक जो भये॥
—मधुमालती, ११८.३-५

१८. वितर्क

यह सन्देह मिश्रित भाव ध्वनि है।

१९. निश्चय

यह निश्चयात्मक चित्तवृत्ति है। चन्दायन (२७९.६-७) तथा मधुमालती (३२९.६-७) में एक-एक स्थल प्राप्त हैं।

यह जो दुख मोपै होइ एक, निज माना मैं जीव।
कै तुह मुख बर हम गरै, कै हम हाथ तुह जीव॥
—मधुमालती, ३२१.६-७

२०. क्रीड़ा-उत्सुकता

चन्दायन (२६४.१-७) तथा पद्मावत (३७७.८-९) में उदाहरण प्राप्त हैं।

२१. भय, त्रास आदि

भय तथा आश्चर्य परस्पर मिश्रित होकर उपस्थित होते हैं किन्तु हैं वे पृथक्-पृथक्। भ्रम तथा सन्देह में जो अन्तर है, वही इनमें है।

पद्मावत : ६४.३-६
मधुमालती : १३५.४-७, २०७.१-४
माधवानल : ११४.६-७

भय : कस खेलैं आइउं एहि साथा, हार गंवाइ चलिउं लै हाथा।
घर पैठत पूंछब एहि हारू, कौनु उतर पाउबि पैसारू॥

—पद्मावत, ६४.३-६

(यहाँ चिन्ता भाव ध्वनि भी है)

त्रास : देखा सखिन्ह रैन कै राई, परगट सबै चीन्ह जौ पाई।
देखि सब जिउ डरपीं, भौ अजगुत यह काहु।
जौ राजा सुनि पावै, धरि बाटी हम काहु॥

—मधुमालती, १३५.६-७

२२. आश्चर्य

यह भय या वितर्क के साथ-साथ उत्पन्न होने वाली भावध्वनि है। यह पद्मावत (३९९.१-२), तथा मधुमालती (६८.१-५, ७२.२, ४७३.३-७) में प्राप्य है।

भयमिश्रित : नैन पसारि दैत धनि चैती, देखै काहु समुद कै रैती।
आपन कोउ न देखेसि तहां, पूछेसि को हम को तुम कहा॥

—पद्मावत, ३९९.१-२

वितर्कमिश्रित : ताराचंद बाहर है परा, कै दानौ कै चुरइल छरा।

—मधुमालती, ४७३.३

२३. व्यंग्य

यह हास्य रस से सम्बद्ध है। सूफी काव्यों में हास्य रस का सर्वथा अभाव है। केवल व्यंग्य है—भावध्वनि के रूप में। स्थल हैं—मृगावती (१४४.२-३), पद्मावत (४१३.४-५) तथा माधवानल (१०२.१)।

कुंवर कहा किहु खोयेहु मीता, पाहुने की कस करहु न चिंता।
भल कै मूसल पाहुन मारा, अब न कोउ तुम्हरे आवै बारा॥

—मृगावती, १४७.२-३

(मीत शब्द में व्यंग्य है क्योंकि राजकुमार ने गड़रिये को अंधा कर दिया है)

तहं एक बाउर मैं भेंटा, जैस राम दसरथ कर बेटा।
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा, एहि समुंद महं फिरि फिरि रोवा।

—पद्मावत, ४१३.४-५

(ये वचन पंडित के रत्नसेन के प्रति हैं। बाउर, मेहरी, शब्दों के प्रयोग से हँसी उत्पन्न होती है)

राजा कहै सुनहु गुनराई, गनिका सौं कस प्रीति लगाई।

—माधवानल, १०२.१

(गुनराई, तथा गनिका शब्दों के उच्चारण से हँसी आती है।)

२४. करुणा

किसी को कष्ट में फँसा देखकर उसके कष्ट में सहयोगी होने को करुणा भाव ध्वनि कहेंगे।

माधो बचन सुनै जो कोई, सकल सभा कहुं बाचा रोई। —माधवानल, १०६.१

(माधव की वियोगावस्था पर सम्पूर्ण सभा को रुलाई आ जाती है।)

राजा निरखि बियोगिनि नारी, पूछै पुरजन सखी हंकारी।
केहि लगि इनकी सुधि बुधि गई, केहि के नेह बिरह बस भई॥

—माधवानल, ११७.१-२

(कामकन्दला की दशा देखकर राजा को दया आ जाती है। वह सखियों से पूछता है)

२५. घृणा

यद्यपि घृणा स्थायी भाव है बीभत्स रस का किन्तु मृगावती में सामान्य भाव ध्वनि के रूप में पाई गई है :

देखहि लाग जना सौलै आये घिसिआइ।
अस रे चांटी बड फनिगा ऐंचत, भार उचाइ न जाइ॥

—मृगावती, २४५.६-७

२६. आशीष

वास्तव में यह ऐसी चित्तवृत्ति है जो चित्त के विकास की द्योतक है। इसमें दूसरे की भलाई की कामना, सदिच्छा रहती है। मधुमालती (११.६-७, २४०.३) तथा माधवानल (४.१) में इसके उदाहरण प्राप्त हैं।

नौ खंड देहि असीस प्रिथिमी राज कराहु।
जौ लगि ससिहर सूर, कायम जग परछांह॥

—मधुमालती, ११.६-७

दया करै जो दीन दयाला, अलप दिनां मां मिलै सो बाला।

—मधुमालती, २४०.३

जगपति राज कोटि जुग कीजै, साहि जलाल छत्रपति जीजै॥

—माधवानल, ४.१

२७. लज्जा

समस्त भावों में लज्जा का महत्वपूर्ण स्थान है। यह शील तथा मर्यादा का सूचक है। नारियों में लज्जा का होना आवश्यक गुण के रूप में स्वीकार किया गया है।

दोउ नारि ऊमरै सचूला, नख अंग जनु टेसू फूला।
उभै करहिं हाथापाही, वस्त्र उघार तन ढाकहिं नाहीं॥

—चंदायन, २६८.२-३

(इस उदाहरण में 'वस्त्र उघार' से लज्जा भाव जाग्रत होता है क्योंकि सामाजिक संस्कार के कारण ऐसा अनुभव होना स्वाभाविक है।)

लागीं केलि करै मंझ नीरा, हंस लजाइ बैठ होइ तीरा। —६१.१

(इसमें लज्जा का उदय 'केलि करै' के कारण हुआ है। संभवतः वे नग्न थीं)।

राजा बोलै जो नेह के बैना, बिरहिनि नारि न जोवै नैना।

—माधवानल, ११४.३

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सूफी काव्यों में भाव ध्वनि का विविध प्रकार से विधान पाया जाता है। लज्जा, तादात्म्य, पातिव्रत्य, समतादि सर्वथा नवीन भाव ध्वनियाँ हैं जिनका प्रयोग इन काव्यों में मिलता है। शुक्ल जी ने[1] पातिव्रत्य का उल्लेख किया है किन्तु यह उनका अभिमत है कि जायसी में मनुष्य हृदय की अधिक अवस्थाओं का सन्निवेश नहीं मिलता, जायसी में भावों के भीतर संचारियों का सन्निवेश बहुत कम मिलता है। किन्तु वे यह भी कहते हैं कि जायसी भावों के उत्कर्ष में बहुत बढ़े-चढ़े हैं—विशेषतः विप्रलम्भ पक्ष में।

हमारे विचार से समस्त सूफी काव्यों में रस ध्वनि के साथ-साथ ही भाव ध्वनि का भी यथेष्ट विधान मिलता है। यह सूफी कवियों की व्यापक चित्तवृत्तियों का सूचक है।

—प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

●

---

१. जायसी ग्रन्थावली : रामचन्द्र शुक्ल : पृ० ९४।

रसाभास-भावाभास : एक आलोचनात्मक विवेचन

डॉ० हरिदत्त शर्मा

⊙ ⊙

आभास का अर्थ है मिथ्याज्ञान, अर्थात् किसी वस्तु का अपने वास्तविक रूप में प्रकट न होकर उस रूप में भासितमात्र होना। इस दृष्टि से रसाभास एवं भावाभास में प्रकृत रस की तद्रूप में प्रतीति नहीं होती, अपितु उनका तद्रूप में आभास होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने हेत्वाभास और अश्वाभास इन दो उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया है। रसाभास एवं भावाभास के दो रूप हो सकते हैं—रस या भाव का मिथ्या रूप अथवा अनुचित रूप। प्रथम उदाहरण के रूप में न्याय के हेत्वाभास को लिया जा सकता है। न्यायशास्त्र के अन्तर्गत हेत्वाभास एवं हेतु को समानाधिकरण नहीं माना जाता, अपितु एक-दूसरे के विपरीत माना जाता है। इसी प्रकार रसाभास आदि को रस के समानाधिकरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि निर्मल, निर्दोष अर्थात् अनौचित्यरहित ही रस या भाव हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक दूसरा मत यह है कि रस में अनौचित्य होने से आत्महानि नहीं होती, अर्थात् रस के स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ता। सदोष रस अन्ततः रस ही हैं। सदोष होने के कारण उनमें आभास का व्यवहार होता है। जिस प्रकार किसी दोषयुक्त अश्व को अश्वाभास कहा जा सकता है, फिर भी रहेगा वह अश्व ही। यहाँ उद्धृत दोनों मतों में से द्वितीय मत ही स्वीकरणीय लगता है और इसी बात को ध्यान में रखकर संस्कृत आचार्यों ने इन्हें रसपरिवार के अंगरूप में रखा है और अनुचित होते हुए भी आस्वादनीय माना है।

अभिनवगुप्त ने इस आभास को शुक्ति में रजत के आभास के समान स्वीकार किया है। उनके मत में आभास का अर्थ है अनुकृति और अनुकृति का अभिप्राय है अमुख्यता। ये तीनों शब्द एक ही अर्थ में हैं। अभिनव के अनुसार भरत ने 'शृंगारानुकृति' शब्द का प्रयोग कर यही अर्थ सूचित किया है। शिङ्गभूपाल ने अनौचित्य को ही आभासता का प्रवर्तक माना है। यह अनौचित्य दो प्रकार का होता है—असत्यत्व तथा अयोग्यत्व के कारण। असत्य आभास तो अचेतनगत होता है। इसी प्रकार नीच, तिर्यक् आदि में रसाभास अयोग्यता के कारण होता है।

शिङ्गभूपाल तथा शारदातनय ने एक अन्य आधार पर रस की आभासता का विवेचन किया है। शिङ्गभूपाल का कथन है कि अङ्गरस द्वारा अङ्गीरस की अपेक्षा स्वेच्छापूर्वक अधिक आधिपत्य प्राप्त कर लेना ही आभास है। जिस प्रकार कोई अविनीत अमात्य अनुचित रूप

से अपने स्वामी के समान आचरण कर उस पर आधिपत्य स्थापित कर लेता है, उसी प्रकार अङ्गरस का अङ्गीरस की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना ही रसाभास है।[1] शारदातनय ने भी इसी बात को दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रधान रस का एक भाग में तथा अप्रधान रस का उससे दुगुना अर्थात् दो भागों में प्रविष्ट होना ही आभास है।[2] इसका अभिप्राय भी यही है कि अप्रधान का प्राधान्य प्राप्त करना तथा प्रधान का गौण हो जाना ही अनुचित है, अतः आभासत्व का प्रयोजक है।

प्रस्तुत समस्त अभिमतों द्वारा सिद्ध है कि आभास का मूल प्रयोजक तत्व है अनौचित्य। इस अनौचित्य की विभिन्न रूपों में व्याख्या की जा सकती है और आचार्यों ने ऐसा किया भी है। रसपरक अनौचित्य सम्बन्धिनी दृष्टि के अतिरिक्त सामाजिक, नैतिक, लौकिक, शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक सब प्रकार के अनौचित्यों का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में किया गया है। इस अनौचित्य के विवेचन का आरम्भ उद्भट, रुय्यक, भामह आदि आलंकारिकों ने ही किया है। उन्होंने इसे ऊर्जस्वी अलंकार के रूप में व्याख्यात किया है। उद्भट ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि काम, क्रोध आदि के कारण अनुचित रूप में प्रवृत्त हुए रसों एवं भावों का उपनिबन्धन ऊर्जस्वी कहलाता है। उन्होंने अनुचित से अभिप्राय शास्त्रविरुद्ध होना बतलाया है। ऊर्जस् का अर्थ है बल। कोई कार्य हठात् बलपूर्वक करने के कारण ही 'ऊर्जस्वी' कहा जाता है, जैसे उद्भट द्वारा दिये गए उदाहरण—

तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्॥

में कामवश शंकर द्वारा किया गया पार्वती का हठसंग्रह शास्त्रविरुद्ध होने के कारण ऊर्जस्वी अलंकार है। काव्य का यह रूप ही परवर्ती काल में शृंगाररसाभास के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। रुय्यक ने भी ऊर्जस्वी का अर्थ बल से युक्त कहकर इस बलयोग को अनौचित्यप्रवृत्त होने के कारण स्वीकार किया है। रुय्यक ने तो स्पष्ट रूप से रसाभास एवं भावाभास संज्ञाओं का परिगणन किया है और इसे 'अविषय में प्रवृत्ति' रूप अनौचित्य कहा है। लोक एवं शास्त्र की मर्यादाओं के अन्तर्गत जो रस या भाव जिसका विषय नहीं है उसमें उसका प्रवृत्त होना अनुचित ही होगा। इस प्रकार ऊर्जस्वी अलंकार के विवेचन के माध्यम से आभास के स्वरूप का सूत्रपात इन आचार्यों की व्याख्याओं में हो गया है।

यह अनौचित्य तत्त्व जिसकी प्राणप्रतिष्ठा संस्कृत काव्यशास्त्र के आदिम ग्रन्थों में हुई है आगे के ग्रन्थों में और अधिक विस्तार को प्राप्त हुआ है। इसका मूल आधार सामाजिक, नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है। कौन भाव किन-किन अवस्थाओं में अवस्थित होकर अनुचित रूप धारण कर लेता है यह प्रत्येक स्थायी भाव के सम्बन्ध में व्याख्यात हुआ है। आचार्य विश्वनाथ ने शृंगार रस के आभास का विवेचन अधोलिखित सन्दर्भों में किया है—उपनायक में होने वाली रति, मुनिगुर्वादिपत्नीगत, अनेक नायकों के प्रति होने वाली नायिका

---

१. रसार्णवसुधाकर, २।२६३।

२. भावप्रकाशन, अधि० ६।

की रति, अनुभयनिष्ठ, प्रतिनायकनिष्ठ, इसी प्रकार अधम पात्र एवं पशु-पक्षी आदि की रति के वर्णन में अनौचित्य के कारण शृंगाररसाभास होता है। प्रस्तुत रतियों में तिर्यगाश्रित रति के अतिरिक्त सभी रतियाँ सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से नितान्त अनुचित हैं। जहाँ तक पशु-पक्षियों के रत्याद्भिावों के वर्णन का प्रश्न है, कवियों ने इस वर्णन को पर्याप्त मात्रा में काव्यों में किया है और उसे पूर्णतया मानवीय संवेदना के साथ जोड़ दिया है। कालिदास ने कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में जड़ पदार्थ तरु-लताओं, सरित्-समुद्रों तक की रति का वर्णन करते-करते भृङ्ग-भृङ्गी जैसे छोटे जीवों तथा मृग-मृगी जैसे बड़े जीवों की रति का गूढ़ वर्णन किया है। कालिदास के 'मधु द्विरेफः' आदि पद्य में भृङ्ग-भृङ्गी तथा मृग-मृगी के रतिवर्णन में सहृदय को पूर्ण संवेदनशील मानव-प्राणी की रति के समान ही आनन्दानुभूति होती है। रति ही नहीं, अन्य भावों के सन्दर्भ में देखें तो मानवेतर प्राणियों के भाव भी हृदय को उसी तरह आन्दोलित करते हैं जैसे मानव के भाव। जैसे नैषधीयचरित में हंस-विलाप के प्रसंग के 'मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी' आदि हंस के वचन सहृदय के हृदय को पूर्णतः करुणाविगलित कर देते हैं। इसी प्रकार वात्सल्य रस का एक मनोहर उदाहरण द्रष्टव्य है। एक अहेरिये द्वारा आघात किये जाने पर एक मृगी अपने नन्हें शावकों की याद कर उस व्याध से करुण-याचना करती हुई कहती है—

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गात्
मां मुञ्च वागुरिक यामि कुरु प्रसादम्।
सीदन्ति शष्पकवलग्रहणानभिज्ञाः
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः॥

यहाँ केवल स्तनों को छोड़कर शरीर के समस्त मांस को काटकर ले जानेवाली मृगी की बात वात्सल्य भाव की किस मानवीय अनुभूति से कम है? सहृदयता के कौन-से तत्त्व की इसमें कमी है? इसलिए पशु-पक्षियों की भावनाओं को भी मानवीय भावनाओं के अनुरूप समझकर और उसमें कोई अनौचित्य का अंश न देखकर उनको रसाभास न मानकर क्या रस के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न सामने आता है।

शिङ्गभूपाल ने पर्याप्त खण्डन-मण्डन के पश्चात् तिर्यगादि के भावों की रसाभासता का समर्थन किया है। इस विषय में पहला विरोधी तर्क यह है कि पशु-पक्षी आदि विभावादि के ज्ञान से शून्य होते हैं। उनके माध्यम से रस की निष्पत्ति कैसे हो सकती है। इसका उत्तर है कि ऐसा तो बहुत से मनुष्यों में भी होता है तो वे भी रस के विषय नहीं हो सकते। और फिर रस का प्रयोजक विभावादि का ज्ञान नहीं, अपितु विभावादि की उत्पत्तियोग्यता है। इस दृष्टि से तिर्यकों के वर्णन में रस है। परन्तु तिर्यकों का विभावत्व इस दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि शृंगार में तो भरतमुनि ने उज्ज्वल, शुचि एवं दर्शनीय वस्तु को ही विभाव माना है, परन्तु पशुओं में ऐसी शुचिता मिलना असम्भव है। इसका उत्तर यह है कि अपने-अपने जातियोग्य धर्मों के द्वारा करी का करिणी के प्रति विभावत्व हो सकता है। परन्तु प्रति-वादी के मतानुसार जातियोग्य धर्मों के द्वारा किसी वस्तु का विभावत्व नहीं हो सकता है, अपितु भावक के चित्तोल्लास के हेतुओं से होता है। और फिर विभावादि का ज्ञान ही

औचित्य का विवेक है। उससे शून्य पशु-पक्षी विभाव नहीं हो सकते। जहाँ तक मनुष्यों का प्रश्न है विभावादिज्ञानशून्य मनुष्यों के उपलक्षणभूत म्लेच्छों में तो पहले से ही रसाभास स्वीकार किया गया है। जहाँ तक विभावादि के उद्भव का प्रश्न है, किसी विशिष्ट वस्तु-मात्र का सम्भव ही रस का प्रयोजक है और इस 'विशिष्ट' विशेषण के प्रयोग से ही विवेकादि के तत्त्व का स्वयं अंगीकार हो जाता है। उस वैशिष्ट्य का विशेष विवेक के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। और यदि वैशिष्ट्य के बिना वस्तुमात्र का विभावत्व मानेंगे तो 'अन्वासीनमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्' इस प्रसंग में स्त्री एवं पुरुष दो व्यक्तियों की उपस्थिति मात्र से शृङ्गार हो जायगा, जबकि ऐसा यहाँ नहीं है।[1] इस प्रकार विवेक का सद्भाव आवश्यक मानने पर विभावादि का ज्ञान भी आवश्यक हो जायगा, जो पशुओं में नहीं होता। इस प्रकार शिङ्गभूपाल ने पशु-पक्षियों के भाव-प्रसंग को रसाभास के अन्तर्गत ही माना है।

अब यदि इस प्रश्न को मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनोविज्ञान में जिन सहज प्रवृत्तियों एवं तत्सम्बद्ध मौलिक मनोवेगों का विवेचन किया गया है उनका सम्बन्ध संसार के प्राणिमात्र से स्थापित किया गया है। इसी प्रकार अभिनव आदि आचार्यों ने भी काव्यशास्त्र में जिन नवसंविदों का विवेचन किया है उन्हें प्राणिमात्र के साथ ही सम्बद्ध किया है। इस दृष्टि से ये मूल भाव मानव ही नहीं, मानवेतर प्राणियों के भी भाव माने गए हैं। परन्तु इस धारणा का व्यभिचार इसी स्थान पर मिल जाता है, जैसे हास, घृणा, निर्वेद आदि भावों का कोई रूप पशु-पक्षियों में नहीं दिखाई पड़ता। अथवा यह स्वीकार किया जाय कि घृणा का कोई-न-कोई रूप उनमें मिलता है तथा प्रेम, भय, शोक, क्रोध आदि भावों का निश्चित रूप से अस्तित्व मिलता है तो इस विषय में यही कहा जा सकता है कि पशु-पक्षियों के भाव मानव-भावों की तरह उदात्तता, उत्कर्षता एवं गहनता को प्राप्त नहीं होते, उनमें चेतना का वह उत्कर्ष नहीं मिलता जो मानव के भाव में होता है। मृगी के इस वात्सल्य भाव की अनुभूति करते हुए भी हमें अन्तर्मन में इस असत्य का आभास होता रहता है कि वस्तुतः मृगी वाणी द्वारा ज्ञानवान् प्राणी मानव की तरह यह अभिव्यक्ति नहीं कर सकती, परन्तु कोई भी मानवीय माता लोक में यथार्थ रूप में इस सीमा तक सोच सकती है और अभिव्यक्ति भी कर सकती है। वस्तुतः यह तो कविप्रौढ़ोक्ति अथवा कविकृत चमत्कार है। अतः यहाँ भाव में अनौचित्य नहीं, अपूर्णता है और इसी अपूर्णता के कारण ही आचार्यों ने इसे रस के अन्तर्गत न रखकर रसाभास के अन्तर्गत रखा है।

रति के अतिरिक्त अन्य सब स्थायी भावों के अनौचित्य को भी आचार्यों ने इंगित किया है। जैसे विश्वनाथ ने गुरु आदि पर होने वाले क्रोध में अनौचित्य बताया है। जगन्नाथ ने पिता आदि तथा दीन एवं कायर व्यक्ति को आलम्बन बनाकर किये गए क्रोध एवं उत्साह को अनुचित कहा है। विश्वनाथ ने ब्राह्मणवध आदि कुकर्मों में तथा नीचपात्रस्थ उत्साह को वीररसाभास माना है। इसी प्रकार गुरु आदि की आलम्बनता को लेकर होने वाला हास, किसी महावीर योद्धा में होने वाला भय, ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डाल

1. रसार्णवसुधाकर, विलास-२।

आदि में होने वाला निर्वेद, कलहशील कुपुत्र आदि के आश्रय से अथवा वीतरागादिविनिष्ठ रूप से अर्थवान् शोक तथा यज्ञीय पशु के मांस, मज्जा, शोणित आदि के विषय में होने वाली जुगुप्सा—ये उन-उन भावों के अनुचित रूप होने के कारण तत्सम्बन्धी रसों के आभास हैं। इस प्रकार इस सम्बन्ध में यह अवधारणीय है कि कोई भी भाव एकान्त रूप से विषयनिष्ठ या वस्तुगत नहीं होता है, एक जड़ यन्त्र की भाँति सब स्थितियों में विभावादि की पूर्ण योजना रहने पर भी वही भाव उत्पन्न हो यह आवश्यक नहीं, क्योंकि भाव का सम्बन्ध मन से है, यह आत्मगत विषय है। काव्य के पाठक या नाट्य के दर्शक के सामान्य औचित्य-निकष का उल्लंघन करने पर वही भाव विपरीत अनुभूति भी दे सकता है। भय की विभावादि सामग्री रहने पर भी किसी वीर भट को युद्ध से भागते देख सामाजिक तदनुरूप भयानक रस की अनुभूति नहीं करेगा, उल्टे उस वीर के प्रति घृणा ही उसके हृदय में उत्पन्न होगी। इसी वेश्यादि में उत्पन्न होने वाली लज्जा नवोढा वधू की लज्जा जैसी अनुभूति सहृदय को न करायेगी। इसलिए रसाभास एवं भावाभास का यह विवेचन अनौचित्य से मानव-मन का सम्बन्ध जोड़कर रस सिद्धान्त को मनोविज्ञान के और अधिक समीप ला देता है।

इसी प्रकार शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन में कुछ रसों एवं भावों के सङ्कर को आभास का कारक प्रतिपादित किया है। यह विवेचन भी मानव-मन की स्थितियों को ही ध्यान में रखकर किया गया है। जैसे उनके अनुसार शृंगार हास्य से अभिभूत होने पर शृंगाराभास हो जायगा। इसका कारण यह है कि एक रक्त और एक अपरक्त—ऐसे दो व्यक्तियों की चेष्टा देखने, सुनने अथवा सूचित होने पर भी लोगों को हासकरी होती है। इसलिए हास्याभिभूत शृंगार रसाभास हो जायगा। इसी प्रकार बीभत्समिश्रित हास्य हास्याभास होता है, क्योंकि पूय, शोणित, मांस, विष्ठा आदि हास्य को विच्छिन्न कर देते हैं। भयानक से आविष्ट वीर वीराभास होता है, क्योंकि सभाओं में, स्त्रियों के मध्य में अथवा युद्ध में किसी शूरमानी का भय से पलायन कर जाना अनुचित है। बीभत्स एवं करुण के आश्लेष से अद्भुत अद्भुताभास हो जाता है, क्योंकि दिव्य वस्तुओं के दर्शन के समय अश्रु आदि का लेप और उत्त्रासन आदि अद्भुत का हनन कर देते हैं। शोक एवं भय से आविष्ट हुआ रौद्र रौद्राभास हो जाता है, क्योंकि क्रोध में अवज्ञा, आक्षेपवाक्य आदि रौद्र कर्मों के लिए उद्यम करने वाला व्यक्ति यदि डरता है या शोक करता है तो वह अनुचित है, अतः रौद्राभास है। हास्य एवं शृंगार से कवित होने पर करुण करुणाभास हो जाता है, क्योंकि शोक करने वाले व्यक्ति का वह भाव यदि स्वाभाविक है तो उसमें हास्य एवं शृंगार की चेष्टाएँ नितान्त असंगत होंगी। अद्भुत एवं शृंगार से संवलित होकर बीभत्स बीभत्साभास हो जायगा, क्योंकि रूप एवं यौवन-सम्पन्न वनिताओं का यदि बीभत्स रूप वाले पुरुष के साथ सम्भोग प्रदर्शित किया जाय तो निश्चित रूप से बीभत्स रस का हनन हो जायगा। इसी प्रकार भयानक रस यदि रौद्र एवं वीर से अनुषक्त हो तो भयानकाभास हो जायगा, क्योंकि किसी डरते हुए व्यक्ति में यदि वीरतापूर्ण अथवा क्रोधपूर्ण वचन देखे जायें तो वह भयानक रस का अनुचित रूप होगा।[1]

---

१. भावप्रकाशन, अधि० ६।

भावों के इस परस्परिक सङ्कर के आधार पर बने हुए रस के अनुचित रूप पर दृष्टि-पात करने पर ज्ञात होता है कि आचार्यों ने इसके विवेचन में मानव-मनोविज्ञान को पूर्ण-रूपेण ध्यान में रखा है। एक भाव की अनुभूति के समय एक विरोधी भाव आकर किस प्रकार असंगति उत्पन्न कर सकता है तथा सहृदय की अनुभूति को अव्यवस्थित कर सकता है इसका समीचीन ज्ञान रसाभास के इन रूपों को देखकर होता है। जैसे अवज्ञा एवं आक्षेप के वचनों के साथ लाल आँखें करके कोई व्यक्ति यदि अपना क्रोध प्रकट कर रहा हो, उसी अवस्था में यदि वह क्रोध के पात्र से डरने लगे तो वह क्रोध भाव की अनुभूति का समीचीन एवं पूर्ण रूप नहीं होगा। यों तो मनुष्य का हृदय भावों का एक जटिल जाल है। वह अनुभूति की विभिन्न जटिलताओं का अनुभव कर सकता है। वह अपने किसी प्रियजन के घातक पर क्रोध तथा प्रिय की मृत्यु पर शोक एक साथ अनुभव कर सकता है, परन्तु यहाँ दोनों भावों के आलम्बन भिन्न हैं। एक ही आलम्बन में दोनों भावों का समावेश निश्चित रूप से एक-दूसरे के परिपाक एवं आस्वाद का बाधक हो जायगा। अतः इस तरह की स्थिति अनुचित होगी और सहृदय को उसका आस्वाद भी होगा तो अनुचित ढंग से होगा और वह रस या भाव का आभास होगा। इस प्रकार सहृदय की भावात्मक स्थिति या भावदशा को ध्यान में रखकर ही रसाभास के इस स्वरूप की व्यवस्था की गई है।

अब यहाँ रसाभास एवं भावाभास के विषय में एक प्रश्न यह उठता है कि यह अनौचित्य विभाव में स्वीकार किया जाना चाहिए अथवा उस भावविशेष में। आचार्य जगन्नाथ ने 'अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्' कहकर आलम्बन-विभाव के अनौचित्य को रसाभास माना है और इस अनौचित्य का परीक्षण-निकष लौकिक व्यवहार प्रतिपादित किया है। परन्तु इस मत पर वे स्वयं ही शंका उठाकर अन्य वादियों के मत को स्थापित करते हैं कि विभाव में अनौचित्य मानने पर मुनिपत्न्यादिविषयक रत्यादि का तो संग्रह हो जायगा, परन्तु बहुनायकविषया तथा अनुभयनिष्ठा रति का संग्रह नहीं होगा, क्योंकि वहाँ विभावगत अनौचित्य नहीं है। इसलिए 'अनुचित' विशेषण विभाव में न लगाकर रति आदि स्थायी भावों में लगाना चाहिए। इस विषय में एक समुचित समाधान अभिनव ने लोचन में दिया है कि जहाँ पर विभावाभास हो तो वहाँ पर रति आदि भाव भी रत्याभास का रूप धारण कर लेते हैं और विभावाभास के कारण इस भाव की चर्वणा भी चर्वणाभास हो जाती है। उसे ही रसाभास कहते हैं। लोचनकार के इस कथन का अभिप्राय यही है कि अनौचित्य चाहे विभाव का ही हो, वह अन्ततः उस भावविशेष की चर्वणा में अनौचित्य उत्पन्न करता है। चर्वणा का यह अनौचित्य ही रस से रसाभास में विभेद उत्पन्न करता है।

रसाभास एवं भावाभास के विषय में एक अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रश्न और है और वह है इसकी चर्वणा के विषय में। रसाभास की चर्वणा का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या उसका आस्वादन रस के समान ही होता है अथवा उससे भिन्न कोटि का, यह एक विचारणीय प्रश्न है। संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने रसाभास-भावाभास की अनुभूति को दो भागों में विभक्त कर दिया है—एक आस्वादन की स्थिति और दूसरी अनास्वादन की स्थिति। प्रथम स्थिति में वस्तुबोद्धव्य आदि का ज्ञान न रहने पर सहृदय एक शुद्ध भोक्ता के रूप मे उस

सम्बन्ध विवेक से आस्वादन ग्रहण करता है और द्वितीय अवस्था में अनौचित्य बुद्धि के द्वारा जब वह एक ज्ञाता के रूप में समस्त प्रसंग का आलोचन करता है तब उसके मन पर विविध भावात्मक प्रतिक्रियायें होती हैं, जैसे 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' आदि पद्य में प्रदर्शित रावण की सीताविषयिणी रति पहले शुद्ध रति के रूप में आस्वादित होती है, बाद में उसके वक्ता रावण, विषय सीता आदि पूर्वापर सम्बन्ध का ज्ञान होने पर वही रति अनुचित रूप में भासित होने लगेगी और रति रत्याभास में परिणत हो जायगी। अभिनव ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि प्रथम अवस्था में तो एक क्षण के लिए सामाजिक की तन्मयी-भवन दशा ही होगी, उसमें तन्मय होकर रति का ही आस्वाद करेगा। उसके बाद पौर्वापर्य के विवेक का अवधारण करने से जो अनौचित्य ज्ञान होगा, वह सामाजिकों की पश्चाद्वर्तिनी स्थिति है।

अभिनव का यह मत निरपवाद रूप से स्वीकरणीय नहीं हो सकता। जैसे प्रस्तुत प्रसंग में ही देखें कि उस रावण की रति के वर्णन को पाठक किसी प्रबन्धात्मक काव्य में या नाटक में पूर्वापर सम्बन्ध के ज्ञान के साथ ही पढ़ रहा हो तब प्रथम अवस्था तो आ ही नहीं पायेगी और रसास्वाद किसी भी काल में नहीं होगा। वस्तुस्थिति यही प्रतीत होती है, परन्तु संस्कृत आचार्यों ने एक ही मान्यता को अक्षुण्ण रखा है। काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर ने इसी मान्यता को स्थापित करते हुए कहा है कि पहले रसावगम होता है और उसके उत्तरकाल में ही रसानौचित्य का अवगम होता है। यही आभासकता का प्रयोजक है, वाच्य-वाचक के अनौचित्य के समान यह रसभंग का हेतु नहीं है।[1] इसी सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न वामन ने और उठाया है कि उचितानुचित का विवेक तो लौकिक भाव-भूमि में होता है, इसलिए इस अनौचित्य से लौकिक रस की ही आभासकता हुई, सामाजिकनिष्ठ अलौकिक रस की नहीं। इसका निषेध करते हुए वे कहते हैं कि साधारणीकरण के उपाय से सामाजिक प्रकृत वर्णन में तन्मय हो जाता है और तब अनौचित्य उपस्थित होने पर सामाजिकनिष्ठ रति में भी आभासता उत्पन्न होती है।[2]

इस आभास की स्थिति के साथ-साथ आचार्यों ने एक रस के अनौचित्य के कारण एक दूसरे रस की उत्पत्ति मानी है। जैसे अभिनवगुप्त ने पूर्वोक्त रावण की श्रृंगारमयी उक्ति में हास्य रस की अवतारणा का प्रतिपादन किया है। रस की अनुभूति का सम्बन्ध सहृदय से है। उक्ति चाहे सम्पूर्ण रूप से श्रृंगारमयी हो, परन्तु इस एकपक्षीय प्रेम को देखकर सामाजिक उसे हास्यास्पद समझकर उस पर केवल हँस सकता है और उसकी चर्वणा हास्य रस में ही परिणत होती है। इस विषय पर ध्वन्यालोक की लोचन टीका में प्रकाश डाला गया है कि इस पद्य में पहले तो सहृदयों को सीता-विषयक रावण की रति की तन्मयीभाव के कारण आस्वाद्यता होती है, इसलिए पहले श्रृंगार की चर्वणा होती है। उसके पश्चात् रति के अनुचित आलम्बन का ज्ञान होने पर तद्विषयक हासोद्बोध से हास्य की चर्वणा होती है और

---

१. काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, पृ० १२२।

२. वही, पृ० १२३।

श्रृंगारचर्वणा होगी तो उसके आभास की ही चर्वणा होगी, अर्थात् ऐसी अवस्था में श्रृंगार की चर्वणा होगी भी तो अनौचित्य से युक्त होगी, शुद्ध चर्वणा तो हास्य रस की ही होगी। अभिनवभारती में तो अभिनव ने, श्रृंगार ही नहीं, करुण आदि समस्त, यहाँ तक कि शान्त रस के भी आभासों में हास्य रस ही माना है। उनका मन्तव्य है कि अनौचित्य की प्रवृत्ति से ही हास्य के विभाव का जन्म होता है और वह अनौचित्य सब रसों के विभाव-अनुभाव आदि में प्राप्त होता है। इस प्रकार आचार्य ने सभी रसों के आभास में हास्य रस ही अन्तिम रूप से स्वीकार किया है। प्रस्तुत विषय में संशोधित धारणा यह हो सकती है कि केवल हास्य ही नहीं, अन्य रसों की भी प्रतिक्रिया सामाजिक के मन पर हो सकती है, जैसे इसी प्रसंग में हास्य के अतिरिक्त रावण के प्रति घृणा एवं क्रोध की भी प्रतिक्रिया सामाजिक के मन पर हो सकती है। इसी प्रकार गुरु पर क्रोध करने वाले व्यक्ति के साथ सामाजिक हास्य का अनुभव नहीं करेगा, अपितु क्रोध के आश्रय पर या तो क्रोध ही करेगा या घृणा। इस प्रकार एक ही नहीं अनेक प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रियायें सामाजिक के मन पर हो सकती हैं। इन सब का विवेचन संस्कृत आचार्यों ने नहीं किया है। केवल प्रथम काल की अनुभूति पर ही उनका ध्यान केन्द्रित रहा है। द्वितीय काल की अनुभूति या भावात्मक प्रक्रिया इतनी अधिक विविधात्मक एवं जटिल होती है कि उसका विवेचन काव्यशास्त्र में नहीं, अपितु मनोविज्ञान में सम्भव है। किसी भाव के अनौचित्यबोध के पश्चात् किसी व्यक्ति की तद्गत अनुभूति की कितनी और किस प्रकार की मानसिक प्रतिक्रियायें होती हैं इस विषय का विवेचन मनोविज्ञान की सीमा के अन्तर्गत है और इस स्थान पर आकर भी काव्यशास्त्र मनोविज्ञान की सहायता की अपेक्षा रखता है।

रसाभास एवं भावाभास के विषय में एक अन्तिम शंका और है जिसे डॉ० राकेश गुप्त ने उठाया है कि यह तो सम्भव है कि खलनायक के श्रृंगार का हम आस्वादन न ले सकें, परन्तु आस्वादन एवं अनास्वादन इन दोनों के बीच कोई तीसरी ऐसी सम्भावित अवस्था नहीं हो सकती, जिसमें आस्वादन तो हो, परन्तु वह आस्वादन का आभास हो। इस शंका का उत्तर स्पष्ट रूप से यही है कि किसी अनौचित्यपूर्ण रस या भाव के विनियोजन में उस काव्य-विशेष या पद्यविशेष की विभावादि सामग्री तो उस प्रकृत रस के अनुकूल ही होगी, परन्तु सामाजिक के हृदय पर पौर्वापर्य के विवेक के साथ ही उस विभावादि सामग्री के अनुसार सम्भावित प्रतिक्रिया नहीं होगी। उस रस या भाव की यथार्थ अनुभूति न होकर उनका आभासमात्र ही होगा और यथार्थ अनुभूति किसी दूसरे भाव की होगी। इसलिए इस भावानुभूति को तत्सदृश अनुभूति अथवा उस रस या भाव का आभास कहा जाता है और ऐसा कहे जाने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

—प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

हिन्दी आलोचना में स्वच्छन्दतावाद की धारणा का विकास

राजेन्द्र गौतम

⊙ ⊙

आधुनिक हिन्दी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने अपने विकास की भूमिका में विश्व साहित्य की अनेकानेक प्रवृत्तियों को अन्तर्भूत करते हुए अपनी प्रगति-यात्रा को अग्रगामी बनाए रखा है। परिणामतः पश्चिमी साहित्य एवं आलोचना-पद्धतियों का बहुत अधिक प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। इससे अनेक नए वादों एवं नई धारणाओं का अस्तित्व सामने आया है। 'स्वच्छन्दतावाद' की धारणा का आगमन भी पश्चिम से ही हुआ है जिसका अंग्रेजी पर्याय 'Romanticism' है। पश्चिमी साहित्य में तो इस वाद को लेकर इतना वाद-विवाद चला कि अन्ततः आर्थर लव ज्वॉय को घोषित करना पड़ा कि परस्पर विरोधी दावों के कारण Romanticism शब्द का कोई भी अर्थ नहीं रहा है।[1] छायावाद के विकास के साथ हिन्दी आलोचकों का ध्यान पश्चिमी साहित्य की इस प्रवृत्ति की ओर गया और इसके साथ ही स्वच्छन्दतावाद पर विचार-विश्लेषण प्रारंभ हुआ। हिन्दी आलोचना में Romanticism के पर्याय के रूप में स्वच्छन्दतावाद की धारणा किस प्रकार विकसित हुई, यहाँ इसका विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी आलोचना में स्वच्छन्दतावाद का स्वतंत्र विश्लेषण अल्प ही हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जिस युग में हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से विकसित हुईं वे अपने विशिष्ट साहित्यिक सांस्कृतिक सन्दर्भों में विकास पाकर छायावादी काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गईं। निश्चिततः हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह धारा असीम महत्त्व रखती है। इसलिए छायावाद को लेकर बहुत अधिक लिखा गया। यद्यपि स्वच्छन्दतावाद और छायावाद पर्याय नहीं थे तथापि हिन्दी आलोचकों ने दोनों को प्रायः एक मानकर छायावाद का विश्लेषण किया। परिणामतः उनकी दृष्टि छायावाद पर ही केन्द्रित रह गई और स्वच्छन्दतावाद पर विशेष नहीं लिखा जा सका। जो सामग्री इस विषय पर उपलब्ध है, उसको तीन वर्गों में रखा जा सकता है :—

"The word romantic has come to mean so many things that, by itself, it means nothing. It has ceased to perform the function of a verbal sign."

—Aurthor lovejoy : Essay in the history of ideas, p. 231

१. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में छायावाद और पूर्व-छायावाद से सम्बन्धित सामग्री, जो मूलतः पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी कवियों के काव्य के छायावादी कवियों पर पड़े प्रभाव पर प्रकाश डालती है।

२. स्वतंत्र लेख, पुस्तकादि (जिनकी संख्या अल्प है) तथा हिन्दी साहित्य कोश।

३. रीतिकालीन स्वच्छन्द धारा, द्विवेदीयुगीन स्वच्छन्द धारा तथा छायावाद को लेकर लिखे गए शोध-प्रबन्ध।

१. इतिहास ग्रंथों में प्रासंगिक रूप से तो अनेक लेखकों ने लिखा है, लेकिन पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद की मूल धारणा को बहुत ही कम लोगों ने ग्रहण किया है। सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल ने श्रीधर पाठक को सच्चा स्वच्छन्दतावादी सिद्ध करते हुए हिन्दी में उसके प्रभाव को स्वीकार किया। उनके अनुसार इसकी विशेषता प्रकृति के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण है:—"जब पंडितों की काव्यधारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पड़कर रूढ़ हो जाती है तब वह कृत्रिम होने लगती है और उसकी शक्ति भी क्षीण होने लगती है। ऐसी स्थिति में इसी (स्वाभाविक) भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के ढलाव की नाना अन्तर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामंजस्य के रूप में हो, अन्ध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची स्वच्छन्दता (ट्रू रोमांटिसिज्म) कहना चाहिए क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।"[1]

इस क्रम में दूसरे महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। वे रोमांटिक कवि की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"कल्पना की अवस्था में वह इस जगत् के समानान्तर जगत की सृष्टि करता है जिसमें इस जगत् की असुन्दरताएँ और विसदृश्यताएँ नहीं रहतीं, पर अनुभूति की अवस्था में उसके पैर इस दुनिया पर ही जमे रहते हैं वह इसे छोड़ नहीं सकता।"[2] इस प्रकार डॉ० द्विवेदी स्वच्छन्दतावाद को कल्पनाजन्य सिद्ध करते हुए भी, इसे अनुभूति से सम्पृक्त मानते हैं जिससे इन कवियों की कल्पना बिल्कुल अयथार्थ नहीं कही जा सकती। आगे चलकर डॉ० द्विवेदी छायावाद के सन्दर्भ में स्वच्छन्द वृत्ति की सांगोपांग विवेचना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"सौन्दर्य के बँधे-सधे आयोजनों, घिसे-घिसाए उपमानों और पिटी-पिटाई उत्प्रेक्षाओं पर आधारित चिन्तन-शून्य काव्य-रूढ़ियों से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मापदण्ड से सब कुछ को देखता है और फिर कल्पना के अविरल प्रवाह से घन संश्लिष्ट आवेगों की उर्वर भूमि प्रस्तुत होती है जो रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की समुच्छित अभिव्यक्ति—बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के, स्वयं

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७५।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ० ४५७।

निकल पड़ा हुआ भावस्रोत—ही छायावादी कविता का प्राण है।[1] उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि शुद्ध काव्य-चेतना की दृष्टि से वे छायावाद और स्वच्छन्दतावाद में मूल अन्तर नहीं देखते।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने स्वच्छन्दतावाद का उद्भव आभिजात्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप माना है—"यह काव्यधारा जो काव्य और कला के व्यक्त सौन्दर्य प्रसाधनों, सुन्दर शब्दों और आकृतियों आदि का आग्रह करके चलती है, क्लासिसिज्म की प्रतिनिधि कही जाती है। दूसरी अतिवादी स्थिति तब आती है जब वह निर्माण सम्बन्धी नियमों में बँध जाती है और स्वतंत्रतापूर्वक हाथ और पैर नहीं हिला सकती। इस प्रकार जो काव्यधारा अत्यन्त अनियमित पद्धति, संयमरहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमांटिक गति की सूचक है।"[2] वाजपेयी जी स्वच्छन्दतावाद के मूल में विद्रोहात्मक प्रवृत्ति को ही सिद्ध करते हैं। विशेषतः यह विद्रोह अतिनियमबद्धता के प्रति व्यक्त की गई प्रतिक्रिया ही होता है।

इस शृंखला में एक अन्य उल्लेखनीय विचारक हैं—डॉ० रघुवंश, जिनके अनुसार रोमांटिक काव्य में व्यक्तित्व की प्रधानता है।[3]

हिन्दी के इतिहास ग्रन्थों में स्वच्छन्दतावाद पर मौलिक विचार अधिक उपलब्ध नहीं होते। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने अपनी पुस्तक 'महादेवी की कविता : नया मूल्यांकन' में वैज्ञानिक पद्धति से इस समस्या पर विचार किया है। वे छायावाद और स्वच्छन्दतावाद को अभिन्न मानते हैं पर छायावाद को वे मात्र प्रसादकालीन साहित्य नहीं मानते,[4] वरन् वे इसे भाव-प्रधान स्वच्छन्दतामूलक काव्य के रूप में देखते हैं जो काल-स्थानातीत विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्ति है और इस प्रवृत्ति का निर्देश काल विशेष की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ करती हैं।

२. लेख और पुस्तकों के रूप में हिन्दी आलोचकों ने इस विषय पर बहुत कम लिखा है। केवल मात्र एक ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक इस विषय पर उपलब्ध होती है, वह है—डॉ० देवराज उपाध्याय की "रोमांटिक साहित्य-शास्त्र।" इस पुस्तक में उनका जो स्वच्छन्दतावाद के प्रति दृष्टिकोण निर्मित हुआ है, वह यह है—"इस मनोवृत्ति (भावात्मक मनोवृत्ति) में

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ० ४६३।

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, पृ० ३८८।

३. "रोमांटिक काव्य में व्यक्तित्व की प्रधानता स्वीकृत है, क्योंकि व्यक्तिवाद के आधार पर भावप्रवणता तथा कल्पनाशीलता इस काव्य में विशेष महत्त्व का स्थान रखते हैं।"—डॉ० रघुवंश—हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ (भूमिका भाग), पृ० २।

४. "इन प्रवृत्तियों को किसी एक स्थान (देश) और एक काल (युग) की प्रवृत्ति मानकर देखना अपनी दृष्टि को सीमित, विचार पद्धति को संकीर्ण एवं निर्णय को असंगत बनाना है। पर दुर्भाग्य से छायावाद को जो वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद है, इसी सीमित दृष्टि एवं संकीर्ण परिधि से देखा गया है।"

—डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—महादेवी की कविता : नया मूल्यांकन, पृ० १२७।

प्रसूत कविता रोमांटिक कविता होगी और सबसे बड़ी चीज होगी कवि की आन्तरिक प्रेरणा जो प्रत्येक महान् कविता का मूल तत्त्व है। इस कविता में बोधातीत सत्य के प्रति संकेत होगा....।[1]

उपर्युक्त पुस्तक की महत्ता में विशेष अभिवृद्धि करती है डॉ० हजारीप्रसाद द्वारा लिखी गई भूमिका, जिसमें स्वच्छन्दतावाद की मूल चेतना की स्पष्ट एवं विशद व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त, उपाध्याय जी ने 'क्लासिकल साहित्य' का विश्लेषण करते हुए उसके सापेक्ष रूप में स्वच्छन्दतावाद का स्वरूप विश्लेषित किया है। साथ ही, इसमें शेली, वर्ड्सवर्थ तथा कॉलरिज आदि स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचकों की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं को विश्लेषित किया गया है।

इस शैली पर लिखी गई एक लघु पुस्तक जिसका आकार मात्र ३४ पृष्ठ का है, डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा की है। मूलतः यह कानपुर की 'साहित्यायन' संस्था में दिया गया भाषण है जो 'रोमांसवादी साहित्य शास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित है। डॉ० वर्मा ने स्वच्छन्दतावाद की व्याख्या मनोविश्लेषणात्मक ढंग से की है। वे अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"साहित्य में इदम् की अभिव्यक्ति रोमांटिक कला को जन्म देती है, अहंकारादर्श की अभिव्यक्ति क्लासिकल अथवा शास्त्रीय कला को और तथ्य सिद्धान्त की अभिव्यक्ति यथार्थवादी कला को।"[2] इस पुस्तक के केवल प्रथम चार पृष्ठों में लेखक का अपना दृष्टिकोण अभिव्यंजित हुआ है, शेष में उपाध्याय जी की पुस्तक की भाँति रोमांटिक कवि-आलोचकों का विश्लेषण एवं प्रस्तुतीकरण किया गया है।

स्वतंत्र लेखों के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर जो सामग्री प्रकाशित होती रही है, उसमें मौलिक चिन्तन का अभाव है। इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण विचार डॉ० दिनकर के हैं। 'काव्य की भूमिका' में वे लिखते हैं—"रोमांटिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) कविता का सर्वाधिक काव्यात्मक तत्त्व है और कविता यदि विज्ञान का प्रतिलोम है तो रोमांटिक कविता विज्ञान का सबसे बड़ा प्रतिलोम समझी जानी चाहिए।"[3] स्पष्टतः दिनकर स्वच्छन्दतावादी कविता को जब सर्वाधिक काव्य तत्त्व से संवलित मानते हैं तो उनका लक्ष्य इस कविता की रागोन्मुखी वृत्ति का निर्देश देना ही है।

हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद की कोशगत व्याख्याएँ भी अधिक नहीं मिलतीं। एकमात्र महत्त्वपूर्ण कोश डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित "हिन्दी साहित्य कोश" है। इस कोश में दो स्थानों पर स्वच्छन्दतावाद के स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है। एक तो रोमांटिसिज्म पर श्री राधाकृष्ण सहाय द्वारा लिखी गई टिप्पणी है जिसका केन्द्रीय भाव इन पंक्तियों में आया है—"साहित्यिक उदारवाद ही रोमांटिसिज्म है। अर्थात् प्राचीन शिष्ट तथा क्लासिक परिपाटी के विरोध में उठ खड़ी होने वाली विचारधारा को रोमांटिसिज्म कहा गया है।"[4]

---

१. डॉ० देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्यशास्त्र, पृ० १८।

२. डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा, रोमांसवादी साहित्य-शास्त्र, पृ० ३।

३. श्री रामधारी सिंह दिनकर, काव्य की भूमिका, पृ० २६।

४. हिन्दी साहित्य कोश (प्रधान सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा), पृ० ६७६।

यहाँ रोमांटिसिज्म मूलतः क्लासिकल कविता के विरोध में उठा काव्यान्दोलन माना गया है। इसी कोश में आधुनिकता की व्याख्या करते हुए काल-सापेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर स्वच्छन्दतावाद को प्रवृत्यात्मक परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता का प्रतिलोम माना गया है। व्याख्याकार का कथन है—"...वर्तमान चिन्तना के माध्यम से ही आधुनिक व्यक्ति भविष्य को रूपायित करना चाहता है। स्थिति का दूसरा छोर रोमांटिसिज्म में मिलता है, जहाँ वर्तमान स्थिति से ऊबकर, और शायद कभी उससे विद्रोह करके भी, अतीत में डूबना श्रेयस्कर माना जाता है। अतीत के प्रति सम्मोहन का भाव रोमांटिसिज्म का सर्वाधिक प्रबल तत्त्व है।"[1]

३. वर्तमान समय में हिन्दी में शोध-कार्य बहुत तीव्रता से चल रहा है जिसके अन्तर्गत अनेक विश्वविद्यालयों से साहित्य के अंग-प्रत्यंग को लेकर शोध-कार्य किया जा रहा है, परिणामतः स्वच्छन्दतावाद सम्बन्धी कुछ शोध ग्रन्थ भी प्रकाश में आए हैं। अब तक प्रकाशित शोध प्रबन्धों एवं एतद्विषयक आलोचना पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं :—

१. संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा।
२. रीति स्वच्छन्द काव्यधारा—डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा।
३. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा—डॉ० मनोहरलाल गौड़।
४. श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य। —डॉ० रामचन्द्र मिश्र।
५. हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा—डॉ० त्रिभुवन सिंह।
६. स्वच्छन्दतावादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन।
(हिन्दी और तेलुगु साहित्य के सन्दर्भ में)—डॉ० पी० आदेश्वर राव।

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा ने अपने शोध-प्रबंध के सिद्धान्त पक्ष में सिद्ध किया है कि रोमांटिक काव्य-प्रवृत्ति काल-स्थान-निरपेक्ष काव्य प्रवृत्ति है[2] और इसका मूल स्वर अन्तर्मुखी है।[3] वस्तुतः उनके दोनों मत क्रमशः वाल्टर पेटर और एब कोम्बे के मतों की स्वीकृति ही है। इस पुस्तक की भूमिका डॉ० बुद्धप्रकाश ने लिखी है। हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद की धारणा के विकास में इस भूमिका का भी कम महत्त्व नहीं है। 'रोमांटिसिज्म' पर शब्द-व्युत्पत्ति के विषय में विचार करते हुए डॉ० बुद्धप्रकाश जी जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, वह है—"रोमांटिक दर्शन क्रांतिकारी है। इसमें परिवर्तन की गूंज और प्रभंजन का निनाद है।"[4]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (प्रधान सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा), पृ० ११०।

२. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति, प्राक्कथन (ii-iii)।

३. (क) "अपने अन्तर्जगत् में पूर्ण आस्था अन्तर्मुखी अथवा रोमांटिक व्यक्तित्व की मौलिक विशेषता है।—वही, पृ० ८।

(ख) रोमांटिसिज्म जीवन और जगत् में अन्तर्मुखता की प्रधानता की सहज स्वीकृति है, जिसमें अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की सृजन-प्रेरणा पूर्ण आत्मानुभूति (Self Realization) तथा स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति (Self Expression) के विविध मार्ग अपनाती अथवा स्वतः निर्मित करती चलती है।—वही पृ० २२।

४. वही (डॉ० बुद्धप्रकाश द्वारा लिखित भूमिका) (iv)।

डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने घनानन्द के काव्य का अध्ययन स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों के आधार पर प्रस्तुत किया है। यद्यपि उन्होंने प्रसंगवश पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी आलोचना सिद्धान्त का विश्लेषण किया है, परन्तु मूलतः उन्होंने इसके एक ही प्रमुख तत्त्व—उन्मुक्त, भावात्मक एवं सरल-सहज 'प्रेम' को लिया है। उनके आलोच्य कवि के सन्दर्भ में शेष प्रवृत्तियाँ प्रासंगिक नहीं रहतीं। उनके मतानुसार स्वच्छन्दतावादी कलाकारों की दृष्टि यथार्थपरक न होकर आदर्शमूलक है।[१]

विद्वानों द्वारा भूमिका लिखवाने की परम्परा इस पुस्तक में भी निभाई गई है। उसका हमें लाभ यह हो गया है कि एक अन्य विद्वान् आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के स्वच्छन्दतावाद सम्बन्धी विचारों से हमें अवगत होने का अवसर मिलता है। पुस्तक के परिचय-भाग में आचार्य मिश्र जी लिखते हैं—"स्वच्छन्द काव्य भाव भावित होता है, बुद्धिबोधित नहीं। इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आन्तरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छन्द काव्य की सारी साधना सम्पत्तिआश्रित रहती है। यह वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। बहुत आधुनिक ढंग से कहें तो कहेंगे कि स्वच्छन्द वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है।"[२]

डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा का शोध प्रबन्ध उन्हीं विचार-सरणियों का पोषक है, जो डॉ० गौड़ के शोध प्रबन्ध की हैं। इसमें रीतिकाल की स्वच्छन्द धारा के कवियों के काव्य का विवेचन किया गया है। रीतिकालीन शास्त्रीयता की तुलना उन्होंने 'निओ-क्लासिसिज्म' से की है और हिन्दी रीतिकालीन स्वच्छन्द काव्य के जन्म के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों को पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद के उद्भव से पूर्व की परिस्थितियों के समान माना है।

डॉ० रामचन्द्र मिश्र का शोध-प्रबन्ध हिन्दी साहित्य के सन् १८७५ ई० से लेकर सन् १९२५ ई० तक—५० वर्ष तक के काल से सम्बन्ध रखता है। इसमें मूलतः आचार्य शुक्ल जी की इस धारणा का पोषण हुआ है कि उपर्युक्त काल की काव्य-चेतना को पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद ने बहुत प्रभावित किया है और इस धारा के हिन्दी में प्रतिनिधि कवि हैं—श्रीधर पाठक। इस काव्य के प्रवृत्यात्मक मानदण्डों को डॉ० मिश्र ने पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद के आधार पर निर्धारित किया है। उनके मत से स्वच्छन्दतावादी काव्य, काव्य की वह विशेष सर्जना है जो कल्पना और आवेश से युक्त परम्परागत विधान और बाह्यांग नियंत्रण से विमुक्त और मानसिक सरलता तथा अकृत्रिमता से सम्पन्न मानसिक तथा लोकभूमि की भावनाओं से युक्त हो।[३]

---

१. "जीवन का सच्चा स्वरूप आदर्श है, यथार्थ नहीं यह विचार-सरणि स्वच्छन्द धारा के कलाकारों की है।"

—डॉ० मनोहरलाल गौड़, घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा।

२. वही, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद द्वारा लिखित 'परिचय' पृ० ५।

३. डॉ० रामचन्द्र मिश्र, श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य, पृ० ४६।

डॉ० त्रिभुवन सिंह ने 'हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा' में पाश्चात्य परिभाषाओं के आधार पर ही स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है परन्तु प्रकारान्तर से इस पुस्तक में छायावाद का ही विवेचन किया गया है।

डॉ० पी० आदेश्वर राव ने अपने शोध प्रबन्ध में हिन्दी और तेलुगु साहित्य की स्वच्छन्दतावादी काव्यधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने छायावाद और स्वच्छन्दतावाद में कोई अन्तर नहीं किया है। पुस्तक के प्रारंभ में उन्होंने पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद का विश्लेषण किया है, पर उसमें क्रम और व्यवस्था का अभाव है। उनका एतद्विषयक निष्कर्ष यह है—"यह वैयक्तिक या व्यक्तिपरक काव्य है, जिसमें कवि के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति मिलती है। स्वच्छन्दतावाद की अपनी स्वतंत्र साहित्यिक मान्यताएँ हैं और ये मान्यताएँ परम्परावादी काव्य मान्यताओं के विरोध में प्रकट हुई हैं।"[1]

हिन्दी में 'स्वच्छन्दतावाद' पर जो विचाराभिव्यक्ति हुई है, उसका क्रमिक विवेचन ऊपर प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन के आधार पर जो तथ्य उभर कर सामने आते हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१. एक वर्ग के आलोचकों ने वाल्टर पेटर, एज कोम्बे और ग्रियर्सन के मत को प्रतिध्वनित करते हुए स्वच्छन्दतावाद को शाश्वत साहित्यिक प्रवृत्ति माना है। उनके अनुसार यह प्रवृत्ति किसी भी काल में और किसी भी साहित्य में प्रस्फुटित हो सकती है। इस वर्ग के प्रमुख आलोचक हैं—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा तथा डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त। डॉ० मनोहरलाल गौड़ और डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा समस्त स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों की अपेक्षा उसके एक पक्ष—भावात्मक प्रेम को ही इस रूप में स्वीकार कर चलते हैं।

२. दूसरे वर्ग के आलोचकों ने स्वच्छन्दतावाद को पाश्चात्य 'रोमांटिक मूवमैंट' के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने इस काव्य की प्रवृत्तियों का निर्धारण करते समय सन् १७९८ से सन् १८३२ ई० तक के अंग्रेजी काव्य को सामने रखा है। उनकी विचार-सरणियों का आधार सी० एम० बावरा, कॉम्पटन रिकेट्, आर्थर लवजॉय और मॉर्स पेक्हम रहे हैं। इस वर्ग के आलोचक हैं—आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० देवराज उपाध्याय, डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा तथा डॉ० बुद्धप्रकाश।

३. तीसरे वर्ग में वे आलोचक आते हैं जिन्होंने स्वच्छन्दतावाद को हिन्दी साहित्य के 'छायावाद' के रूप में देखा है और वे पूर्णतः इसे छायावाद का पर्याय मानकर चलते हैं। इन आलोचकों के अनुसार छायावाद पर पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी काव्य का अत्यधिक प्रभाव रहा है, पर वह प्रभाव ही है अनुकरण नहीं अतः इसमें भावात्मकता, अन्तर्मुखता, वैयक्तिकता एवं प्रकृति उन्मुखता आदि अनेक ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रमुखरूपेण उभरी हैं जो स्वच्छन्दतावाद की प्राण हैं। इसलिए इन आलोचकों ने छायावाद को ही स्वच्छन्दतावाद नाम दिया है। इस वर्ग के आलोचक हैं—डॉ० रामचन्द्र मिश्र, डॉ० त्रिभुवन सिंह तथा डॉ० पी० आदेश्वर राव। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी स्वच्छन्दतावाद और छायावाद को पर्याय माना है।

---

१. डॉ० पी० आदेश्वर राव, स्वच्छन्दतावादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ८८।

हिन्दी आलोचकों ने स्वच्छन्दतावाद पर जो कुछ लिखा है, अधिकांशतः वह पाश्चात्य विचारकों की धारणाओं पर ही आधारित है। परिमाण में थोड़ा लिखने पर भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी जिस गंभीरता से इस काव्य-धारा की मूल चेतना को पकड़ पाए हैं, इतनी गम्भीरता किसी अन्य आलोचक में देखने को नहीं मिलती। वह मूल चेतना है—इस काव्य में निहित मानवतावाद और मानस के प्रति आस्था।[1]

—हिन्दी-विभाग,
रामलाल आनन्द कॉलिज,
नयी दिल्ली

---

१. "इस युग के यूरोप में अद्भुत विरोधाभास है। मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, परम्परा समर्थित नैतिक दृष्टिभंगी पर संदेह किया, परिपाटी विहित रसज्ञता पर संदेह किया और फिर भी यह युग विश्वास का युग है क्योंकि मनुष्य ने अपने पर संदेह नहीं किया।"

—रोमांटिक साहित्यशास्त्र (डॉ० देवराज उपाध्याय) की भूमिका।

मध्यकालीन पुनर्जागरण पर इस्लाम और सूफी धर्म-साधना का प्रभाव

डॉ० रमाकान्त शर्मा

⊙ ⊙

इस्लाम धर्म तथा सूफी सन्तों का भारत में आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। इस धर्म और संस्कृति ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कुछ सीमा तक भारतीय कवियों तथा उनकी धर्म-चेतना को अवश्य ही प्रभावित किया है। हिन्दू और मुस्लिम नामक दोनों जातियों ने एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखा और दोनों के सम्मिलन के फलस्वरूप एक नई सभ्यता एवं संस्कृति प्रकाश में आ गई जिसे इतिहास में इण्डो-मुस्लिम (Indio-Muslim-culture) संस्कृति कहा जाता है।[1] सूफी सन्त हृदय की शुद्धता, बाह्याचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, विश्वभ्रातृत्व एवं विश्वप्रेम की ओर सबका ध्यान आकर्षित करते थे और उन्हें अपने मत की मुख्य देन बतलाते हुए उसे स्वीकार कर लेने का आग्रह भी करते थे।[2] इस प्रेम तत्व और मतवालेपन से भारतीय सन्त-भक्त भी प्रभावित हुए। यद्यपि मधुराभक्ति हमारे यहाँ उससे पूर्व भी विद्यमान थी, किन्तु सूफियों के 'प्रेम तत्व' ने भारतीय समाज को बहुत प्रभावित किया। मुस्लिम धर्म 'इस्लाम' तथा सूफियों के प्रभाव की व्यापकता बताते हुए प्रो० ताराचन्द ने यह स्वीकार किया है कि इस्लाम का प्रभाव न केवल हिन्दू धर्म और कला पर ही पड़ा वरन् साहित्य और विज्ञान भी उक्त प्रभाव से अछूते नहीं रह सके।[3]

सूफी कवियों ने प्रेम और सहृदयता का सहारा लेकर हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों को बहुत निकट लाने में सफलता प्राप्त की। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि दो भिन्न संस्कृतियों को निकट लाने का जितना कार्य सूफियों ने किया उतना ही हिन्दू भक्तों ने भी किया था।[4] इनके सामूहिक प्रयास से दोनों संस्कृतियाँ मतभेद को काफ़ी भुला सकीं। मुसलमानों के भारत आगमन ने मध्यकाल के हिन्दू समाज में व्याप्त छुआछूत, ऊँचनीच के भेद-भाव को बहुत सीमा तक कम कर दिया। मध्यकालीन भारतीय पुनर्जागरण में मुसलमानों और सूफी सन्तों की इसे सबसे बड़ी देन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी तथ्य

---

१. श्री उमाशंकर मेहरा, मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, पृ० ६६।

२. वही, पृ० २८२।

३. Dr. Tarachand, Influence of Islam on Indian Culture, P. 137.

४. S. Abid Hussain, The national Culture of India, P 103.

पर प्रकाश डालते हुए डॉ० मलिक मोहम्मद लिखते हैं—'कर्मफल या कर्म-सिद्धांत के अन्ध-विश्वास के कारण जन्म से नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कट विद्रोह का भाव अभी आया नहीं था। परन्तु मुसलमानों के संसर्ग ने उन्हें जाग्रत कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान होने लगा। मुसलमान-मुसलमान में कोई भेद-भाव न था। उनमें न कोई नीच था न ऊँच। मुसलमान होने पर छोटे से छोटा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक दृष्टि से किसी भी दूसरे मुसलमान के बराबर समझ सकता था। अहले-इस्लाम होने के कारण वे सब बराबर थे। पर हिन्दू-धर्म में यह सम्भव नहीं था।'[1]

सूफी सन्तों के प्रयास तथा मुसलमान जाति के साथ एक लम्बे समय तक रहने के कारण अछूतों को भी हिन्दू समाज में चाहे समानता का स्तर प्राप्त नहीं हुआ हो, परन्तु भगवान की भक्ति करने के लिए पूरा-पूरा अवसर दिया जाने लगा। अनेक मध्यकालीन हिन्दू सन्तों ने मुसलमानों और नीच समझी जाने वाली अनेक जातियों के लोगों को अपना शिष्यत्व प्रदान किया। कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने मध्यकालीन पुनर्जागरण में सूफी सन्तों और इस्लाम धर्म की देन को स्पष्ट करते हुए ठीक ही लिखा है कि यदि इस्लाम के भीतर समानता वाला सिद्धांत प्रबल नहीं होता, यदि सूफियों और हिन्दू भक्तों के बीच सत्संगति का संबंध नहीं होता और यदि समाज के हर तबके में नये जागरण की गूँज नहीं उठी होती, तो वैष्णव आचार्य सामाजिक आचारों में उदारता दिखाने को तैयार होते या नहीं, यह कहना कठिन है।[2] हाँ, इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें किंचित् संकोच नहीं होगा कि रामानुजाचार्य तक भक्ति आन्दोलन पर इस्लाम का रंच भर भी प्रभाव नहीं पड़ा था। इस्लाम का प्रभाव उस पर तब पड़ने लगा, जब भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत में पहुँचा जहाँ मुसलमानों की संख्या बहुत काफी थी, जहाँ स्थान-स्थान पर सूफियों का निवास था और जहाँ के हिन्दू मुसलमानों के रीति-रिवाज और सामाजिक आचारों से थोड़ा-बहुत प्रभावित होने लगे थे।[3] इधर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी सूफी लोगों को ठीक एकेश्वरवादी नहीं मानते। उनके अनुसार, 'सूफियों का विश्वास बहुत कुछ इस देश के विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति है। विशिष्टाद्वैत-वादी दार्शनिकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है। निस्संदेह इन साधकों की मधुर भक्ति-भावना ने हमारे देश के सन्तों को भी प्रभावित किया है और उन्होंने भी इस देश से बहुत कुछ ग्रहण किया है।'[4]

इस्लाम के प्रभाव का आरम्भ

जहाँ तक इस्लाम और भारत के प्रथम सम्पर्क का प्रश्न है, हम यह कह सकते हैं कि इस्लाम और भारत का सम्पर्क सबसे पहले अरब सागर के व्यापारिक मार्गों द्वारा हुआ।

---

१. डॉ० मलिक मोहम्मद, वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३३८।
२. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३८०।
३. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३७६-७७।
४. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० २५४।

कोंकण, मालाबार और काठियावाड़ के समुद्र-तटों पर मुसलमान व्यापारी आने-जाने और बसने लगे। ६३६ ई० में अरबों का एक जहाजी बेड़ा बम्बई के निकट थाना में उतरा। इसके बाद भड़ौच, काबुल और देवल में और बेड़े आये। ७१२ ई० में मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध विजय की और फिर मुसलमानों ने मुल्तान पर कब्जा किया। सिन्ध के मुस्लिम शासन में हिन्दुओं को अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता थी। इस प्रकार कम्बात और गुजरात के हिन्दू शासक इस्लाम का आदर करते थे।[1] धीरे-धीरे तुर्क, मुसलमान और मुगलों का सम्पर्क भारत से होता रहा। भारत में इस्लाम के बोध को समझने के लिए चार प्रकार के मुसलमानों का अध्ययन आवश्यक है:— प्रशासक, दरबारी और राजकीय कर्मचारी; २. मुल्ला, मौलवी, विद्वान् और साहित्यिक; ३. सूफी सन्त, महात्मा और संन्यासी और ४. साधारण जनता, कारीगर, दस्तकार आदि।[2]

प्रशासक और दरबारी वर्ग सामान्यतः धर्म को केवल सत्ता हथियाने का साधन समझते थे। यह वर्ग शक्ति-संचय में जुटा रहता था। मुल्ला-मौलवी धर्म के कट्टर थे। अतः हिन्दू समाज से बिलगाव की भावना रखना स्वाभाविक था। हाँ, कुछ साहित्यकारों, सन्तों और साधारण जनता में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की निकटता का अनुभव किया जा सकता है। इनमें उतनी कट्टरता नहीं थी। साधारण मुस्लिम-समाज ने हिन्दुओं के धार्मिक आचारों, पूजा-पाठ तथा आचरण के तौर-तरीकों को किसी हद तक स्वीकार किया था। ध्यान देने की बात यह है कि धार्मिक मान्यताओं के अलावा सामाजिक अवस्था में भी भारत के मुसलमान हिन्दुओं के समान ही जातियों में बँटे थे, करीब-करीब हर व्यवसाय एक जाति बन गया था, और लोग अपनी-अपनी जाति में ही रोटी-बेटी का रिश्ता रखते थे। इन थोड़े से तथ्यों से स्पष्ट है कि छोटे श्रेणी के कारोबारी मुसलमान हिन्दुओं से मेल-मिलाप में आपत्ति नहीं रखते थे। किन्तु, ऐसा होते हुए भी हिन्दू और मुसलमान में पूरी तरह एका नहीं हो सकता। वे अपने-अपने रीति-रिवाजों से इस तरह बँधे रहे कि उनमें पूरी तरह भावनाओं का सामञ्जस्य नहीं हो पाया।[3]

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की समन्वयपरक चेष्टाएँ

मध्यकालीन पुनर्जागरण के समय सूफी मत में समन्वय की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से रही। इस दृष्टि से कादरी और सत्तारी सूफी तथा उत्तर प्रदेश के समन्वयमार्गी सूफियों का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ० बुद्धप्रकाश ने हिन्दुओं और मुसलमानों के समान आधार पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा है कि उक्त महात्माओं के प्रयत्नों से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के काफी निकट आये। बहुत से मुसलमान मुसीबतों से बचने के लिए मूर्तियों और मजारों की मन्नतें करने लगे। चेचक से बचने के लिये प्रायः सभी शीतला पर

१. डॉ० बुद्धप्रकाश, भारतीय धर्म एवं संस्कृति, पृ० १४३।

२. वही, पृ० १४५।

३. वही, पृ० १५०।

चढ़ावा चढ़ाते और हिन्दुओं जैसी रस्में अदा करते थे। खासतौर से दीवाली पर ईद की तरह ही मुसलमान खुशियाँ मनाते और बहन-बेटियों के पास भेंट भेजते थे। इस अवसर पर बरतनों को रंग कर उनमें लाल चावल भरकर भेजने का रिवाज था। औरतें पीरों और बीबियों की मन्नतें करतीं और उनके नाम के उपवास करती थीं। ये सब तथ्य शेख अहमद सिरहिन्दी की "मक्तूबात' से प्रकट होते हैं।[1] धीरे-धीरे धर्मग्रन्थों के अनुवाद, लोक भाषाओं की साहित्य में भी वृद्धि, स्थापत्य-कला में आपसी शैलियों का समन्वय तथा चित्रकला के क्षेत्र में आपसी योगदान होने लगा। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही ज्योतिष विद्या के शुभों और भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे।... साथ ही उस युग के धार्मिक आन्दोलनों के उदार विचारों का प्रचार सन्त-उपदेशकों का एक समूह 'जनता की समझ में आ जाने वाली' भाषा में कर रहा था। इन बातों से प्रोत्साहन पाकर जनता की प्रतिभा बहुमुखी होकर प्रस्फुटित हुई।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल में मुसलमानों का प्रभाव हिन्दुओं पर तथा हिन्दुओं का प्रभाव मुसलमानों पर काफी हद तक पड़ा। किन्तु, इतिहासकारों का एक वर्ग ऐसा भी है जिसका मत है कि मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव इतने व्यापक रूप से हिन्दुओं पर कभी नहीं पड़ा।

डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव लिखते हैं कि इन दो शक्तिशाली धर्मों, संस्कृतियों के संघर्ष ने मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति पर कोई वास्तविक रचनात्मक प्रभाव नहीं डाला, जबकि अंग्रेजों और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क ने १९वीं सदी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान को जन्म दिया। हिन्दू और मुस्लिम दोनों सभ्यताओं के सदियों के सम्पर्क से परस्पर जो भी प्रभाव पड़ा यह केवल इस संयोग की बात है कि वे एक देश में इतने समय तक साथ-साथ रहते रहे। वैसे हिन्दू मुसलमानों में स्वतः आपसी लाभ के लिये एक दूसरे से कुछ सीखने की कोई उत्सुकता नहीं थी। भारत के मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का जन्म हिन्दू-धर्म और इस्लाम के परस्पर सम्पर्क से नहीं हुआ था।[3] इतना सब कुछ लिखने के बाद इन्होंने हिन्दू-समाज जिन-जिन क्षेत्रों में मुसलमानों से प्रभावित हुआ उनका वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया है। उनके अनुसार सामाजिक जीवन और मनोरंजन, भारतीय ललित कला तथा स्थापत्यकला, युद्ध-प्रणाली, चित्रकला, उद्यान कला आदि क्षेत्रों पर मुसलमानों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। इधर मुसलमान लोग भी हिन्दुओं के सामाजिक संगठन, सभ्यता और संस्कृति से काफी प्रभावित हुए थे।

डॉ० आशीर्वादीलाल इस तथ्य पर विशद रूप से प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि जो हिन्दू मुसलमान हो गये थे, वे भी अपनी हिन्दू परम्पराओं को पूरी-पूरी नहीं भुला सके। सन्तों और दरगाहों की पूजा करना हिन्दुओं के स्थानीय और जातीय देवी-देवताओं की

---

१. डॉ० बुद्धप्रकाश, भारतीय धर्म एवं संस्कृति, पृ० १७५।

२. मजूमदार, रायचौधरी, एवं दत्त, मध्यकालीन भारत (भारत का बृहत् इतिहास : द्वितीय भाग), पृ० २७१, २९२।

३. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० २३०-२३१।

सुन्दर कन्नौज का ही दूसरा रूप था, जिसे वे सभी मुसलमान सुल्तान ही नहीं छोड़ सके थे। मुसलमानी त्योहार भी भारत के हिन्दुओं के त्योहारों की तरह ठाट-बाट से मनाये जाने लगे। शबे-बरात का त्योहार शिवरात्रि के हिन्दू-त्योहार की तरह रात्रि पर जागरण करके धूम-धाम के साथ मनाया जाने लगा। मुसलमानों में सगाई का और बिस्मिल्लाह के उत्सव हिन्दुओं के विवाहों के मुंडन और विद्यारम्भ संस्कारों जैसे मनाये जाने लगे। इसी तरह, हिन्दुओं के विवाहों के संस्कारों ने मुसलमानी निकाहों को प्रभावित किया और मुसलमानों ने वधू-शृंगार करने की प्रथा विशेष रूप से अपना ली। हफ्त-ओ-नू हिन्दू वधू के लिए सोलह शृंगार का ही दूसरा नाम है। हिन्दू जाति-व्यवस्था भी जनव्यापी मुस्लिम समाज को प्रभावित किए बिना न रही। दिल्ली सल्तनत काल के प्रारम्भिक दिनों में ही तुर्क, पठान, सैयद और एक शेख तक "अपनी से नीची जाति या चारों पात अथवा कौमों से बाहर, यहाँ तक कि अपनी निजी कौम से भी बाहर, विवाह संबंध करने की बात नहीं सोच सकता था।"[1] मुसलमानों ने भी हिन्दुओं के कुछ कीमती वस्त्रों, जैसे पाग और चीर आदि को पहनना शुरू कर दिया था। यहाँ तक कि मुसलमान सुल्तान भी छत्र और अन्य राजकीय चिह्न धारण करने लगे थे। अपने-अपने आहार और शृंगार-सज्जा में भी मुसलमान हिन्दुओं से बड़े प्रभावित हुए थे। पान खाना उनमें बड़ा ही जनप्रिय हो उठा था। हिन्दू पकवान, मिष्ठान्न और खूब पकी हुई मिर्च-मसाले युक्त भोजन की वस्तुएँ उन्हें अब अच्छी लगने लगी थीं और उन्होंने हिन्दू पाक-कला की बहुत-सी बातों को अपना लिया था। इस्लाम में अँगूठियाँ, हार, कानों के आभूषण आदि पहनाना वर्जित था, पर भारतीय धनी मुसलमान इन्हें धारण करने लगे थे। मुसलमानों की धार्मिक विचारधारा और रीति-रिवाजों पर भी हिन्दू-धर्म का कुछ सीमित-सा प्रभाव पड़ा था।[2] हिन्दी-साहित्य के प्रेम-काव्य की रचना पर मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। हमें इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि प्रेमकाव्य की रचना विशेषकर मुसलमानों के कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है।[3]

मुस्लिम शासकों में कुछ ऐसे शासक भी थे, जो हिन्दू-धर्म के प्रति उदार ही नहीं; वरन् उस पर आस्था भी रखते थे। जहाँ वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास मानते थे वहाँ दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। प्रेम-काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है। भारत में सूफी धर्म-साधना के व्यापक प्रभाव के कारणों का उल्लेख करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि भारत में सूफी सम्प्रदाय का स्वागत इसलिए विशेष रूप से हुआ है कि उसमें वेदान्त की पृष्ठभूमि है और अपने मूल रूप में सूफी सम्प्रदाय वेदान्त का रूपान्तर मात्र है। अरब और भारत के जो संबंध प्राचीन काल से चले आते हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकाला

---

१. दिल्ली सल्तनत, पृ० ६०८।

२. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० २३६।

३. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २८९।

जा सकता है कि वेदान्त की विचारधारा अरबी में अवश्य रूपान्तरित हुई होगी और सूफी धर्म ने निर्माण में वेदान्त की चिन्तन-शैली का आश्रय अवश्य ग्रहण किया होगा। दूसरा कारण यह था कि सूफी-सम्प्रदाय ने अपने द्वार सभी जाति के लोगों के लिये खोल रखे थे। वर्ण-भेद और वर्ग-भेद के समस्त भावों के पर्याय उनके सात्विक जीवन की श्रेष्ठता ही उनके महान् व्यक्तित्व का मापदण्ड थी। यहाँ तक कि इस्लाम के न्यायाधीश भी उन्हें शेख, मलिक, मोमिन, खलीफा आदि की उपाधियों से अलंकृत करते थे। सात्विक जीवन की समस्त सुविधाओं से भरपूर क्या सूफी मत में दीक्षित हो जाने का यह प्रलोभन अस्पृश्य और घृणा से देखी जाने वाली जातियों के लिये कम था? फल भी यही हुआ कि हजारों और लाखों की संख्या में हिन्दू-धर्म के विविध वर्णों के असन्तुष्ट सदस्य सूफी सन्तों के चमत्कारों से प्रभावित होकर और उनकी सात्विकता और सहिष्णुता से आकर्षित होकर इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत सूफी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और भारत में मुसलमानों की संख्या बरसात की बढ़ी हुई नदी की भाँति बढ़ती ही गई।[1] और यह सत्य है कि भक्ति आन्दोलन व सूफी सन्तों के कारण दोनों धर्मों में समन्वय की भावना उत्पन्न हुई। प्रमाण के लिए हम 'अल्लोपनिषद्' को भी ले सकते हैं। इसकी रचना हिन्दुओं ने की थी। और इसमें अल्लाह को विष्णु रूप तथा मुहम्मद को महात्मा बुद्ध का अवतार बताया गया था। अतः स्पष्ट है कि भक्ति आन्दोलन के उपरान्त दोनों धर्मावलम्बी एक-दूसरे के समीप आते चले गए और उन दोनों की संस्कृति व सभ्यता भी विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावित हुई।[2]

हिन्दी साहित्य पर प्रभाव का प्रश्न

जहाँ तक हिन्दी साहित्य पर मुस्लिम प्रभाव का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि आरम्भ में हिन्दू-साहित्य पर मुस्लिम प्रभाव नाममात्र का था। लगभग तीन सौ वर्ष तक हिन्दुओं ने फारसी और अरबी भाषा के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया परन्तु फारसी के राजभाषा होने के कारण भारत में धीरे-धीरे इसका प्रचलन हुआ। राजभाषा के कारण सारा सरकारी कामकाज फारसी में ही होता था। अतः जो हिन्दू सरकारी नौकरी के इच्छुक होते थे वे फारसी सीखने लगे। इस कारण हिन्दी पर फारसी भाषा का प्रभाव पड़ने लगा। सिकन्दर लोदी के शासन में कुछ ब्राह्मणों ने फारसी का अध्ययन आरम्भ किया। परन्तु सिकन्दर लोदी के शासन-काल में भी हिन्दू व मुसलमानों में विशेष साहित्यिक समन्वय नहीं हुआ। फीरोज तुगलक ने हिन्दी व संस्कृत के अपभ्रंश शब्दों का अनुवाद फारसी में करवाया। परन्तु उसने लिपि फारसी ही रखी। इस कारण भी दोनों भाषाओं में समन्वय न हो सका। अकबर के शासनकाल ने इस क्षेत्र में अपूर्व सहयोग दिया। इसके काल में

१. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०१।

२. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०३ एवं ३०४।

३. डॉ० दुबे, शर्मा एवं चौधरी, भारतीय धर्म एवं संस्कृति, पृ० ११७।

हिन्दी के कवियों ने इस्लामी भावना को स्थान देना आरम्भ किया। हिन्दू सहर्ष फारसी सीखने लगे और इसका परिणाम यह हुआ कि शाहजहाँ के स्वर्णकाल में हिन्दू स्वतंत्र रूप से फारसी भाषा में अपनी रचनाएँ करने लगे। शाहजहाँ के शासन-काल में सर्वप्रथम चन्द्रभान ने फारसी में रचना करनी शुरू की। इसके उपरान्त जब भारत में सूफी मत का दिनोंदिन प्रसार होने लगा तो इस मत के प्रभाव से ही हिन्दुओं ने फारसी सीखना आरम्भ किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फारसी भाषा मुगल काल तक उन्नत अवस्था में रही। काव्य-रचना तथा इतिहास ग्रन्थ दोनों इसी भाषा में लिखे जा रहे थे। मुसलमान सन्तों की जीवनियाँ भी फारसी में लिखी जाने लगीं। परन्तु तत्कालीन फारसी कविताओं में प्रेम का अधिक वर्णन होता था जो प्रायः सांसारिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम की ओर संकेत करता था। इन कविताओं में मौलिकता का अभाव था।

हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के आपसी सम्पर्क की सबसे बड़ी उपलब्धि उर्दू भाषा का आविर्भाव थी। वैसे तो मुसलमान लोग अपने दैनिक जीवन में अरबी व फारसी का ही प्रयोग करते थे, परन्तु जब हिन्दू मुस्लिम शासकों के दरबार में आने-जाने लगे तो पारस्परिक संवाद के लिये दूसरी भाषा की आवश्यकता हुई। अतः मुस्लिम भाषाओं व भारतीय भाषाओं के सम्मिश्रण से एक नवीन भाषा का प्रादुर्भाव हुआ—जिसे 'उर्दू' के नाम से जाना जाता है। वैसे यह हिन्दी की शैली मात्र है। राजकीय सेना में हिन्दू व मुसलमान समान रूप से भर्ती किये जाने लगे थे, इनको भी आपसी वार्तालाप के लिये उर्दू का प्रयोग करना पड़ा। इस कारण भी उर्दू का प्रचलन हुआ और आरम्भ में इसे 'छावनी-भाषा' के नाम से पुकारा जाने लगा। इस भाषा की लिपि फारसी है तथा इसमें खड़ी बोली के शब्दों का व्यापक प्रयोग है। हिन्दी और उर्दू का व्याकरण भी एक ही है।

भाषा के अतिरिक्त मुस्लिम सम्पर्क से भारतीय साहित्य में अनेक विशेषताओं का आविर्भाव हुआ। सूफी विचारधारा से प्रेरणा लेकर विरहानुभूति की अभिव्यक्ति में तीव्रता आ गई तथा अलौकिकता को प्रधानता दी जाने लगी। सूफियों की 'इश्क-हकीकी' से काव्य में रहस्यवादी चेतना जाग्रत हुई। ध्यान देने की बात यह है कि केवल भारतीय साहित्य ही मुस्लिम साहित्य और विचारधारा से प्रभावित नहीं हुआ वरन् मुस्लिम साहित्य भी भारतीय साहित्य से बहुत कुछ प्रभावित हुआ। आरम्भ में तो मुसलमान भारतीय साहित्य से अप्रभावित ही रहे क्योंकि वे भारतीय भाषाओं में अभिरुचि नहीं रखते थे। परन्तु जब वे स्थायी रूप से बस गये तथा हिन्दुओं के सम्पर्क में अधिकाधिक आने लगे तब उनकी अभिरुचि भारतीय भाषाओं के प्रति जाग्रत होने लगी। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी का अध्ययन करना आरम्भ किया। इन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ उन्होंने इन भाषाओं में स्वतंत्र रूप से साहित्य का निर्माण भी किया। रहीम, अमीर खुसरो व मुहम्मद जायसी आज भी हिन्दी-साहित्य में अमर हैं। रहीम के दोहे हिन्दी साहित्य में अपना विशेष महत्व रखते हैं। अमीर खुसरो अपनी पहेलियों और मुकरियों के लिये विख्यात हैं। जायसी ने 'पद्मावत' नामक काव्य को लिखकर हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का अच्छा प्रयास किया है। मुगल शासकों के संरक्षण

में अनेक हिन्दी-संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि मुगल शासक भी हिन्दी व संस्कृत से प्रभावित थे।[1]

सामान्य भक्ति-मार्ग का उदय

वस्तुतः हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति में से किसने किसको अधिक प्रभावित किया है, इस विषय में डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव द्वारा उद्धृत टीट्स के इस कथन का उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि सब कुछ कहने के पश्चात् भी इसमें तनिक ही संदेह रह जाता है कि हिन्दू धर्म ने, जो कि अभी अपने सुस्थिर मार्ग पर आश्चर्यजनक सन्तोष और विश्वास से बढ़ता जाता है, इस्लाम पर, अपने ऊपर इस्लाम के प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव डाला है,[2] किन्तु पण्डित प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने जिस 'सामान्य भक्ति-मार्ग' का उल्लेख किया है, उसका श्रेय निश्चित रूप से हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वयात्मक रूप को मिलता है। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि 'इस्लाम के प्रारम्भिक काल में ही भारत का सिन्ध प्रदेश ऐसे सूफियों का अड्डा रहा जो यहाँ के वेदान्तियों और साधकों के सत्संग से अपने मार्ग की पुष्टि करते रहे। अतः मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर हिन्दुओं और मुसलमानों के समागम से दोनों के लिए जो एक 'सामान्य भक्ति-मार्ग' आविर्भूत हुआ वह अद्वैती रहस्यवाद को लेकर, जिसमें वेदान्त और सूफीमत दोनों का मेल था। पहले-पहल नामदेव ने फिर रामानन्द के शिष्य कबीर ने जनता के बीच इस 'सामान्य भक्ति-मार्ग' की अटपटी वाणी सुनाई। नानक दादू आदि कई साधक इस नये मार्ग के अनुगामी हुए और 'निर्गुण संतमत' चल पड़ा।'[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय 'निर्गुण संतमत' को जन्म देने में भारतीय वेदान्ती विचारधारा तथा सूफी रहस्य भावना व प्रेमतत्व अपना विशेष रूप से उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।

—व्याख्याता हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय
बाड़मेर (राज०)

१. डॉ० दुबे, शर्मा एवं चौधरी; भारतीय धर्म एवं संस्कृति, पृ० १२८।
२. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० २३७।
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल, त्रिवेणी (सं० कृष्णानन्द), पृ० ४६।

उत्कलीय ब्रजबुलि-साहित्य

श्री रघुनाथ महापात्र

ब्रजबोली साहित्य की रचना ब्रजप्रदेश के उपास्यदेव श्रीकृष्ण एवं वहाँ की देवी श्रीराधा के साथ ही उन प्रदेशों तक व्याप्त हो गई है, जहाँ उनकी भक्ति का प्रचार-प्रसार हुआ है। जगन्नाथपुरी एक सांस्कृतिक और धार्मिक केन्द्र होने के कारण पुराकाल से भारत के विभिन्न क्षेत्रों से भक्त एवं धर्माचार्यगण उसकी ओर आकृष्ट होते रहे हैं तथा विद्वानों एवं कवियों की रचनाएँ एक-दूसरे से प्रभावित होती रही हैं। यद्यपि यह माना जाता है कि राधा-कृष्ण से सम्बन्धित प्रेम-भक्तिधारा का प्रसार उत्कल में मुख्यतः चैतन्य के आने (१५०९-१० ई० सन्) के बाद हुआ, किन्तु इस समय से कोई ३५० वर्षों पहले जयदेव ने इसे प्रारम्भ कर दिया था। ब्रजप्रदेश 'आराध्य' की भूमि होने के कारण वहाँ की भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाने की चेष्टा भक्ति का ही प्रतीक मानी जाती रही है। चैतन्य से प्रभावित सारे पूर्वाञ्चल में ब्रजभाषा मिश्रित ओड़िआ, बंगला, असमी और मैथिली भाषा रूप को इन कवियों ने अपनाया और रचनाएँ कीं। प्रेमभक्तिभावना की दृष्टि से ये सभी रचनाएँ उत्कृष्ट न होने पर भी कुछ श्रेष्ठ स्थान पाने के योग्य हैं। यहाँ उत्कल के ऐसे ही रचनाकार एवं उनकी उपलब्ध रचनाओं पर विचार किया जाता है।

१२वीं सदी के कवि गीतगोविन्दकार जयदेव के सात ब्रजभाषापरक पदों की सूचना मिली है। उत्कल के प्राची नदी के तट पर स्थित केन्दुली-ग्राम जयदेव का जन्मस्थान होने की बात बाह्य एवं आन्तरिक प्रमाणों से पुष्ट है।[1] गुरु ग्रन्थ साहब में मिलनेवाले दो ब्रजबोली के पदों को पं० बलदेव उपाध्याय ने किसी जयदेव नामधारी निर्गुनिया सन्त की सामान्य रचना मानकर सन्तोष कर लिया है।[2]

---

१. डॉ० आर्त्तवल्लभ महान्ति सम्पादित—रसवारिधि—वृन्दावनदास का मुखबन्ध।

—पं० बलदेव उपाध्याय—भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, पृ० २४४ में चन्द्रदत्त रचित भक्तमाला की उद्धृति—

जगन्नाथपुरी प्रान्ते देशे चैवोत्कलाभिधे
किन्दुबिल्व इति ख्यातो ग्रामो ब्राह्मणसंकुलः
तत्रोत्कले द्विजो जातो जयदेव इति श्रुतः। —श्लोक-२९

२. पं० बलदेव उपाध्याय—भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा—पृ० २४५।

डॉ० बंशीधर महान्ति ने "झंकार" की १९५९ ई० अप्रिल संख्या में जयदेव के दो पद प्रकाशित किए तथा उन्हें एक ओर ब्रजबुली और दूसरी ओर प्राचीनतम ओड़िआ की रचनाएँ मानी। डॉ० नगेन्द्रनाथ प्रधान ने कटक जिले के गुरुदिआ स्थान से कीटभ्रंष्ट ताड़पत्र की पोथियों से तीन पद प्राप्त किए।[1] इन सभी पदों को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

गुरु ग्रंथ साहब के दो पद—

१—चन्द सत भेदिया, नाद सत पूरिया
सूर सत षोड़सावत्तुकीया
अबन्द बन्धु तोड़िआ, अचल चलु थापिया
अघटु घड़िआ तहां अपिउ पीया, मन आदि गुण आदि बर्षाणिआ
तेरी दुविधा दृष्टि संमाणिआ, आराधि को आराधिया
सराधि को सरधिया, सलिल को सलिल संमानि आइया
बदति जैदेव जै देव को रंमिया, ब्रह्मनिरवाणु लवलीण पाइया।
—बाणी जै-देव जी का, राग मारू

२—परमादि पुरखोमनोपिमं सत आदि भावरतं
परम भूत पराकृत परं यदि चिन्ति सरवगतं।
केवल राम नाम मनोरमं बदि अमृत तत मयं
न दनोतेज समरणेन जनम-जराधि-मरण भयं।
इच्छसि यमादि परामयं यस स्वसति सुकृत कृतं
भवभूत भई समव्ययं परमं परसन्न मिदं।
लोभादि दृष्टि परिग्रहं यदि विधि आचरणं
तजि सकल दुष्कृतं दुरमति भज चक्रधर शरणं।
हरि भगति निज नेह केवलं हृदि कर्मणा बचसा
योगेन किं यागेन किं दीनेन किं तपसा।
गोबिन्द गोबिन्देति जपि नर सकल सिद्धिपदं
जैदेव आयो तसं सफुटं भवभूत सरवगतं।
—जैदेव जीउ का पद, राग-गुंजरी चरचै कथा

डॉ० बंशीधर महान्ति के द्वारा प्रकाशित दो पद—

३—भज हो मन मोहन वेणुधरं।
ब्रजकुल सागर प्रेम उजागर नागर बहुरस रंग।
नवघन सुन्दर सरस मनोहर सुललित ललित त्रिभंग॥१॥
रसिक रसायन रसवती जीवन रसमय रास बिहारी।
पुष्प मुकुट सिर पीताम्बरधर मुरलीधर गिरिधारी॥२॥

---

1. ओड़िआ साहित्यर जयदेव—डॉ० नगेन्द्रनाथ प्रधान।

कुळ वनिता मन कुळ विरंचन नयनांजन कुळ मंच।
वृन्दावन वन आनन्द दायक गोपालक मधरेप ॥३॥
गोपयुवती पति लम्पट वर वर केलि चपल सुखरोषि।
वृन्दावन रमणी मन मोहन रतिपति रमाभिलाषी ॥४॥
श्री जयदेव भणतिमिति गीतं जय जय आनन्दकन्दे।
रहित चरण कमलरे शोभाकृत जन वन्दे ॥५॥

४—अविरत चिन्त हो मन

शरद शशधर चारु वदना जलद कुलवर निन्दि नयना
गोपे उतपति गोपे विहरति गाव वृन्दे श्रीकान्त। अविरत० चिन्त हो
अविरते चिन्त हो मन मउलि चलमूल चारु मुंजफल बरही गुच्छ तापरेण उज्वल
निविड़ जलदे इन्दु राजित शत्र कार्मुक भ्रान्तिया
पाद युग जिणि नकच नलिनि अतनु निन्दित अंग पिक वाणी
मनोहर नृत्य। अविरत चिन्त हो।
मन कमठ पृष्ठ कठोर कार्मुक पुणे सुस्यन्दन से पंच सायक
यदि अहजन कोपे कम्पन असुर सुरगन भ्रान्तिया
भवने किंकर रुद्र विधि सुर सुखदायक सो हरि चरणे शरण जयदेव।
भावे वर्णन्ति भावि अविरत चिन्त हो।

डॉ० नगेन्द्रनाथ प्रधान की खोज द्वारा प्राप्त तीन पद—

५—सरस वसन्त घन, यमुना तट विपुल्य, नीप तरु मूळे बिजे नन्दनन्दन
त्रिभंगिमा रूपे उभा, श्रीकरे मुरली शोभा, करन्ति मुरली ध्वनि अति पहून
वहवर संयोगयहि, कावे कुंभ बेनि श्रीवृषभानु तनयी ॥१॥
नवीन सुन्दर साम, निन्दित कोटिए काम हरिसुतपति कोटि श्री मुखठाणि
कटीरे पीतवसन, शक्रचाप नीलघन, दलित अंजन तनु झकत मणि
नासापरे सारंग फल, वनसुत प्रतिहृत कर्णे कुण्डल ॥२॥
देखिण सुन्दरी राधा, हृदये कन्दर्प बाधा, दमदम पयोधरतट रमणि
सलजिते हेठ माथ.................
ससिमुखी होइण भोल, व्रजकुलवर सेव्य वइले कोल ॥३॥
चेतना पाइण राही, अमुंकु वचन कहि, थिरे थार देइ बोले चाटुत्तर
चेन गो दहनि साम, वरिख कु दिय वान, तोषित चातेक पिउ से घोर नीर (घोषा)
सुधारस अधर देइं, दासीपणे रख मोते गोकुल साइं ॥४॥
दुइ तनु सम योग, समये ये सुखभोग, पयोधर अम्बर कि होइकि मेलि
हेमरे कळंक लग्न, चेसले हुये निमग्न, तेसन रूपे राधामाधव केळि (घोषा)
चाकिलाक सुरति रस, चळिले मानिनी तो कार वे लिख दोष ॥५॥
गो कष्टे रहिले हरि, चोषेनु पद आवोरि, भणे जयदेव कवि से पादे सिर (घोषा)

६—मो नयना मोरे नायक, चितचोर मरे आसिबे।
जयामसुन्दर छबि मनोहर, देखि करि दुःख नासिबे॥१॥
पयन पयने देखिलि, आज नयन सुफल मुं कलि।
रामहुं उठिय येहु देखी पके, बंठि सुवर्ण हुराइलि॥२॥
चतुरी दूतिमुख देखे चलिले, एमे गज गमनी।

७—बसन्त ऋतु येहु मधु पवपु, मदन सरे बसि कान्हु जीवन गो। सुण सजनी।
माधवे मान तु न कर आनेलि गो।
तोहोर प्राणनाथ विरहे दुःखी, सपने किस सुख तांकु न देखि गो। सुण सजनी।
विच्छादे केसे कोर्म हुउ विकळ, देखि हसन्ति सबु युवती मेळ गो। सुण सजनी।
तालफळु सुन्दर तो पयधर, कान्त विहुने एहा नाश न कर गो।
केते कहिबि तोर मनर सरि, नन्दनन्द माधवंकु मान न करि गो॥सुण सजनी।
ललपि हके कृष्ण करि सयन, देखि सुफल कर बेगि नयन।
देख हरिक शोभा बहुमधुर, किपाइं करुसवि मन निठुर गो। सुण सजनी।
भणिके जयदेव अति ललित, सुजने सुणि येहा होइब मुक्त गो। सुण सजनी।
माधवे मान तु न कर मानेलि।

उक्त पदों में गुरु ग्रंथ के दोनों पदों में ज्ञान की प्रधानता है। नाद-साधना का संकेत एवं नामजप का महत्व कथन। ऐसे पदों की रचना निर्गुणपंथी कवियों ने की है। जयदेव जैसे शृंगार-केलि-रस-रसिकेन ऐसे पद कैसे रचे? किन्तु वैष्णवभक्तिधारा का सूक्ष्म विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्य एवं उनके षड् गोस्वामियों के आन्दोलन के बाद ही ज्ञान-मिश्राभक्ति से प्रेमाभक्ति की धारा ने स्वतन्त्र रूप लिया है। इस युग के ओड़िआ साहित्य में तो इसके स्पष्ट संकेत १६ वीं सदी के पंचसखा-साहित्य में मिलते हैं। यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि कबीर से शुद्ध-ज्ञानमार्ग और चैतन्य से शुद्ध-भक्तिमार्ग ने अपने साम्प्रदायिक मतवाद का रूप लिया है। १५ वीं सदी के ओड़िआ कवि मार्कण्डदास की रचना "केशव-कोइलि" एक पूर्ण वात्सल्य-रसात्मक शुद्ध भक्तिपरक रचना है, किन्तु एक ओर उन्होंने ही महाभाव नामक पूर्णतः ज्ञानमिश्राभक्ति तत्वपूरित ग्रंथ की रचना की है और दूसरी ओर ओड़िआ भागवतकार जगन्नाथदास जी ने केशवकोइलि पर पूर्णतः ज्ञानपरक टीका—"अर्थकोइलि" लिखी है। पंच सखा के कवि एक ओर तान्त्रिक मतवादी ज्ञानमिश्राभक्ति के उपासक थे तो दूसरी ओर राधा-कृष्णलीला के गायक। अतएव हम इतना तो कह सकते हैं कि उत्कल में चैतन्य के आने के पूर्व [illegible] रचनाएँ हुई हैं। इसी आधार पर गुरुग्रंथ साहब के उक्त दो पद गीतगोविन्दकार के क्यों न माने जाएँ? डॉ० बड़थ्वाल ने अपने "निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री" में पूरे गीत-

---

१. प्राकृत-पैंगलम् पृ० ५७०, "जिण वेअ धरिज्जे . . . सोवेमोयरायणतुह्यवरा" गीत-गोविन्द का पद—"वेदानुद्धरते जगन्निवहते . . . कृष्णाय तुभ्यं नमः" मिल जाता है।

गीतगोविन्द सर्ग—१, पद १७-१९, सर्ग ११, ३-७ और १४-२१ : ये पद पूरे ओड़िआ के लगते हैं।

गीतगोविन्द की ही अन्वोक्ति से प्रभावित माना है। अ० २ इन पदों का संग्रह [illegible] ने अपनी पुस्तिका [illegible] के [illegible] भक्तों के मुँह से लिया होगा। कुछ आलोचक तो यह भी मानते हैं कि गीतगोविन्द का मूलरूप प्राकृत का था और जिसके कुछ पद "प्राकृतपैंगलम्" से मिल जाते हैं।

डॉ० महान्ति के दोनों पदों को व्रजबुलि का कहने में संकोच का अवकाश नहीं। [illegible] की दृष्टि से भी ये गीतगोविन्दकार के ही हैं। भणिता का अंश भी मिल जाता है। [illegible] ओड़िया के [illegible] में पद व्रजबुलि के हैं। किन्तु डॉ० नगेन्द्रनाथ जी के द्वारा दिए गए [illegible] पद—इनके व्रजबुलि के होने में प्रश्नवाचक चिह्न उपस्थित करते हैं ? केवल [illegible], [illegible] आदि दो-एक शब्दों को छोड़ इनकी भाषा ओड़िया है, अवश्य भणिता से ये जयदेव के ही पद हैं।

जयदेव के बाद चैतन्य के आगमन तक, केवल माधवेन्द्रपुरी को छोड़ कर, [illegible] [illegible] की कोई सूचना उत्कल के कवियों की रचना से नहीं चलती। अवश्य वैष्णवधर्मस्रोत का [illegible] प्रवाह ओड़िशा में चलता रहा है। चैतन्य ने केवल इसका बहुल प्रचार किया है।

चैतन्य के उत्कल से दक्षिण की यात्रा पर जाने की इच्छा व्यक्त करने पर [illegible] [illegible] नैय्यायिक सार्वभौम भट्टाचार्य ने चैतन्य से कहा था कि वे विद्यानगर के अधिकारी राय रामानन्द से अवश्य मिल लें, कारण वे ही उत्कल के ऐसे एकमात्र व्यक्ति थे जो चैतन्य को प्रेम भक्ति का तत्त्व बता सकते थे। संस्कृत की रचनाएँ—जगन्नाथ वल्लभ नाटक, टीका [illegible] उन्हीं की हैं। परवर्तीकाल में उनके भाषापरक पद भी मिलते हैं। चैतन्य चरितामृत में रामानन्द का नाम जयदेव, विद्यापति एवं चण्डीदास के साथ लिया गया है। गोपीनाथ ने उन्हें नाटककार के रूप में याद किया है। विद्यानगर या विजयनगर के राज्यपाल [illegible] [illegible] शासन के प्रति उदासीन, चैतन्य के साथ तत्त्वालोचन के बाद राजा प्रतापरुद्र की सम्मति से वे आजीवन चैतन्य से अलग न होने की इच्छा से, पुरी आ गए थे। चैतन्य राय रामानन्द को इतना महत्त्व देते थे कि सनातन गोस्वामी को वैष्णवधर्म की शिक्षा देने और रूपगोस्वामी के ग्रंथों की परीक्षा करने आदि का भार, स्वयं न करके, इन पर सौंपा था। चैतन्य ने कहा था कि मैं स्वयं मायावादी संन्यासी हूँ और रामानन्द के प्रभाव से कृष्णप्रेम अनुभव कर रहे हैं। रामानन्द ने अपने तत्त्वालोचन में एक-से-एक बढ़ कर महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। इन सोपानों को निम्नक्रम में देखा जा सकता है—वर्णाश्रमधर्म पालन—इसे छोड़ भजन-ज्ञानमिश्राभक्ति, ज्ञानशून्य

---

१. डॉ० आर्तवल्लभ महान्ति, रसवारिधि मुखबन्ध, पृ० ८।

२. चैतन्य चरितामृत—कृष्णदास कविराज, मध्यलीला-सप्तम परिच्छेद, पद ६-१२, पद ६०-६६।

३. वही, चण्डीदास विद्यापति, रायेर नाटक, गीत, कर्णामृत श्री गीतगोविन्द। स्वरूप रामानन्द सने, महाप्रभु रात्रिदिने, गाये सुनें परम आनन्द। २ : ६६

४. श्री जयदेव बहुरस नाटक प्रकाशन, कुजपुर प्रेमविलास लिटरेचर से।

५. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परिच्छेद ८, पद १८८-१९०।

६. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परिच्छेद २०, और अंत्यलीला परि० १।

७. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परिच्छेद ८, पद २८-२९।

भक्ति या विशुद्धाभक्ति। यहीं से वैष्णवसाधन का प्रारंभ है। प्रेमभक्ति सब में सार है और उसमें क्रम से दास्य, सख्य, वात्सल्य और अन्त में कान्ताभाव को रामानन्द ने महत्वपूर्ण बताया। चैतन्य ने और भी आगे कहने के लिए कहा तो राधिका के प्रेम को सब साध्यों की शिरोमणि उन्होंने बताया। चैतन्य के राधा-कृष्ण के स्वरूपतत्व के बारे में पूछने पर, एक बहुत ही सुन्दर रूपक बाँधकर राधा के महाभाव भूषण का चित्रण रामानन्द ने किया कि राधा का लज्जा-विनिमय ही उनका वस्त्र है, कृष्णानुराग उत्तरीय है, मान एवं प्रणय कंचुली है, सौन्दर्य-कुंकुम, सखियों का प्रणय चन्दन, स्मितकान्ति कर्पूर, श्रीकृष्ण का उनके प्रति प्रेम कस्तूरी, प्रच्छन्न-मान जनित वामभाग उनकी प्रभा, कृष्णानुराग अधर शोभित ताम्बुलराग, प्रेम कौटिल्य नेत्रों का कज्जल और श्रीकृष्ण नाम-यश-गुण श्रवण उनके कर्णवतंस हैं।

चैतन्य के राय रामानन्द को बहुत अधिक महत्व देने की ओर एक घटना उनके प्रद्युम्न मिश्र को राय रामानन्द के पास कृष्णकथा सुनने के लिए भेजने से सम्बन्धित है। राय रामानन्द को देवदासियों को नृत्यगीत, नाटक सिखाते हुए जानने पर, जब प्रद्युम्न मिश्र ने चैतन्य से उनके वेश्यासक्त होने की जिज्ञासा की, तब चैतन्य ने राय रामानन्द के लिए कहा कि उनका देह मन सब अप्राकृत है। राय रामानन्द की शक्ति असीम है, वे सुन्दरियों का अंगमार्जन करते हैं, उन्हें मूल्यवान वस्त्राभूषणों से सजा देते हैं, नृत्यगीत सिखाते हैं—भाव-भंगी भी; फिर भी वे निर्विकार हैं।

डॉ० जयकान्त मिश्र ने कहा है कि राय रामानन्द के एक सौ से अधिक पद हैं, जो कृष्णभक्तिपरक हैं और साधारण ब्रजबोली के पदों से श्रेष्ठ हैं। डॉ० मिश्र का मत है कि इनकी भाषा मैथिली, ब्रज, ओड़िआ और बंगला मिश्रित है। इनका प्रकाशन डॉ० प्रियरंजन सेन ने कराया है। डॉ० रत्नकुमारी ने अपनी थीसिस "हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि" में कहा है कि राय रामानन्द का केवल एक पद ब्रजबुलि में प्राप्त है। पदकल्पतरु तथा चैतन्य चरितामृत में यह पद प्राप्त हो जाता है, किंतु कृष्णदास कविराज ने शेष की दो पंक्तियों को छोड़ दिया है, सम्भवतः इसका कारण उन पदों का राजभक्ति से सम्बन्ध होना है। यह पद है—

१—पहिलहिं राग नयन-भंग भेल । अनुदिन बाढ़ल अवधि ना गेल॥
ना सो रमण ना हा रमणी । दुहुं मन मन भव पेशल जानि॥
ए सखि सो सब प्रेम काहिनी । कानुठामे कहबि बिछुरह जानि॥

---

१. चैतन्य चरितामृत—कृष्णदास कविराज, मध्यखण्ड, परिच्छेद ८, पद ७५।

२. वही—परिच्छेद ८, पद १२९-१३२।

३. वही—परिच्छेद ८।

४. हिस्ट्री आफ ब्रजबोली लिटरेचर।

५. हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—डॉ० रत्नकुमारी, पृ० ७५।

६. पदकल्पतरु, पद ५७६ : हि० और बं० वैष्णव कवि के आधार पर राय रामानन्द : श्रीमती सरला देवी, पृ० ६।

७. साहित्य जिज्ञासा—गंगाधर बल, पृ० ६९।

ना सोजलुं दूति न सोयलुं आन । दुहुंक मिलने मध्यत पांच बाण ॥

अब सो बिरागे तुहुं भेलि दूति । सुपुरुष प्रेमक ऐछन रीति ॥

चैतन्यचरितामृत में यहीं तक है। पदकल्पतरु की दो और पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

वर्धन रुद्र नराधिप मान । रामानन्द राय कवि भाण ॥

इस पद को सुनकर चैतन्य ने प्रेमविह्वल होकर रामानन्द के मुख पर और कुछ न कहने के लिए हाथ रख दिया था। चैतन्य ने समझ लिया कि रामानन्द ने इसमें राधाकृष्ण के निरुपाधि प्रेम का चित्रण कर दिया है और यह ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। इसका रहस्य प्रकाश करने के योग्य नहीं है—इसीलिए उन्होंने कहने से रोक दिया। इस गीत में कृष्ण के विरह में राधा ने व्याकुल होकर किसी प्रिय सखी द्वारा वार्ता भेजी है।

न कहने के लिए हाथ रख दिया था। चैतन्य ने समझ लिया कि रामानन्द ने इसमें राधाकृष्ण के निरुपाधि प्रेम का चित्रण कर दिया है और यह ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। इसका रहस्य प्रकाश करने के योग्य नहीं है—इसीलिए उन्होंने कहने से रोक दिया। इस गीत में कृष्ण के विरह में राधा ने व्याकुल होकर किसी प्रिय सखी द्वारा वार्ता भेजी है।

अन्य उपलब्ध पदों का परिचय नीचे दिया जाता है—

२—सम सखागणे कृष्ण बोल ए वचन । स्नाहान बढ़ाआ मोरे मिलब असन ॥

सुरेश मन्दिरे बिजे हरि हलधर । गोपाल चलेन घरे स्नाहाने तत्पर ॥

नित्यकर्म सरिसरे भेटल मोहन । चंदन चोपाछे केहु दिखाए दर्पण ॥

मलय कुसुम मधु श्री अंगे मण्डल । रामानन्द चिन्ति रूप आनन्दे बुड़ल ॥

इसमें कृष्ण के दैनन्दिन जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार उनके वन्दनात्मक लीला में राधाकृष्णलीला का वर्णन बहुत ही संयत एवं महाभावोचित है—

३—जय गोकुल नन्दन हृदय चन्दन । व्रजवासी हृदय भ्रमर पद्म भवन ॥

भुवन मोहन जय आरत भंजन । रमणिमणि रसिक आरत वर्धन ॥

व्रजगण युवती चातक नवघन । व्रजकिशोरी नयन ललित अंजन ॥

उनके संगीत नाटक आदि कलाज्ञान की छाप, रासवर्णन में वाद्य-यन्त्रों की कार्यों में स्पष्ट है—

४—ताथ्‌क ताथ्‌क सप्त स्वरे गान करे।

सुन नर मुनि जन मोहये अन्तरे॥

क्षण के नूतन नर्त्तन मोहन सखी गणे माति।

वीणा वंशीरवा मुरज भिन्न भिन्न स्वरे भाति॥

थिकता थिकता थिकता तानाना रीताना रीताना।

झनन् झनन् झंकु झंकु झां झा झांधिना धिना॥

चालि चमक मान तान वाद नाना विधि रस रंगे।

करन्ते नर्त्तन यशोदा नन्दन अवभेल सब अंगे॥

करि धीरे धीरे आलाप मधुर धीरे चलावत चमर।

ध्रुव पद गान मुखे आलापन गोपिका नवकिशोरी॥

नृत्य गीत गान स्वरे स्वरोद्गम सकल गोलिका मुखे।

पं० विनायक मिश्र ने अपने "ओड़िआ साहित्यर इतिहास" में लिखा है कि श्री सूर्यमणि दास से श्री प्रियरंजन सेन ने राय रामानन्द की पदावलियों को प्राप्त किया था। उनके प्रारंभ का उदाहरण जो मिश्र जी ने दिया है वह इस प्रकार है—

५—रात्रि शेषे नीलमनि, कोले आछे विनोदिनी, आलसिते निकुंज-मन्दिरे।
दुहुं तनु एक संग, लेखाछि अनन्य रंग, सुधा-सिन्धु उछुरित भरे॥
मर्त्यपुरे कोई वारित, ना विधाइ ना विधाइ, निश्चय दुमरण सार्यें।
क्षीर नीर जेन साजे, अभेद बरन राजे, कुंकुम अरुण संगे पाये॥
क्षणे क्षणे तनु दुहा, वारित होये देहा, बाधे कि दामिनीर बेला।
नीलमनि कोले निये, बाहुक कांचन रये, तमाले कनक बल्लरी परा॥
राय रामानन्द कहे, उपमा नाहिक होये, दुहुं तन दुहुं के उपमा।
अधरे अधर पाने, बयान बयाने करि, इच्छे लीलारस धाम॥

मुझे राय रामानन्द की एक पोथी "कृष्णलीला" देखने को मिली है। यह श्लोक गीत कली की शैली में रचित है। इसके चार उपविभाग हैं—राधाजामा गउर संन्यास, दण्ड बेला और चूकल-चुलिया मिलन। गउर-संन्यास को छोड़ बाकी राधाकृष्ण विषयक हैं। राधा जन्म की कथा इसमें इस प्रकार है—वृषभानु यमुना में स्नान करते समय बहते हुए पद्म को देख, ले आते हैं। पहले से हुए उनकी रानी का गर्भ देवतागण हरण कर लेते हैं। पद्म मुरझा जाता है और एक कन्या भूमि पर पतित होती है। उसके नेत्र बन्द थे। इधर कृष्ण माता से हठ करके वृषभानु के यहाँ जाते हैं और उन्हें देख कन्या—राधा—आँखें खोलती हैं। एक ओर यशोदा दोनों के विवाह की बात करती हैं और दूसरी ओर सखियाँ राइ काधा का विवाह नारद की उपस्थिति में नव वृन्दावन में करती हैं। उसके कुछ पद इस प्रकार हैं—

६—तइखने पद्मगोटि मलीन हइल। कोटिचन्द्र एक बेले भूमिते पड़िल॥
सकल जन तबे चेतना पाइल। राये रामानन्द देखि हरष हइल॥
आसिलेन ठाकुरानी मिलि नागर कान्हे। चक्षुमेलि चांहिलेन कृष्णर [illegible]॥
कृष्ण राधा रूप देखि आनन्द हइल। राये रामानन्द बोले मिलन हइल॥
कुंज मांझे दाण्डाइल। राइ रूप देखल॥
राइ विनोदिनी कर धरि सखी गने। कृष्ण के विभा कराये नव-वृन्दावने॥

दण्डबेला में दिन के ३२ दण्डों में राधा-कृष्ण की दैनन्दिन जीवन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया है। राधा इसमें प्रतिदिन आकर यशोदा के यहाँ कृष्ण के लिए रसोई बनाती और

---

१. राय रामानन्द—सरला देवी, पृ० १०४ से।
२. वही—पृ० १०५-१०६ से।
३. ओड़िआ साहित्येर इतिहास, पं० विनायक मिश्र, पृ० १०४।
४. ओड़िया राज्य संग्रहालय—पोथी क्रमांक—डी० वाइ० १४६।
५. वही, पृ० ४, ६ और १०-१५।

जाती दिखलाई-दिखलाती थी। बीच में कृष्ण के मुरलीवादन एवं राधा के वृन्दावन में आने, जिसका अतः रास आदि का भी वर्णन है—

७—तुमार मुरली आमार चित्त हरण करे। आशापूर्ण करि तुमि मिल रस आइ॥...

तबे पडे राइ श्याम कलेवर मिशा। अलौकिक रास करे मगन हुइआ॥१०॥

"बकुल दुतिया मिलन-ललित कुंजे" में राधा एवं कृष्ण के एक दूसरे पास सखी एवं दूती भेज कर मिलने, नाना लीलाओं के करने तथा अन्त में कवि द्वारा ब्रजवासियों की सराहना, कि वे हरि को कुंज में लिए होती हैं; का उल्लेख है—

८—न बंधिब प्रमथनी। शुण शुण नीलमनि।

. . . .

कृष्ण आकर राधा से कहते हैं—

शुन शुन राइ, आमि भावग्राही, कहिलर राइ कर्णरे।

कवि कहता है—

ब्रजवासीगन होइल सगन, मुजे निरखधि हरि।

राये रामानन्द होइल आनन्द, मंगले धुनि आचरि।[1]

उक्त पदों से स्पष्ट है कि राय रामानन्द उस क्रान्ति के वाहक थे जो बाद में नामसंकीर्तन के रूप में पूरे उत्कल में व्याप्त हो गई थी। परवर्ती ओड़िआ वैष्णव कवियों को रागमार्गीय काव्य लिखने की प्रणाली रामानन्द ने ही दी थी। चैतन्य के सहस्र भक्तों में से जिन साढ़े तीन जनों को अन्तरंग माना जाता था,[2] उनमें रूपगोस्वामी को छोड़कर बाकी अढ़ाई उत्कल के थे— जिनमें राय रामानन्द का नाम सर्वोपरि है।

ब्रजबुली के तीसरे कवि हैं राजा प्रतापरुद्र। इन्हें चैतन्य की कृपा राय रामानन्द के कारण मिली थी। ऐसी कथा प्रचलित है कि चैतन्य के दर्शन के लिए इन्हें काफी चेष्टा करनी पड़ी थी और अन्त में रथयात्रा के अवसर पर जब राजा रथ के ऊपर "छेरापंहरा" या झाड़ू दे रहे थे, उन्होंने इसकी प्रशंसा की, तथा राजा वैष्णव वेश में चैतन्य से मिल सके।[3] किन्तु प्रतापरुद्र रागमार्गीय भक्त नहीं थे। जगन्नाथ की सेवा वे दास्यभाव से करते थे और उनकी यही भावना बनी रही। राजा ने स्वयं संस्कृत और ब्रजबुलि में रचनाएँ की हैं। एस० के० सेन जी का मत है कि ब्रजबुलि के जो पद प्रतापरुद्र के मिलते हैं वे या तो किसी अन्य इसी नामधारी व्यक्ति के हैं या उनके नाम से किसी और ने रची हैं।[4] किन्तु जो राजा चैतन्य से मिलने के लिए इतने कष्ट सह सकता है, रामानन्द को पूरे वेतन सहित चैतन्य के साथ रहने की अनुमति दे सकता है,

---

१. वही—पृ० ३५।

२. कृष्णलीला—राय रामानन्द—पोथी, सी० आई० १४६, पृ० ४५, ४८।

३. बाकी डेढ़ जने हैं—शिखि माहान्ति और उसकी बहन माधवी देवी—नारि होने के कारण उसे आधा माना जाता था।

४. चैतन्य चरितामृत की सूचना से।

हिस्ट्री आफ ब्रजबुलि लिटरेचर—एस० के० सेन।

काशी मिश्र एवं चैतन्य की पद सेवा कर सकता है, उसके हृदय में कविता के लिए रागात्मक भावनाओं का अभाव होगा, ऐसा सोचना क्लिष्ट कल्पना करना है। जो पद प्राप्त हुआ वह इस प्रकार है—

तोमार लागिआ राजे, तोमा आरा-धिनु।
मनेर मानस जत सकल साधनु॥
अंग माझे हब तोमार अंग परिपूर।
आभरण माझे हब कुसानि नूपुर॥
नख चन्द्र चकोर पद कमले भ्रमर।
ओरुपे मुकुर हब निराशे चामर॥
आर एक साध आमि करि आछि मने।
अति क्षीण रेणु हया थाकिब चरणे॥
रेणु हेते ना पाइ यदि मने अनुमानि।
प्रतापरुद्रे कृपा करह आपनि॥

ओड़िआ-भागवतकार, पंचसखाओं में सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि जगन्नाथदास हैं। भागवत को सुनकर चैतन्य ने मोहित हो इनका सम्मान किया था। ज्ञान मिश्रा भक्ति के उपासक होकर भी, भावतन्मय होकर चैतन्य के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पदों की रचना की है। डॉ० सेन ने इनके तीन पदों का संकलन अपने इतिहास में किया है, जिनमें से प्रथम और तृतीय यहाँ दिए जाते हैं—प्रथम में चैतन्य के जन्मोत्सव या बधाई का वर्णन है और तृतीय में श्रीकृष्ण के यमुना-पुलिन पर वंशीवादन का।

१—फाल्गुन पूर्णिमा तिथि समय सकलि।
जनम लभिबे गोरा, पड़े हुलहुलि॥
अम्बर अमर सब मेल उनमुख।
लभिले जनम गोरा जाबे सब दुःख॥
शंख दुंदुभि बाजे परम हरषे।
जय ध्वनि सुर फुल कुसुम बरिषे॥
जग भरि हरि ध्वनि उठे बन बन।
आबाल बनिता आदि नर नारि गण॥
शुभ क्षण जानि गोरा जनम लभिल।
पूर्ण शेरि चन्द्र जेन उदय करिल॥
सेइकाले चन्द्रे राहु करिल ग्रहण।
हरि हरि ध्वनि उठे खेरिका खेचन॥
हीन चीन उद्धार हक् बे खेल काम।
देखिआ आनन्दे भासे जगन्नाथदास॥

१. "राय रामानन्द"—श्रीमती सरला देवी पृ० १९५-१९६।
२. "राय रामानन्द"—श्रीमती सरला देवी, पृ० १९७-१९८।

तीसरा पद वंशीवादन का चित्र प्रस्तुत करते हुए कृष्ण के नटवरवेश, गोपाल और गोपीवल्लभ रूप का सुन्दर भाव देता है—

३—असित अम्बुधर असित सरोरुह
अतसी कुसुम अहिमकर सुतानीर
इन्द्रनीलमणि उदार मरकत
श्री निन्दित वपु आभा रे।

शिरे शिखण्ड दल नव गुंजाफल
निरमल मुकुता लम्बि नासातल
नव कमलय - अवतंस गोरोचन
अलक तिलक मुख शोभा रे।

श्रोणी पीताम्बर वेत्र वामकर
कम्बुकण्ठे वनमाला मनोहर
धातुराग वैचित्र्य कलेवर
चरणे चरण परिशोभा रे।

गोधूलि धूसर विशाल वक्षस्थल
रंगभूमि जिनि विलास नटवर
गोछांदन रजु विनिहृत कन्धर
रूपे भुवन मन लोभा रे॥[1]

ऐसा वर्णन तो ब्रजबोली में भी दुर्लभ है।

उत्कल के ब्रजभाषापरक पदों की रचना करने वालों में माधवीदासी, जिन्हें चैतन्य ने दर्शन तक न दिया था—सम्भवतः लोकशिक्षा एवं संन्यासजीवन के आदर्श के लिए—और फिर भी जो उनके प्रिय साढ़े तीन पार्षदों में थीं[2]; का नाम अग्रगण्य है। माधवी ने चैतन्य के मुखदर्शन न कर सकने का दुःख व्यक्त किया है।[3] डॉ० रत्नकुमारी ने इसी आधार पर गलती से उनका परवर्ती होना मान लिया है,[4] जो ठीक नहीं। माधवी विद्यावती, गुणवती और भक्तिमती थीं। कवि कर्णपूर तक ने अपने श्लोकों में इनकी प्रशंसा की है। मीरा की तुल्य वे

---

१. पाठचक्र प्रबन्धावली, पृ०-५६। ओड़िया विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय द्वितीय खण्ड-१९७१-७२।

२. जगतर मध्ये पात्र साढ़े तिनिजन।
स्वरूप गोसाइं आरं राय रामानन्द।
शिखिमाइति तिन, तारभगिनि अर्धजन॥
चैतन्य-चरितामृत, अन्त्यलीला।

३. जे देखिए गौरा मुख सेइ प्रेमे भासे।
माधवी वंचित हैल निज कर्मदोषे। चै० च०।

४. हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—डॉ० रत्नकुमारी, पृ० ६८।

थीं। कृष्णदास कविराज ने तो इन्हें 'राधा की दासी' के रूप में मान्यता प्रदान की है।[१] नारी होकर भी उस समय जब कि नारी को संस्कृत पढ़ने का अधिकार नहीं था, इन्होंने संस्कृत में "पुरुषोत्तमदेव" नाटक की रचना की है। एक हस्तलिखित पोथी "जीव परम चौतीसा" में राधाकृष्णलीला को एक शून्यवादी व्याख्या दी गई है—राधा को जीव एवं श्रीकृष्ण को परम मानकर। इनकी भणिताओं में माधवीदास, माधवी दोनों प्रयोग मिलते हैं। प्राप्त पदों को नीचे दिया जाता है—

१. राधा माधव विलसइ कुंजक मांझ।
तनु तनु सरस परस रस पिबइ कमलिनी मधुकर राज॥
सचकिते नागर कांपइ थरहर शिथिल होयल सब अंग।
गद गद कहये राइ मेल अदरश कब होयब तछु संग॥
सो धनी चाँद वदन कब हेरब शुनब अमियामय बोल।
इह मझु हृदय ताप किए मेटब सोइ करब किए कोल॥
ऐछनक तहुं विलपइ माधव सहचरि दुरहि हास।
अपरुप्य प्रेमे विषादित अन्तर कहतहि माधवी दास॥[२]

२. वसंत
आनन्दे नाचत संगे भकत गौर किशोर राज।
फागु उझालि करे पेलापेलि नीलाचल पुरी मांझ॥
शुनिया नागरी प्रेमे त आगरि धाइया चलिल बाटे।
हेरिया गोरे पड़िया पांपरे वदन चाहिया थाके॥
दुबाहु तोळिआ बेड़ाय नाचिया भकत गणेर संग।
नीलाचल वासी मने अभिलाषी कौतुके देखिए रंग॥
बाजे करताळ बोले भालि भाल आर बाजे ताहि खोल।
माधवी दास भनते उल्लास सदा बले हरिबोल॥[३]

इसमें चैतन्य के नीलाचल—जगन्नाथपुरी-लीला का वर्णन है। बंगला का प्रभाव इसमें देखा जा सकता है।

३. प्रतप्त कांचन कान्ति अरुण वसन, प्रेमे छलछल दुइ अरुण नयन।
आजानु लम्बित भुज चन्दने भूषित, उन्नत नासिका उर्ध्वतिलक शोभिता।[४]

४. जाम्बुनद हेम जिनि, गौर वरण खानि, अरुण वसन शोभे याय।
प्रेम भरे गर गर, आँखि युग झर झर, हरि हरि बोल बलि धाय।[५]

---

१. चैतन्य चरितामृत, अन्त्यलीला।
२. राय रामानन्द—श्रीमती सरला देवी, पृ०—१९६ से।
३. ब्रजबुलि साहित्य—गंगाधर बल, साहित्य जिज्ञासा, पृ०—७८।
४. वही, पृ०—७९-८०।
५. वही, पृ०—८०।

ठाकुर के पदों में चैतन्य के रूप का आलंकारिक वर्णन है जिसमें उनके प्रेमविह्वल रूप का चित्र हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है।

"चैतन्य मत के ब्रजभाषापरक साहित्य के शोध" नामक एक लेख में प्रभुदयाल मीतल जी ने माधवदास जगन्नाथी का नाम लिया है। इन्हें माधवेन्द्रपुरी का शिष्य, पूर्वी अंचल के विरक्त ब्राह्मण, प्रायः जगन्नाथपुरी में रहनेवाले, जगन्नाथ के भक्त, बताया है। इनका जन्म मीतल जी ने सं० १५४० वि० के लगभग माना है। प्रियादास और नाभादास ने भी इनका उल्लेख प्रकाण्ड विद्वान् एवं भक्तिशास्त्रों के ज्ञाता के रूप में किया है।[1] मीतल जी कहते हैं—"भाषा-साहित्य में उनका वही स्थान है जो संस्कृत में वेदव्यास का। इस समय उनके ब्रजभाषा में रचित महाभारत, इतिहासकथासार समुच्चय उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनकी छोटी रचनाएँ ही मिली हैं। इनके साथ ही उनकी जगन्नाथजी की स्तुति के पद और लोक काव्य की विभिन्न रचनाएँ मिली हैं। उनकी वाणी का प्रचार उड़ीसा में बहुत अधिक है।"[2]

..."माधवदास नाम के एक भक्त कवि और भी हुए हैं तथा उनकी रचनाएँ इनसे मिल गई हैं, फिर भी इनमें जगन्नाथ जी का उल्लेख अधिक होने के कारण इन्हें पहचाना जा सकता है।"[3] किसी पद आदि का उदाहरण मीतल जी ने नहीं दिया है। उपर्युक्त वर्णन हमारी माधवीदास से कुछ अंशों में मिलता है, किन्तु रचनाओं की जो लम्बी सूची मीतलजी ने दी है वह बिलकुल भिन्न है। उनकी वाणी का प्रचार उत्कल में बहुत है, ऐसा मीतलजी ने लिखा है पर मुझे ऐसा कोई सूत्र नहीं मिला कि मैं इसका समर्थन कर सकूँ। वरन् यहाँ के किसी आलोचक ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया है, यह आश्चर्य में डालनेवाली बात है!

सुकवि विद्यापति चम्पति, विद्यापति कवि चम्पति, चम्पति, चम्पतिपति और चम्पति-राय की भणिता से ब्रजबुलि के पद रचनेवाले का परिचय श्रीराधामोहन ठाकुर ने "पद-समुद्र" में इस प्रकार दिया है—"श्री गौरचन्द्र भक्तः श्री प्रतापरुद्रमहाराजस्य महामात्यचम्पति-राय नामा महाभागवत आसीत्। स एव गीतकर्त्ता तस्य सिद्धि वक्ष्यामपि तत्त्वम्।"[4] डॉ० आर्तवल्लभ महान्ति ने प्राचीन गद्य-पद्यादर्श के मुखबन्ध में चम्पति का १४७९ से १५३२ ई० के बीच होना लिखा है।[5] पदकल्पतरु के सम्पादक सतीशचन्द्र राय का कहना युक्ति-संगत है कि गीतकर्त्ता का प्रकृतनाम राय चम्पति है और उनकी उपाधि सुकवि विद्यापति थी।[6] चम्पति ने अपने पदों में जयदेव और विद्यापति का पदांक पद-पद पर अनुसरण

---

१. भक्तमाल, छप्पय—सं० ७०, मीतल जी के आधार पर।

२. हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, वर्ष-१३, अंक-१, २, पृ०—४०६।

३. वही, पृ०—४०७।

४. पदकल्पतरु का मुखबन्ध, सतीशचन्द्र राय, पृ०—११२।

५. प्राचीन गद्य-पद्यादर्श का मुखबन्ध, डॉ० आर्तवल्लभ महान्ति, पृ०—१७।

६. ब्रजबुलि साहित्य—अंबाचरण बल, साहित्य जिज्ञासा, पृ०—७१-७३।

लिया है।[1] डॉ० रत्नकुमारी ने गोविन्ददास के साथ इनके नाम के आने की सूचना दी है।[2] चम्पति के उपलब्ध पद यहाँ दिए जाते हैं—

१. शामल शरद निशाकर निरमल परिमल कमल विकास।
हेरि हेरि बरजरमणिगण मुरछइ सोङरिया रास विलास।
माधव, तुया अति चपल चरित।
किये अभिलाषे रहलि मथुरापुरे बिसरिया पूरब पीरित॥
ये सुख यामिनि विरहिणी कामिनी कैछने धरब पराण।
रोइ रोइ मरम सरम सब तेजल जिवइते नाहि निदान॥
अमल कमल दल जो मुख मण्डल अब भेल शामर तुलि।
चम्पतिपति तोहे किये समुझायब पेखह वान्लवि कुल॥[3]

ज्योत्स्ना-धवल शारदीय-रात्रि में गोपियों की विरह-वेदना का यह एक मार्मिक चित्र है।

२. आला धानश्री

सरस सुखमय समय षठपद सारी शुक पिक गावइ।
कुसुम बास प्रकाश नव मधु-मास सुख दरसावइ॥
ए सखि घरइ रहइ ना जावइ।
हमारी कान्त नितान्त बुझि मधु कुसुम कानने आवइ॥
चलह तुरतहिं ताहिं प्रिय सखि मन्दिर अब नहिं भावइ।
जाहां वृन्दा विपिने विथार फूलवय श्यामभ्रमर आलापइ॥
जाहां मोर मोर चकोर चातक मलय मारुत मन्द।
जाहां यमुना पुलिन कदम्ब तरु मूले विहरे गोकुलचन्द॥
मधुचित गयो तहां देह रहो यहां कहलु मरमक बात।
निज चरण प्रियजन रायचम्पति रचइ भाविनि साथ॥[4]

उक्त पद में विरहिणियों की आकुलता कवि के अन्तर्हृदय की वेदना व्यक्त करती है।

३. सजनि आर कत कर परलाप।
सो मुझे जैसन करलहिं अपमान सो बड़ हृदयक ताप।
जो वर नारी सार करि लेयल सो पद सेवउ आनन्दे।
ता कर लागि जागि निशि रोयेउ पिवउ सो मकरन्दे॥[5]

यहाँ राधाकृष्ण की माधुर्यलीला का माहात्म्य स्पष्ट है। एक पद में कवि अपने अंग-प्रत्यंग से विरह में जलकर निःशेष होने का भाव व्यक्त करता है—

---

१. ब्रजबुलि साहित्य—गंगाधर बल, साहित्य जिज्ञासा पृ०—७२-७३।
२. हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—डॉ० रत्नकुमारी, पृ०—५३-५४।
३. पद कल्पतरु—तृतीय खण्ड—चतुर्थ शाखा, प्रथम भाग, पृ०—८१।
४. वही, पृ०—८१, साहित्य जिज्ञासा पृ०—७३-७५ के आधार पर।
५. ब्रजबोली साहित्य का इतिहास, एस० के० सेन; पाठचक्र निबन्धावली पृ०—५७ से।

४. अलक अधिक भो तन बहुत पीति बिछु देखि प्रति अंगे।
सम्पति पैठा कर्पूर जब ना मिलब तबे मिलब हरि संग॥[1]

और वो यह कहता है कि प्रियतम के बिना उसका शरीर समाप्त हो रहा है—

५. माथुर नाम सुनि प्राण केमन करे। बड़मने साध आणे कानु देखिबारे॥
आर ओ गोकुलचाँद ना करिब कोले। पाइब परशमणि हाराइलु हेले॥
ओपारे मथुर घर बैसे गुणनिधि। पाखी हुअं उड़िआर्क पाखा ना देय बिधि॥
पाषणेतेदिया कोल पाषाण मिलाय। आंगुतेते दिये झांप आंगुलि मिलाय॥
जमुनाते दिये झांप नाजानिसां तार। कलसे कलसे सिंचि नादूहु पाथार॥
कतदूरे प्राणनाथ आछे कोन देशे। सम्पति एत बिनु तनु भेल शेष॥[2]

डॉ० आर्त्तवल्लभ महान्ति ने अपने लेख "ओड़िया साहित्य का विकासक्रम" में रामचन्द्रदेव (१५७०-१६०९ ई०) के समकालीन और एक दामोदर सम्पतिराय का उल्लेख किया है, जिन्होंने ब्रजबुलि में कृष्णचरितपरक पद लिखे हैं। निम्न पद संगीत की सृष्टि करता है—

घन घन गर्जन अम्बर घोर।
चउदिगे चमकइ बिजुलि जोर, अहर्निशि झाम्पइ मत्त मयोर।
शुनि शुणि हियरा कम्पइ मोर, अबहुं बिसर गये नागर मोर॥[3]

उत्कल के मुसलमान कृष्णभक्त कवि के रूप में सालबेग का नाम अमर है। ये १६-१७वीं सदी के थे। इनकी माता ब्राह्मणी किन्तु पिता मुसलमान थे—या तो विधवा ब्राह्मणी मुसलमान सेनापति के प्रेम में पड़ी थीं या सेनापति ने ब्राह्मणी का अपहरण किया था।[4] कुष्ठरोग से आक्रान्त हो, अपनी माता के परामर्श से जगन्नाथ-विश्वास के कारण रोगमुक्त हुए और जगन्नाथ एवं कृष्णभक्ति सम्पर्कीय ओड़िआ और ब्रजबुलि में पदों की रचनाएँ कीं। ओड़िआ के इनके भजनों में "आहे नीलशैल प्रबल मत्त वारण" तथा "सखि कुंजवने वंशी के बजाइला" बड़े प्रसिद्ध हैं। यहाँ उनके दो ब्रजबुलि के पद दिये जाते हैं—

१. तुडी

नागरी नागरी नागरी। कत प्रेमेर आगरि नव नागरि॥
कनक-केतकी-चम्पा तड़ित बरणी। इन्दीवर-नीलमणि जलद-बसनी॥
मृगज-पंकज-मीन-खंजन नयनी। कामधेनु भ्रमर पंक्तिगुरु गुंजनिणी॥
नासा तिलफूल-खग-चम्प कलिजिता। जामि जल बहन्तिबेणि झांपि झलकिता॥
भाले से सिंदुर बिंदु शोभे केश शोभा। जिनि इन्दीवर बाहु तमालेर आभा॥

---

१. राय रामानन्द—श्रीमती सरला देवी, पृ०—१०३ से।
२. वही।
३. डॉ० आर्त्तवल्लभ महान्ति का लेख, रजत जयंती राष्ट्रभाषा ग्रंथ, १५०।
४. वही, पृ०—१५०, १५१; इतिहास-विनायक मिश्र, पृ०—१११।

माके विराजित उरे मोतिम हारा। हंस-बक-श्रेणी मंगजल तुम्ब धारा॥
कह सालबेग हीन जवत पामरा। रसेर कलिका राइ कानु से भ्रमरा॥[1]

उपर्युक्त पद में रस की कलिका राधा के अंग-लावण्य का एक मनोहर बिंब कवि ने प्रस्तुत किया है। नीचे वाले पद में कृष्ण की अंगशोभा का एक आलंकारिक आदर्श मिलता है—

२. विहगड़ा-ताल चर्च्चरी

जै राधे गोपाल गोपांगना रे।
शीश मोर-मुकुट नट, शोहे कटि पीतपट, किंकणि अधिक सुहावना रे॥
भाल केशर तिलक, काणे कुण्डल झलक, अधर पर मुरली सुख पावना रे॥
यमुना तट रंगिणि, सकल रमणिमणि, रूप नव-जामिनि-गंजना रे॥
बधन ननध रव-धर, ऊघट भेद यंत्र-धर, सात स्वर तान विश मूर्च्छना रे॥
थिगिनि गिनि धिद्धिकट, तग् धेनांतिस्तिगट, सालबेग पूरल मनकामना रे॥[2]

इसकी ध्वन्यात्मकता कवि की संगीतप्रियता का परिचय भी देती है।

डॉ० आर्तवल्लभ महान्ति ने कान्हुदास का नाम अपने गद्य-पद्यादर्श के मुखबन्ध में ब्रजबुलि गीतिकार के रूप में दिया है।[3] सरला देवी ने जो पद अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है, वह राय रामानन्द की प्रशस्ति का तो है किन्तु बंगला-प्रभावों से भरपूर—

विद्यानगराधिप अशेष सम्पदशाली
राम राय पुरुष प्रधान गृहे पाइआ श्री गौरांग।
आपनार मनोभृंग, तार पदे करिलेक दान, धन्य धन्य राय रामानन्द।
जाहार पाइआ संग, प्रभु मोर श्री गौरांग, भंजिलेक असीम आनन्द।
दोहे प्रश्नोत्तर छले, स्वाध्याय निर्णय कैले, जाने जीव साधन संधान।
जाहार रसेर पद, जेन फुल्ल कोकनद, रसिक जनेर से परश।
रामानन्द पद रज, शिरे धरि सदा भज, भजनेर सारातिसार धन।
कानुदास मतिहीन, मधुरसेते हीन, रामराय देह श्रीचरण।[4]

गद्य-पद्यादर्श में ही राय दामोदर नाम के कवि का उल्लेख है। ये ही दामोदर चम्पति-राय-रामचन्द्रदेव के समकालीन हो सकते हैं। चार प्रकार के पदों की बात का उल्लेख इसमें किया गया है। "आदि" में वर्षाऋतु तथा किशोरी की अवस्था का, "आड़कु" में नन्दकिशोर के लिए किशोरी की कातरता का, "घोर" में शीतरात्रि की दीर्घता में असह्य विरह-यन्त्रणा का और "तिजड़ा" में ग्रीष्म के विरह का चित्रण मिलता है। "तिजड़ा" का पद यहाँ दिया जाता है—

---

१. साहित्य जिज्ञासा, गंगाधर बल, पृ०—८१-८२। पदकल्पतरु ३ : ४ : २ :
२. पदकल्पतरु : ३ : ४ : २, पृ०—३; साहित्य जिज्ञासा—गंगाधर बल, पृ०—८२।
३. पाठचक्र प्रबन्धावली, पृ०—५८ से।
४. राय रामानन्द—सरलादेवी, पृ०—१८९-१९०।

विजड़ा—विकच सरोरुह लपन सुन्दर रमणी ताम्बूल तिलक आ
 चन्दन रज कुंद मन्दिर किछु नाहिं ताकि सुखाइ आ
 प्रसन्न अधरे परम बादल मने मनमथ रहसि आ
 पंथ हेरि हेरि विकल लोचन कमल लोचनमिले आ ॥[1]

इसी ग्रंथ में यदुपतिदास के दो पद "तालभादि" और "एकताकि" संग्रहीत हैं जिनमें काव्यत्व की कमी होते पर भी पद-विन्यास और आनुप्रासिक सौन्दर्य मिलता है—

१. उत्कलके नृप नरसिंह धरणितल, कीर्ति रजत धरणीश्वर।
 निर्मल धीरोदात्त धर्म अति निश्चल, शरण प्रसन्नजने बस्त लुब्धा रे ॥[2]

२. देवी भानुमति रसवती संगति, विविध रंग रति विहरति आ।
 नीलगिरि को पति चरण कमले मति, विजय तु नरसिंह नरपति आ ॥[3]

चैतन्य के गुरु (ईश्वरपुरी) के गुरु माधवेन्द्रपुरी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने रागमार्ग का उद्घाटन किया था। ये स्वयं रागानुगाप्रेमभक्ति के साधक एवं श्रेष्ठ पण्डित थे। ये बालेश्वर से ७-८ मील दूर रेमुणा में क्षीरचोरा-गोपीनाथ मन्दिर में रहते थे। इनकी रचित "ब्रह्म-संहिता" और "कृष्ण-कर्णामृत" के आधार पर ही राय रामानन्द ने चैतन्य को रागानुगाप्रेम-भक्ति तत्त्व का निरूपण किया था। इन्हीं के नाम से मिलनेवाला एक पद यहाँ दिया जाता है—

साजल धनी चन्द्र वदनी, श्याम दरशन आशे।
सजनी गण रंगिणी सब, घेरिल चारि पाशे ॥
तरुणारुण चरणयुगल, मंजीर तहिं शोभे।
भृंग बल्ली पुंज पुंज, गुंजरे मधु लोभे ॥
कुंभी कुंभ जिनि नितम्ब, केशरी क्षीण माझे।
परि नीलाम्बर पट्टाम्बर, किंकिणि तहिं बाजे ॥
बाहु युगल थिर बिजुरि, करि शावक शुण्डे।
होमांगद मणि कंकण, नखरे शशि खण्डे ॥
होमाचल कुचमण्डल, कांचलि तहिं शोभे।
चन्द्रकान्त ध्वान्त दमन, कर्ण कण्ठ शोभे ॥
अम्बुनद हेमयुक्त, मुकुता फल पांति।
फणिमणियुत दाम सहित, दामिनि सम भांति ॥
बिम्बफल निन्दि अधर, दाड़िम बीज दशना।
बेसर तहिं नलके झलके, मन्द मन्द हसना ॥
नासा तिल फूल तुल, कबरी करवि छान्दे।
मदन मोहन मोहिनी धनी, साजिले तहिं राधे ॥

१. पाठ्यक्रम निबन्धावली, उत्कल विश्वविद्यालय, पृ० ५९ से।
२. वही, पृ० ५९, यथ-यथावर्ती के आधार पर।
३. साहित्य जिज्ञासा पृ० ८५ „ „

नव यौवनी चन्द्रवदनी, वृन्दावन बाटे।
माधवेन्द्रपुरी रचित भाष, बांधि पूर्ण पाटे॥[1]

१८-१९वीं सदी के हलदिया के राजा श्यामसुन्दर भंज ने ब्रजबुलि में—जिस पर बंगला और मैथिली का प्रभाव है—गीतगोविन्द का अनुवाद किया। "मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः. . ." का अनुवाद इस प्रकार है—

एकदिने नन्दसने कृष्ण गोष्ठे छिल, जमुनार कूले नन्द राधा के देखिल हे।
नन्द बोले सुन राधे वचन आमार, गगन आच्छादि मेघ कैल अन्धकार हे।
वनभूमि तमालेर वृक्ष भयंकर, रात्र हैल भय लगे तनय आमार हे॥[2]

उक्त पदों के अलावा जो पद मुझे अपने खोज के दौरान नहीं मिले हैं, किन्तु सूचना मिलती है कि उनके ब्रजबुलि के पद हैं; वे हैं—

कन्हाइ या कान्हु खुण्टिआ, जो एक उच्चकोटि के गीतिकार थे और जिन्होंने ओड़िआ में 'महाभावप्रकाश' लिखा है। नित्यानन्द के परिकर में रहनेवाले श्यामानन्द, जिन्होंने वृन्दावन में वैष्णवशास्त्रों का अध्ययन किया तथा उत्कल में चैतन्य मत का प्रचार किया।[3]

स्वतन्त्र रूप से मुझे जो पद मिले अब उन पर विचार किया जाता है। माधो की भणिता से एक पद मुझे मिला। डॉ० रत्नकुमारी ने माधवदास या माधवाचार्य, शिवसिंह सेंगर ने माधवदास जो जगन्नाथपुरी के रहनेवाले थे, डॉ० जगदीश गुप्त ने गौड़ीय माधवदास—जो "माधुरी" के नाम से लिखते थे, का परिचय दिया है। सुरेन्द्र महान्ति ने माधव पटनायक के चैतन्यविलास लिखने की बात कही है।[4] माधवीदासी के सन्दर्भ में इस पर पहले विचार किया गया है। पर ये माधो इन सबसे भिन्न प्रतीत होते हैं। प्राप्त पद इस प्रकार है—

आवत मोहन धेनु चराए।
मयूर पक्ष शिखे भरे वनमाला, माथे मुकुट गोर जल पटावै॥
मुरली धुनि सुनि रुचि उपजावत, ग्वाल बाल संग गाए।
माधो के प्रभु दरशन कारन, ब्रज युवती चित लिए॥[5]

कवि मुरारि, जिन्हें हनुमान का अवतार माना जाता है, राघवेन्द्र की स्तुति में जिन्होंने अष्टक बना चैतन्य को सुनाया था,[6] का एक पद मिला है। इन्होंने चैतन्य की आदिलीला का वर्णन कड़चा में किया है। प्राप्त पद है—

---

१. राय रामानन्द—सरला देवी, पृ०—१९३-१९४।   २. वही, पृ०—१९९।
३. हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, १९६०, पृ०—४१०।
हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, डॉ० रत्नकुमारी, पृ०—८४-८५।
४. वही, पृ०—११०; गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य—ज० गुप्त, पृ०—६३
सुरेन्द्र महान्ति—मध्यपर्व, पृ०—३०६-३१७।
५. स्वयं का संग्रह, पद-५, श्री श्रीनिवास रथ जी से प्राप्त।
६. चैतन्य भागवत—वृन्दावनदास ठाकुर, अन्त्यखण्ड, पृ०—९९, पृ०—१०४-१०६।
हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ०—६९, १११।

मिलता है।[1] प्राप्त पद उनमें से किसी का हो सकता है कहा नहीं जा सकता। न के बदले 'ल', आम के बदले 'आम्ब' का प्रयोग उत्कलीय है। पद इस प्रकार है—

बसन्त बन्धाइ चले, ब्रज की नारि, नन्द पउंरि पढ़े है मुरारि।ध्रुव।
राधा चन्द्रभगा चन्द्रावली, भामा ललिता सुशीले।
सखावति कनक घट शिर धरे, आम्ब बउल जब लिहे।१।
लइ लइ चिर कुसुम पहिरे, लब तल और न साजए।
लब लहिं केलि करत मोहन संग, लवल कानन पिय भजिए।२।
ढाल मृदन्ग उपंग बांसुरी, बाजत वेनु रसाल।
कृष्णदास के प्रभु मोहन नागर, रसिक राय गोपाल।३।[2]

ओड़िआ भागवतकार, हिन्दी और बंगला के इस नामधारी[3] कवियों से भिन्न, भूपति-नन्दन जगन्नाथ का एक पद मुझे मिला है—

राग धमार

सब खेले श्याम सु जाइ, अबिरहु खेलहिं।
जाइ छिपे कुंजबन के कुटीर सुं, सबु गोपी हुं मिलि ढूंढहिं।
पकरे कान्हु के सब गोपिन मिलि, मारत श्याम शरीरहिं।
फगु आनए भर भर सब गोपी मिली, आनन्द रस में भोरहिं।
भूपतिनन्दन जगन्नाथ कहे, ये रस गोपिन पिवहिं।[4]

उक्त पद की भाषा का माधुर्य उपभोग्य है।

कार्तिक दीन का होली विषयक पद, जिसके "गो" जैसा प्रयोग कवि को उत्कल से सम्पर्क स्थापित करता है, नीचे दिया जाता है—

मोहिनी का मन भाए श्याम मन मोहनीया॥
फागुन मास बसंत की समय ये वृन्दावन सो होरी।
सुन्दरवर चन्द्रबली राधे तोहे गेल तरस होरी॥
अबीर फागु लै मारती बामा श्याम सखा पर आनी।
कुसुमित गन्ध हरिद्रा पिचके सावन बरखा जानि॥
भागि गए सुबलादि सखा सकल धरी परे बनौली।
राधा बाहु फास में पकरि हसि हसि बजावत तारि॥
मद्रा के गए मोहन बंसी बेनु ले गए शशि बामा।
पीत बसन चन्द्रावली आंचल जोरि बांधत रतिधामा॥
मयूर शिखर काढ़ि लए बिना सोहि संजोए केस।

---

१. हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ० ४६, ९२।
२. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—३१।
३. हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ०—५५, १०१।
४. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—३३।

ललिता सिंदुर काजर लिए बना चौकन तंबोलक देत॥
अरगज देखि सुदामा आएक चू बास बनाएक हिए।
ललिता कहे देखो सखा सब स्याम नारि रूप भए॥
सुदामा काढ़ि दए रत्न मुद्रिका खान सुख पान मिठाइ।
चीत चीत तुम जीति न रामा काढ़ि देहीं चतुराइ॥
कोचन पाए छेड़ाए बन्धन मोहन को लए जाइ।
नवल बसंत भो सब्द फगुआ कातिक दीन भो गाइ॥[1]

उक्त पद का भाषा-सौष्ठव एवं भाव देखने के योग्य है।

मुझे भगवान के दो, मुख्य के दो, रूपमति का एक, बनमाली का एक और वल्लभदास के चौदह पद प्राप्त हुए हैं। डॉ० रत्नकुमारी ने मिश्रबन्धुविनोद के आधार पर भगवानदास हित, भगवानदास तथा जन भगवान का परिचय दिया है, जनभगवान का कृष्ण विवाह सम्बन्धी पद का उदाहरण भी।[2] सम्भव है कि ये जनभगवान मेरे प्राप्त पद वाले भगवान एक हों। जगदीश गुप्त ने १७वीं सदी के वल्लभरसिक, डॉ० रत्नकुमारी ने और पद तरंगिणी और पदकल्पतरु के आधार पर तीन इस नाम के कवियों का, और एक हिन्दी के वल्लभदास की सूचना दी है।[3] इसी प्रकार सम्भव है मुझे पदकल्पतरु वाले कवियों से किसी के पद मिले होंगे, पर अन्तिम रूप में कुछ कहना सम्भव नहीं। मुख्य, रूपमति और बनमाली का कोई परिचय मैं प्राप्त नहीं कर सका। उदाहरण के लिए इनके पदों को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

भगवान का पद

ब्रिखभानु कुमारी, गोरी चतुरी, तलका अलका कुटिलक पूरी॥
कुसुमे सरिता अंग पुरुष दामूर चोटउ अंग पूरी।
मृगगन दु लोचन मन डारि, भृंग भृंग कमाण अनंग करि॥
बिजु दन्त डालिम्ब की कन्द कढ़ी, रुचि सूत्र भए मणि रत्न जड़ी।
कटि सिंह भस्तले कुम्भ धरि, थिल फूलहुं बाण अनंग डरी॥
रस नागरि अंगरे कूच पूरी, भगवान कहे हरि कोल करि।
दिअ चुम्ब आलिंगन प्रेम भरी, कान्हु पाव सुख राजा उतरी॥[4]

मुख्य के पद— राग दरबारी कानरा-ताल पाक ताई

१. भए जब देखो हरि गोपाल लाल मोहन मूरति।
स्यामलाल ता मन न्योछावर कुल दई॥पद॥

---

१. स्वर्ग का पद संग्रह, पद क्र०—३८।

२. हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ०—१०९।

३. वही, पृ०—४९-५०, ९८। गुजराती और ब्रजभाषा का कृष्णकाव्य, पृ०—६१-६२।

४. स्वर्ग का पद संग्रह, पद क्र०—६३।

अति मद पट जिवारे निवारे, तार्कें पूरक लिव कें चिन निवकाई।
जार्कें हुए कवि तास कातहि मनम नाइ।
सूरख के प्रभु मोहन मंत्र पढ़ि डारि मुरली अधर धरे बजाइ फूलन है।

२. राग मलार-ताल देहा

घन गरजि गरजि घन आवत री बदरा, मेरे घर घर जैसे होत बियोगिनी ।।पद।।
पहुरत कबने आवत बरसत बुंदे जात, काहे पतिव्यामी जैसे होत बियोगिनी ।।
कारि घटा घन मोहे डरावे निशि अंधियारी तामे कोयल बोले,
सूरख के स्वामी अन्तरयामी करम निसारि हूं तो जनम की योगिनी ।।[1]

रूपमति का पद—

राग नट-ताल देढ़ा

बिछुरे दुःख दिन हो ललना, प्रान मेरे आवत नहिं लाज ।।पद।।
निकसन जइ अपने लोलन संगे, राही अब कोनहिं काज ।।
पापी प्रान रहत घट भीतर फिर चाहे मुखराज।
रूपमति कहे हम दुःखी येको काहा बाहादुर बाज ।।[2]

बनमाली का पद—

नवल बदन गोरी किशोरी के होरी होरी
झोरिकि झोरिकि करि झांकी चढ़ि आवकें।
वर्णितो कृपाल लाल पहिरे गो लाल लालचूनरी बनाइ की।
कुंकुम कपूर पान चन्दन चबिल चुआ मृगमद वास आण आय याइकें।
कहे कवि जानहुं न जानहुं केति न गई, मोहनलाल की राधिका कुंजविहारी।
बनमाली कहे विचारि से नन्द की लाल मन मनावती ।।[3]

वल्लभदास के कुछ पद—

१. उलुसा अभिसार: सखी प्रतिनि राधिकोक्ति, धनासि राग
ये नव यौवन अनन्मतरंग मिलब श्यामरु आज।
अंग पुलकित अन्तर हरस मनिसमूझल काज।।
सजनि तोहि उलसित देहा।
रतन भूषन पहिर अंगे चलत सामरु लेहा।।
कंकन करहि ताड़ बाहु पर रतन कुण्डल काते।
कबरि बनाइ दृढ़ करि बांध हता कुसुम दामे।।

---

१. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—५२।
२. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—५४।
३. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—५९।
४. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—६४।

अति बर पट [illegible] निकारे, तामें सुन्दर चित्र में चित्र [illegible]।
जामें हुए कवि [illegible] लसहिं मदन मद।
सूरज के प्रभु मोहन मंग पहि डारि मुरली अधर धरे बजाय सुन्दर।[1]

२. राग मलार-ताल देढ़ा

घन गरजि गरजि घन आवत री बदरा, मेरे घरघर जैसे होत वियोगिनी ॥पद॥
पहरत कबने मावत बरसत बुंदे जात, जाहे पतिस्वामी कैसे होत वियोगिनी ॥
कारि घटा घन मोहे डरावे निशि अंधियारी तामे कोयल बोले,
सूरज के स्वामी अन्तरजामी चरन बिसारि हूँ तो जनम की जोगिनी ॥[2]

रूपमति का पद—

राग नट-ताल देढ़ा

बिछुरे दुःख दिन ही ललना, प्रान मेरे आवत नहिं लाज ॥पद॥
निकसन चह अपने लोलन संगे, राही अब कोनहिं काज ॥
पापी प्रान रहत घट भीतर फिर चाहे मुखराज।
रूपमति कहे हम दुःखी मेको काहा बाहादुर बाज ॥[3]

बनमाली का पद—

नवल बदन गोरी किशोरी के होरी होरी
झोरिकि झोरिकि करि झांकी चढ़ि आवके।
वर्णितो कृपाल लाल पहिरे गो लाल लालचुनरी बनाइ की।
कुंकुम कपूर पान चन्दन चविल चुआ मृगमद बास आग आग चाइकें।
कहे कवि जानहुं न जानहुं केति न गई, मोहनलाल की राधिका कुंजबिहारी।
बनमाली कहे बिचारि से नन्द की लाल मन मनावती ॥[4]

बल्लभदास के कुछ पद—

१. उत्कंठा अभिसार : सखी प्रतिनि राधिकोक्ति, धनासि राग
ये नव यौवन अनन्ततरंग मिलब श्यामद आज।
अंग पुलकित अन्तर हरस मनिसमुझल काज ॥
सजनि तोहि उलसित देहा।
रतन भूषन पहिर अंगे चलत सामद लेहा ॥
कंकन करहि ताड़ बाहु पर रतन कुण्डल काने।
क-बरि बनाइ दृढ़ करि बांध हता कुसुम वामे ॥

---

१. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—५२।
२. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—५४।
३. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—५९।
४. स्वयं का पद संग्रह, पद क्र०—६४।

जनकों तक पहुँचती है। शुद्धाभक्तिधारा के कवि ओड़िआ साहित्य में बाद में भी मिलते हैं— जगन्नाथ बड़ुजेना, भक्तचरणदास, अभिमन्यु सामन्तसिंहार, कृष्णमतीस्वामी, बनमाळीदास, दीनकृष्णदास आदि—परन्तु इन्होंने ब्रजभाषा में पदों की रचनाएँ नहीं की हैं। उपलब्ध ब्रजबुलि के पदों के आधार पर हम कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१. कुछ अल्प कवियों को छोड़कर, अन्य सभी कवियों की भाषा प्रान्तीय प्रभावों से मुक्त नहीं है—शब्द एवं प्रयोग दोनों दृष्टियों से।

२. सभी रचनाएँ राधा या कृष्ण या राधाकृष्ण विषयक हैं—जिनमें प्रसंगानुसार वृन्दावन का वर्णन मिलता है।

३. केवल जयदेव के गुरु ग्रंथ साहब वाले दो पदों; और कानुदास के राय रामानन्द की प्रशस्तिवाला पद, को छोड़कर बाकी सभी प्रेमभक्तिपरक हैं।

४. उत्कल में ब्रजबुलि के माध्यम से प्रेमभक्ति की एक लम्बी परम्परा रही है— जो जयदेव से आरम्भ होती है और जिसकी धारा आज भी ओड़िआ पदों के माध्यम से बह रही है।

५. अन्तिम निष्कर्ष यह है कि भक्त कवियों को आज की तरह भाषा का विवाद कठिनाई में नहीं डालता था। वे इससे मुक्त रहकर भारतीय संस्कृति की एकता का उद्घोष करते थे।

सहायक ग्रंथों की सूची—

१. ओड़िआ साहित्यर इतिहास—पं० सूर्यनारायण दास, भाग-१, २।
२. ओड़िआ साहित्यर इतिहास—पं० विनायक मिश्र।
३. ओड़िआ साहित्यर, मध्यपर्व—श्री सुरेन्द्र महान्ति।
४. ओड़िआ साहित्यर रेजयदेव—डॉ० नगेन्द्रनाथ प्रधान।
५. ओड़िआ साहित्यर आर्त्तवल्लभंक दान—डॉ० नटवर सामन्तराय।
६. ओड़िआ साहित्यिर नारी प्रतिभा—डॉ० सावित्री राउत।
७. राय रामानन्द—श्रीमती सरला देवी।
८. भारतीय वाङमय में श्रीराधा—पं० बलदेव उपाध्याय।
९. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य—डॉ० जगदीश गुप्त।
१०. हिन्दी साहित्य कोश—सं०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य।
११. १६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—डॉ० रत्नकुमारी।
१२. चैतन्य भागवत—कृष्णदास कविराज गोस्वामी, मध्य और अन्त्य खण्ड।
१३. चैतन्य भागवत—वृन्दावनदास ठाकुर : उत्कल लिपि में।
१४. उत्कल विश्वविद्यालय, पोथी-विभाग की पोथियाँ।
१५. ओडिशा राज्य संग्रहालय, भुवनेश्वर की पोथियाँ।
१६. श्री श्रीनिवास रथ जी के पास रखी हस्तलिखित पोथियों की नकलें।

१७. देखें—१. ब्रजबुलि साहित्य—गंगाधर बल, लेखक की पुस्तक "साहित्य-जिज्ञासा" से।

२. ओड़िया साहित्य का विकासक्रम—डॉ० आर्तवल्लभ महान्ति

३. ओड़िया साहित्य का विकासक्रम —श्री विच्छन्दचरण पटनायक राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रंथ से।

४. चैतन्य मत के ब्रजभाषा साहित्य के शोध—प्रभुदयाल मीतल। हिन्दी अनुशीलन—धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, १९६०।

—हिन्दी विभाग
खल्लिकोट स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ब्रह्मपुर
गंजाम, उड़ीसा।

●

समकालीन हिन्दी कविता में पारिवारिक विघटन का प्रश्न

डॉ० रवीन्द्रनाथ बरगल

⊙ ⊙

विगत दो दशकों में हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन की जो चर्चा हुई है, उसके विविध पक्षों में से परिवार से सम्बद्ध प्रश्न पर्याप्त महत्व का है। भारतीय संस्कृति में 'परिवार' की कल्पना बड़ी व्यापक और भव्य है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में उसी कल्पना का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। व्यावहारिक धरातल पर भारतीय समाज में परिवार मात्र पति-पत्नी तक सीमित नहीं था, उसमें पत्नी और बच्चों के अतिरिक्त माता-पिता, भाई-बहन भी सम्मिलित थे। इन सबमें यथायोग्य आदर, स्नेह, सौहार्द्र, अनुग्रह, विनय, औदात्य, त्याग आदि का विधान किया गया है। अथर्ववेद के सामनस्य सूक्त में पारिवारिक सम्बन्धों का आदर्श रूप इस प्रकार वर्णित है—

> पुत्र हो पिता की आज्ञा मानने वाला
> और माता के प्रति अनुकूल और सहृदय हो,
> पत्नी अपने पति से सदा मधुर शांति युक्त, सुखद वाणी बोले
> भाई भाई से और बहन से द्वेष न करे
> और बहन अपनी बहन से और भाई से द्वेष न रखे,
> सब इकट्ठे होकर एक दूसरे के अनुकूल रहें, एक चित्त रहें।[1]

भारतीय संस्कृति के दो बृहद्काय काव्य-ग्रन्थों—रामायण और महाभारत—में पारिवारिक सम्बन्धों को उनकी अनेक जटिलताओं के साथ बखूबी प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से दोनों ग्रन्थों का अपना विशिष्ट महत्व है। दोनों के पात्रों के दृष्टिकोण और उनके आचरण में कुछ भिन्नता लक्षित की जा सकती है जो निश्चय ही काल-प्रवाह के अनुरूप है। पारिवारिक आदर्श की दृष्टि से राम-कथा अनुपमेय है। अथर्ववेद के जिस सामनस्य सूक्त का उल्लेख हमने अभी किया है, उसके सभी पक्षों को बड़ी स्पष्टता और गहनता के साथ रामायण के पात्र अपने जीवन द्वारा व्यक्त करते हैं। विमाता की इच्छा और पिता की आज्ञा से राम का वन-गमन, लक्ष्मण और भरत का राम के प्रति अनुपम भ्रातृ-स्नेह, सीता की पति-निष्ठा, दशरथ का पुत्र-स्नेह, सभी कुछ अद्वितीय है। हिन्दी काव्य में पहले तुलसी ने

---

१. हमारी परम्परा—सं० वियोगी हरि, पृ० १५८-५९।

और फिर उन अनेक कवियों ने राम-कथा को काव्य का विषय बनाया है जिनकी रुचि पारिवारिक मूल्यों के निरूपण की ओर रही है। महाभारत को हम संक्रान्तियुगीन रचना कह सकते हैं, राज्य के लिए संघर्ष के कारण नातों-रिश्तों का विघटन ही हुआ है। लेकिन उसमें भी अनेक स्थलों पर पारिवारिक सम्बन्धों की पारम्परिक मर्यादा की स्वीकृति है। गांधारी और द्रौपदी का पतिव्रत्य, पाण्डव भाइयों का स्नेह और यहाँ तक कि धृतराष्ट्र का अन्यायी पुत्रों के प्रति अगाध वात्सल्य इसी तथ्य के प्रमाण हैं।

हिन्दी काव्य में तुलसी ने सर्वप्रथम पूरे मनोयोग से परिवार की आदर्श परिकल्पना प्रस्तुत की। इसके लिए उन्होंने राम-कथा का ही चयन किया। कृष्णभक्त कवियों का काव्य इस दृष्टि से अनुल्लेखनीय है। यही स्थिति प्रायः रीतिकालीन कविता की है। निःसन्देह वात्सल्य के लिए कृष्ण-यशोदा प्रसंग और दाम्पत्य सम्बन्ध के लिए सूफी कवियों के नायक-नायिका प्रसंग उदाहृत किये जा सकते हैं। किन्तु इनमें क्रमशः लीलात्व और अलौकिक प्रेम-व्यंजना को ही प्रधान कहा जा सकता है। रीतिकालीन कवियों ने सामाजिक सम्बन्धों की गम्भीरता को समझा ही नहीं। उनके लिए दाम्पत्य केवल शारीरिक तृप्ति का बहाना है।

आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण—जिसे पुनरुत्थान काल कहना अधिक युक्ति-संगत है और जिसका प्रसार रीतिकाल के अन्त से छायावाद की परिसमाप्ति तक आँका जा सकता है—के हिन्दी साहित्य में परिवार की महत्ता का चित्रण अनेक प्रकार से हुआ है। कविता में इस दिशा में सबसे उल्लेखनीय कार्य गुप्त जी का है। 'साकेत' में रामकथा को चाहे नया सन्दर्भ देने की कोशिश हो, किन्तु कवि की रुचि पारिवारिक चित्रण में विशेषतः दिखाई देती है। नाता चाहे कोई भी हो, सौहार्द्र, सौमनस्य और स्नेह का सूत्र ही सबको बाँधे हुए है। परिवार में किस प्रकार स्वार्थ और अहं के त्याग से सुख-शांति बनी रहती है, इसे माण्डवी के द्वारा इस प्रकार कवि ने कहा है—

नाथ, देखती हूँ इस घर में
मैं तो इसमें ही सन्तोष।
गुण अर्पण करके औरों को
लेना अपने सिर सब दोष।[1]

'प्रसाद' के काव्य में तो परिवार के सन्दर्भ अधिक नहीं हैं, ऐतिहासिक नाटकों में अवश्य ही इन्होंने अनेक अवसरों पर पारिवारिक सम्बन्धों की चर्चा की है। उनके द्वारा प्रदर्शित सम्बन्ध भारतीय आदर्शों के सर्वथा अनुरूप हैं। माता-पिता के साथ पुत्र और पुत्री के सम्बन्ध संयोगवशात् अधिक आये हैं। अजात, विरुद्धक, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त और उधर सुवासिनी, कार्नेलिया, अलका, कल्याणी आदि पात्रों के व्यवहार में परिवार की निर्मल हार्दिकता को देखा जा सकता है। अजात और विरुद्धक को विद्रोह के पश्चात् पश्चाताप करते हुए दिखा कर प्रसाद जी ने बिम्बसार और प्रसेनजित के द्वारा स्नेहवश उन्हें क्षमा किया जाता दिखाया है। स्कन्दगुप्त तो माँ के कहने पर अपने राजनीतिक विरोधियों और देशद्रोहियों

---

१. साकेत, पृ० ४०८।

को भी क्षमा कर देता है। सुवासिनी जैसी स्वतन्त्र नारी पिता से पुनर्मिलन होने पर अपने को सर्वथा पिता के अधीन कर देती है। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' में सिल्यूकस पुत्री कार्नेलिया की भावनाओं के सम्मुख अपनी महत्वाकांक्षा को नियंत्रित करता है। इन सम्बन्धों पर राजनीति की छाया होने के बावजूद इनमें परिवार की निर्मल हार्दिकता सुरक्षित है। प्रसाद के समकालीन ही प्रेमचन्द ने अनेक जटिल परिस्थितियों का विशद् चित्रण करते हुए परिवार के परम्परागत मूल्यों का नवीन विचारों से टकराव दिखलाया है। इस संघर्ष में प्रेमचन्द ने अधिकांशतः पारम्परिक मूल्यों का ही पक्ष लिया है। विद्रोही गोबर को धनिया कहती है "घर की मरजाद बनाये रखोगे, तो तुम्हीं को सुख होगा"[1] और अन्ततः गोबर माँ-बाप के प्रति आदर, बहनों के प्रति दायित्व का अनुभव करता है। गोबर का आदर पाकर होरी अपने पितृत्व को सफल अनुभव करता है और उधर राय साहब अपने पुत्र के कुपुत्र हो जाने पर टूट जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पुनरुत्थान युग की समाप्ति-पर्यन्त हमें परिवार की मर्यादा को मूल्यवान मानने की प्रवृत्ति मिलती है। प्रकारान्तर से अनेक स्थलों पर यह तथ्य भी प्रतिपादित हुआ है कि परिवार-सुख से तृप्त मनुष्य ही समाज का श्रेष्ठ घटक बनता है। प्रेमचन्द ने अवश्य ही मेहता और मालती को पति-पत्नी न दिखा कर मित्र के रूप में समाज-सेवा का संकल्प लेते दिखाया है। किन्तु यह प्रसंग अपवाद-रूप ही कहा जायेगा जो तत्कालीन समाज में पनपते नवीन विचारों के प्रति लेखक के सहिष्णुता भरे दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है, अन्यथा यही मेहता गोविन्दी जैसी पतिव्रता नारी का गुणगान करते नहीं थकते। अस्तु,

छायावादोत्तर हिन्दी कविता में परम्परा के विरोध की एक लहर तो प्रबलता से आई। प्रगतिवाद में जहाँ नारी-मुक्ति की घोषणा है, वहाँ भी परिवार की परम्परा को सर्वथा नकारा नहीं गया। आगे चलकर विवाह को वैयक्तिक प्रगति के लिए बाधक माना गया है, वहाँ अवश्य ही परिवार का विघटन चित्रित हुआ है। पहले हम उस पक्ष को ले रहे हैं जिसमें परिवार के मूल्य को परम्परागत सन्दर्भ के साथ-साथ नवीन आयाम देने की चेष्टा की गई है। शकुन्त माथुर ने परिवार को संस्कृति और मानव-मूल्यों से जोड़ते हुए विचार व्यक्त किया है—'घर समाज की एक भरी-पूरी इकाई है, उसका सुख-दुःख समस्त संसार का सुख-दुःख है। उसकी संवेदना, ममता, उदारता, समझदारी ही व्यापक होकर सांस्कृतिक दृष्टि बनती है। उसके तन और मन का स्वास्थ्य और संस्कार समाज का स्वास्थ्य और संस्कार है और उसके विवेकपूर्ण आनन्द, मर्यादा और सादगी का विस्तार ही मानव-मूल्य बन जाता है।"[2] गृहस्थी को एक कविता में बरगद से उपमित करते हुए कवयित्री का कथन है—

भूमि कटे न किसी के लिए
कड़ी न हो किसी के लिए
रस जीवन का जीवन को बांधे रहे
घर भर को

---

१. गोदान, पृ० २१६।

२. शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर (वक्तव्य), पृ० ७।

कटी मिली डोर
यद्यपि सुख करक सभी
पैबन्द नहीं
यही है सच, इति भी
यही वास्तविक जड़ जीवन की[1]

सम्बन्धों की पारस्परिकता और स्नेह सूत्रों से जुड़े जीवन की परिकल्पना भारतीय संस्कृति में सदैव मान्य रही है। आस्तिकता को इसके साथ जोड़ते हुए दिनकर ने व्यक्ति की मर्यादित भोग-वृत्ति और दायित्व का संयोग यों किया है—

हरि के करुणामय कर का जिस पर प्रसार है,
उसे जगत भर में निज गृह सबसे प्यारा लगता है।[2]

यहाँ निश्चय ही 'घर' की एक प्राथमिक मूल्य के रूप में मान्यता है। जीवन के अन्य मूल्यों की उपेक्षा का प्रश्न नहीं। परिवार से प्राप्त सुखानुभूति के अनेक रूप हैं। परिवार के सभी घटक जब एक-दूसरे के सुख के लिए प्रयत्नशील होते हैं तो जो भव्य वातावरण बनता है, उसे दिनकर सोनवलकर 'आनन्द का विराट उत्सव' कहते हैं। और यदि कोई इस उत्सव में सम्मिलित नहीं हो पाता तो वह अभागा ही है।[3] सम्भवतः इसीलिए 'घर-धाम' शीर्षक एक कविता में श्रीकान्त वर्मा ने पारिवारिक जीवन के प्रति लालसा व्यक्त की है। अनेक वर्ष अर्थहीन कार्यों में नष्ट करने के बाद कवि घर जाना चाहता है। वह वास्तविक जीवन की अनुभूति करने का इच्छुक है: वह जीवन जहाँ कपास चुनने या फावड़ा उठाने या गारे पर ईंटें बिछाने जैसा कोई कार्य करके अर्थार्जन किया जाता है, गृहस्थी जमाकर किसी का जीवन-सर्वस्व और किसी का पिता बना जाता है। यह पारिवारिक जीवन सुख और दुःख का संयोग है। कवि की चाहत है—

मैं महुए के वन में
एक कण्डे-सा
सुलगना, गुंगवाना
धुंधवाना चाहता हूं
मैं अब घर
जाना चाहता हूं।[4]

परिवार की मूल्यवत्ता वहाँ स्पष्ट हो जाती है जहाँ कवि जीवन-संघर्षों से श्रांत व्यक्ति के लिए परिवार के स्नेह को एक सम्बल के रूप में प्रस्तुत करता है। आज के यान्त्रिक युग में मानव का जीवन भी बहुत कुछ यान्त्रिक हो गया है, फिर भी घर-परिवार से प्राप्य सुख उसे यन्त्रों

---

१. शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० १८।
२. रामधारी सिंह दिनकर : नये सुभाषित, पृ० २८।
३. दिनकर सोनवलकर : अंकुर की कृतज्ञता, पृ० ७२।
४. श्रीकान्त वर्मा : माया-दर्पण, पृ० १७।

से अलग मानवीयता का बोध देता है। मदन वात्स्यायन ने मशीनों और क्रेन पर काम करने वाले आपरेटर के कार्य की तुलना कुछ सम्वादों द्वारा करायी है, जिसमें अन्ततः, आपरेटर मानवीय जीवन की उस विशेषता का उल्लेख करता है जो केवल मानव को ही उपलब्ध है और वह है परिवार का सुख। पत्नी का प्रेम भरा आलिंगन और बच्चों का तुतला स्वागत—यह सुख मानव को ही प्राप्त है।[1] सभी प्रकार से बेचारा बाबू भी दफ्तर से थक कर आता है तो बच्चों के स्नेह से प्रफुल्लित हो जाता है।[2] महानगर के हड़बड़ाहट भरे और व्यस्त जीवन में अजित कुमार ने 'घर' की उपमा हृदय से दी है जो विशाल बेढंगी काया और असंख्य हाथ-पैर और नेत्रों के बीच स्नेह भाव से भरा है जहाँ आकर मनुष्य विश्राम पाता है।[3]

नरेन्द्र शर्मा ने 'ग्राम-चित्र' में एक पारिवारिक उत्सव का चित्र खींचा है जिसमें किसान के घर सन्तानोत्पत्ति के अवसर पर छा जाने वाले उल्लास का वर्णन है। नारी और पुरुष के संयोग से सृष्टि निरन्तर वृद्धिमान रहती है, जिसे देख सारा परिवार प्रसन्न होता है। दादी पोते में अपने पति की उनहार देखकर भाव-विह्वल हो जाती है। बहू की सेवा करती है। गाय को हलवा खिलाती है।[4] . . . सृष्टि का यह क्रम परिवार के स्नेह-सूत्रों में बँध कर मधुर हो जाता है।

अनेक कवियों ने उन परम्पराओं और आस्थाओं की चर्चा भी की है जो भारत में परिवार की धारणा के साथ जुड़ी हुई हैं। मिश्र जी ने 'राम राज्य' शीर्षक काव्य में एक आदर्श परिवार उसे माना है जिसमें स्त्री अपनी सन्तान तथा पति के प्रति कर्त्तव्य-पालन करते हुए संसार के प्राणि-मात्र के लिए अपने हृदय में करुणा रखे। बच्चन ने इसका व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया है। भारत में एक सद्गृहस्थ के 'घर' में कुनबे के भोजन के साथ पाहुन, साधु तथा कुत्ते के अंश की भी चर्चा है। ऐसे घर के सम्मुख कवि महल के सुखों को भी तुच्छ मानता है।[5]

परिवार की उपर्युक्त धारणा विवाह-सम्बन्ध पर टिकी हुई है। विवाह ही सद्गृहस्थी की नींव है। पति-पत्नी स्नेह-सूत्र से बँधे जीवन के सुख-दुखों को बाँटते हुए और सामाजिक दायित्वों को पूरा करते हुए जीवन बिताते हैं। भारत में विवाह सम्बन्ध को अटूट बताया गया है। अपवाद स्थितियों को छोड़कर यह सम्बन्ध कभी टूट नहीं सकते। इसके लिए पति-पत्नी की पारस्परिक एकनिष्ठता आवश्यक है। भारत में नारी की एकनिष्ठता पर अधिक बल दिया गया है और इसीलिए नारी के पातिव्रत धर्म को बहुत ऊँचा बतलाया गया है। इसके साथ नैतिकता का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। पति-पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री या पुरुष के सम्बन्धों को अनैतिक माना जाता है। स्पष्ट ही यहाँ स्वच्छन्द भोग का निषेध है।

---

१. तीसरा सप्तक (सं० अज्ञेय), पृ० ९७।
२. सत्यपाल चुघ : मोर कण्ठ, पृ० ३८।
३. नयी कविता (अंक ५-६), पृ० २०९-१०।
४. नरेन्द्र शर्मा : बहुत रात गये, पृ० ९४-१०७।
५. बच्चन : त्रिभंगिमा, पृ० ५२।

विवेच्यकालीन कविता में विवाह के प्रति आस्था कई रूपों में प्रकट हुई है। प्रबन्ध काव्यों में आने वाले वैवाहिक प्रसंगों का संक्षिप्त उल्लेख करने से एक पक्ष स्पष्ट हो सकता है। किन्तु वहाँ ऐसे प्रसंग कथा-निर्वाह के प्रसंग-स्वरूप आये हैं। दूसरे अन्य-प्रसंग में विवाह के प्रति एक आस्था का श्रेष्ठ उदाहरण रमाकान्त वाजपेयी की 'विद्रोह और समर्पण' शीर्षक कविता है जिसमें कवि ने सीता स्वयंवर में रखे धनुष-पिनाक के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है। जनक की प्रतिज्ञा की बात सुनकर शिव-धनु में टूटने के विरुद्ध विद्रोह उपजता है, क्योंकि यह उसके अस्तित्व पर प्रहार है। किन्तु अन्ततः वह जनक का निराशामय स्वर सुनता है "विधि ने लिखा वैदेही को कौमार्य" और उधर जानकी की सूनी माँग देखता है तो, शिव का धनुष होने के नाते अधिपता का हेतु अपना विद्रोह त्याग कर, राम के हाथों टूटना स्वीकार कर लेता है ताकि 'सुहाग का पर्व द्वार से खाली न लौटे।'[1] यहाँ जनक के पुरातनपंथी दृष्टिकोण या उनकी हठधर्मिता के प्रति विद्रोह तो है किन्तु सुहाग-पर्व के लिए समर्पण है। अतुलकृष्ण गोस्वामी ने विवाह को अमित महिमाशाली अमोघ बन्धन कहा है। दाम्पत्य प्रेम मन-कुसुम से लेकर चितारोह तक निभता है।[2] बच्चन ने लोक-धुन पर आधारित एक गीत में एक विवाहिता के हृदय की निष्ठा एवं अटूट विश्वास का चित्रण किया है। सुख, दुःख, कलह, मनोमल, समस्या—जीवन में यह सभी चलता है। सारे संसार को छोड़कर भी नारी पति को नहीं छोड़ती। उसका दृष्टिकोण स्पष्टतः यही रहता है—

> सुख भोगा है साथ, सहूँगी
> दुख भी उनके साथ में,
> दुनिया छोड़े, हाथ रहेगा
> मेरा उनके हाथ में,
> जंगल में भी मंगल होगा, जो मरजी करतार की।
> मैं ब्याही आई, लाई भगाई नहीं यार की।[3]

परिश्रम और भाग्यवादिता के साथ यहाँ वैवाहिक बन्धन की अटूटता का जो विश्वास व्यक्त हुआ है, उसके सम्मुख प्रेम के वशीभूत होकर रखैल की तरह के जीवन को तुच्छ ठहराया गया है। एक अन्य कविता में बच्चन ने पारिवारिक सौहार्द्र को अत्यन्त मूल्यवान ठहराया है। स्वप्न में मर कर जब कवि स्वर्ग पहुँचा तब उससे पूछा गया कि उसने जीवन में सबसे बड़ा काम क्या किया है? कवि पहले अपनी किसी रचना की तरफ संकेत करने की बात सोचता है किन्तु अन्ततः वह अपने उस कार्य को सर्वोत्तम ठहराता है जब उसने किसी कलह-ग्रस्त परिवार में सुलह करवा दी। प्रसन्न होकर चित्रगुप्त उसे वापस संसार में भेज देता है कि जाओ, उनमें सम्बन्ध और पक्का करवाओ।[4] भाव यह है कि कवि की दृष्टि में गार्हस्थ्य एवं परिवार का स्नेह एक उच्च मूल्य है।

---

१. नयी कविता (अंक ४), पृ० १३२-३५।
२. अतुलकृष्ण गोस्वामी : नारी, पृ० ८५।
३. बच्चन : चार खेमे, चौंसठ खूँटे, पृ० ९०।
४. बच्चन : दो चट्टानें, पृ० ८५-८७।

गृहस्थी में पति और पत्नी दोनों के ही दायित्व हैं। गृहस्थी बनी रहे, इसके लिए दोनों के प्रयत्न अपेक्षित हैं, किन्तु भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से ही पति-पत्नी सम्बन्धों में पत्नी से पति के प्रति एक निष्ठा की अपेक्षा अधिक की जाती रही है। मध्यकालीन समाज में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक रही है। कबीर जैसे नारी-निन्दक भी पतिव्रता की महिमा गाते हैं। आधुनिक काल में भी अनेक कवियों ने पातिव्रत्य को मूल्य माना है। कवि अनूप ने स्वयं महावीर के मुख से पातिव्रत्य की महिमा का बखान करवाया है। पातिव्रत्य को नारी का एक ऐसा कवच कहा है जिसके कारण वह अरण्य में भी सुर-वृन्दों द्वारा रक्षित होती है, इस धर्म-पालन से वह पूत-बुद्धि वाली बनती है। पातिव्रत्य की मूल्यवत्ता पर बल देने के लिए कवि इसे एक रत्न बताता है।[1]

परमेश्वर द्विरेफ ने प्रिय के निरन्तर चिन्तन एवं ध्यान को पतिव्रता का कर्म माना है : पति-परायणा नारी संसार में पति को ही सर्वोच्च समझती है।[2] रघुवीर शरण मित्र ने महात्मा गांधी के जीवन-चरित द्वारा भारतीय नारी का आदर्श बतलाया है। बापू और बा में झगड़ा होने पर बापू जब बा को घर से निकालने पर तुल जाते हैं तो बा भारतीय नारी का दृढ़ निश्चय दुहराती है जो पति का घर मरने पर ही छोड़ती है : डोली का नाता अर्थी में ही तोड़ती है। इस पर भी तन का साथ ही छूटता है : मन का नाता तो अमर है।[3] ऐसे संस्कार भारत में माता-पिता द्वारा ही कन्या को दे दिये जाते हैं। ताराचन्द हारीत ने नल-दमयंती की कथा में दमयन्ती का अन्तर्द्वन्द्व दिखाते हुए पातिव्रत्य को ही नारी का परम भूषण तथा शुभ-कर्म बताया है।[4]

कई रचनाकारों ने पत्नी के प्रति पति की निष्ठा का चित्रण भी किया है। मैथली-शरण गुप्त ने चैतन्य महाप्रभु के मुँह से परनारी स्पर्श को आग के समान कहलवाया है।[5] ताराचन्द हारीत ने नल-दमयंती की कथा में नल द्वारा सोयी हुई पत्नी के त्याग को पत्नी-द्रोह कहा है। द्यूत-वेशधारी राजा नल को अयोध्याराज सम्बन्धों की पारस्परिकता का ही रहस्य समझाते हैं।[6]

दोनों पक्षों के समान दायित्व के साथ दिनकर ने एकनिष्ठता के आनन्द को भी रेखांकित किया है। स्वच्छन्द भोग की तुलना में कवि दाम्पत्य जीवन के सुख को श्रेष्ठ एवं चिरस्थायी मानते हैं। 'उर्वशी' में सुकन्या का कथन है—

> बिखर बिखर उड़ने में जाने कौन प्रमोद लहर है?
> किन्तु एक तरु में क्या सारी आयु बिता देने में

---

१. अनूप : वर्द्धमान, पृ० ५४९।
२. परमेश्वर द्विरेफ : मीरां, पृ० ७३।
३. रघुवीरशरण मित्र : जननायक, पृ० १७९।
४. ताराचन्द हारीत : दमयंती, पृ० १६-१७।
५. मैथिलीशरण गुप्त : विष्णुप्रिया, पृ० ३४।
६. ताराचन्द हारीत : दमयंती, पृ० २८४।

जो प्रफुल्ल, पर बहुत शापित है, वह प्रथा कभी मिटेगी
नये नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली किरनों की।[1]

नारी के उस विद्रोह को संगत बताया गया है जो पति के स्वेच्छाचरण और मर्यादाहीनता की प्रतिक्रिया स्वरूप उसमें जन्मता है। मर्यादा एक ऐसा बन्धन है जो दोनों को बाँधता है। पति स्वयं स्वच्छंद रहे और पत्नी उसकी प्रतीक्षा में बँधे, यह सम्भव नहीं। ऐसे में नारी विद्रोहिणी हो सकती है। नरेन्द्र शर्मा की चेतावनी है—

अधलेटी युवती धरती पर
पटक रही है एड़ी
जाने कब उतार फेंके वह
मर्यादा की बेड़ी?
अभी समय है आ जाओ घर
प्रोषितपतिका के वर।
अवनि-व्योम को एक न कर दे
बड़वावह्नि बढ़ेड़ी।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालीन कवियों की अनेक रचनाओं में परिवार और विवाह को काम्य बतलाया गया है। जीवन की मधुरता और सार्थकता के बोध में इनकी भूमिका भी पर्याप्त महत्व की मानी गयी है। पिता, पुत्र, माँ, बेटी, बहू आदि के नातों का चित्रण लगभग नहीं हुआ। प्रसंगवशात् पुत्र द्वारा पिता की सेवा या माँ की ममता[3] आदि का उल्लेख कहीं-कहीं हुआ है। 'माँ की याद' में सर्वेश्वर एक गहरे अभाव का अनुभव करते हैं—

एक मैं ही हूं कि मेरा सांझ चुप है,
एक मेरे दीप में ही बल नहीं है,
एक मेरी खाट का बिस्तर नत-सा
क्योंकि मेरे शीश पर आंचल नहीं है।[4]

किन्तु ऐसे चित्र अधिक नहीं हैं। इससे विवेच्य रचनाकारों की परिवार के इस पक्ष के प्रति उपेक्षा ही प्रकट होती है।

पारिवारिक स्नेह-सौहार्द : विघटन के स्वर

स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक कारणों से जहाँ एकल परिवार की प्रवृत्ति बढ़ी, वहीं नागर वातावरण में उभरे तनावों का प्रभाव दाम्पत्य जीवन पर भी पड़ा है। पहले हम उन रचनाकारों का दृष्टिकोण ले रहे हैं जिन्होंने विवाह को आज के सन्दर्भ में अर्थहीन बतलाया है।

---

१. दिनकर : उर्वशी, पृ० १०९।

२. नरेन्द्र शर्मा : बहुत रात गये, पृ० ४७।

३. उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—क्रमशः रघुवीरशरण मित्र का 'जननायक', पृ० ५१ तथा रामकुमार वर्मा कृत एकलव्य का अष्टम सर्ग।

४. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घंटियाँ, पृ० २७८।

इन कवियों ने अविवाहित रहकर मुक्त भोग को श्रेष्ठ माना है। विवाह के सम्बन्ध में शिवचन्द्र शर्मा का विचार यह है कि वह भोग के लालच में अन्ततः मनुष्य को दयनीय अवस्था तक पहुँचा देता है—

चरस गांजा भांग, सह सको तो शराब
सेहत के लिए अच्छी चीजें,
प्रेम व्यापार अव्यवहृत
जिस्म को अस्मत से क्या वास्ता
भोग सामर्थ्य चाहता है।
विवाह तोते की रट है
बासी भिगोये चने खाना है,
उलझनें पालने वाले,
ठिगने हैं, असंभाल में
आँसू बहाते हैं।
सहानुभूति की अवस्था से
बचना हो, अविवाहित रहना,
खुदगर्ज सही, इलाज है, ...[1]

यहाँ भोग को नैतिकता से अलग करके देखा गया है। भोग के लिए विवाह को अनावश्यक नहीं माना गया। साथ ही यह भी कहा गया कि विवाह एक बन्धन है जो मनुष्य के स्वाभाविक विकास में बाधक है।[2] इसलिए कवि नारी को भी पुरुष के समान स्वच्छन्द देखना चाहता है। परम्परागत विवाह के अनेक बीभत्स चित्र खींचे गये हैं जो इस परम्परा के प्रति कवि की अनास्था के द्योतक हैं। मणिका मोहिनी विवाह को मनुष्य से जानवर बन जाने का लाइसेंस बताती है—

सुबह होने से दिन डूबने तक
मैं इन्तजार करती हूं
रात का
जब हम दोनों एक ही कोने में सिमट कर
एक दूसरे को कुत्ते की तरह काटेंगे
विवाह के बाद जिंदा रहने के लिए
जानवर बनना बहुत जरूरी है।[3]

विवाह को एक विवशता कहने में भी उसके सामाजिक पक्ष का निषेध प्रकट होता है। प्यार होने की स्थिति में भी एक सीमा से आगे बढ़ने में प्रेमी-प्रेमिका का अहं और

---

१. कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की, पृ० ३१।
२. द्रष्टव्य : निरंकार देव सेवक : विचारों, पृ० १४-१७।
३. कृति परिचय—अकवितांक, पृ० ५४।

कठिनाइयाँ आड़े आ जाते हैं, उस स्थिति में प्रेमी विवश होकर 'विवाह' का 'प्रोपोजल' रखता है।[1] ऐसी स्थिति में प्यार पर तो व्यंग्य है ही, 'विवाह' का भी उपहास किया गया है। दिनकर ने सामान्यतः तो वैवाहिक व्यवस्था को समाज के लिए उपयोगी और व्यक्ति की अबाध विलास-कामना का नियंत्रक माना है किन्तु विवाहोपरान्त पति की स्थिति पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने अपने एक सुभाषित में शादी की उपमा एक ऐसे नाटक अथवा उपन्यास से दी है जिसका नायक पहले ही अध्याय में मर जाता है।[2]

विवाह को एक विवशता के ही रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति का प्रभावशाली रूप उन रचनाओं में अंकित हुआ है जिनमें या तो पति-पत्नी के बीच पनपते और सुलगते तनाव का चित्रण है, या फिर एक दूसरे को स्वीकारते हुए भी दोनों स्वच्छन्द भोग में लीन रहते हैं। ऐसे स्थलों पर विवाह एक सामाजिक लाइसेंस मात्र रह जाता है, जिसकी आड़ में स्वैराचार किया जा सकता है। किरण जैन ने नागर जीवन में दाम्पत्य के तनाव को दम्पति के मध्य गुजरते उन क्षणों के व्याज से चित्रित किया है जिसे वे एक-दूसरे के सामने पड़ने पर भोगने को अभिशप्त हैं (दिन भर के उपरान्त सायंकाल घर लौटने पर) पत्नी को देखते ही पति के चेहरे पर सिलवटें गहरा जाती हैं तो पत्नी के चेहरे की नसें तन जाती हैं। दोनों अपने-अपने काम में डूबने का बहाना करते हैं—पति पड़ोसियों से हँसकर बतियाता है तो पत्नी आया को अगले दिन का कार्य समझाती है। जब चुप्पी का तनाव सीमा से बढ़ जाता है तो पति घर छोड़कर बाहर चला जाता है और पत्नी सँवरे हुए घर को पुनः सँवारने लगती है।[3] दाम्पत्य के ऊब और खीझ की इस कविता में अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। यह स्थिति तभी पैदा होती है जब नये और पुराने विचारों का टकराव होता है। पति पत्नी से सम्पूर्ण समर्पण चाहता है, पत्नी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहती है। शकुन्त माथुर ने उच्च मध्यवर्गीय पति की उन अपेक्षाओं का संकेत किया है जो वह अपनी पत्नी से रखता है। पत्नी दिनभर चाहे कैसी ही स्थिति में रहे, पति सायंकाल कार्य से लौटने पर उसे सजे-धजे रूप में अपनी प्रतीक्षा करते देखना चाहता है। वह इस बात पर बल देता है कि पत्नी अपना कोई पृथक् सामाजिक व्यक्तित्व न रखे, पति के व्यक्तित्व में ही लीन हो जाय।[4] 'ए काले मेघ...इस युग में न आओ' शीर्षक कविता में शकुन्त जी ने मेघ घिर आने पर एक पत्नी को इसलिए दुखी दिखाया है क्योंकि मादक या उत्तेजक वातावरण में उसका पति पड़ोसिन प्रेमिका के पास जाकर उससे बतियाता है।[5] सम्भवतः पत्नी में इतना साहस नहीं कि वह 'पड़ोसी' के साथ बतिया सके। सर्वेश्वर ने निम्न वित्त वर्ग की पत्नी की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है जो पति द्वारा सतायी जाकर आत्महत्या के लिए विवश हो जाती

---

१. विनोदचन्द्र पाण्डेय—सफेद चिड़ियाँ, पृ० २९।
२. दिनकर—नये सुभाषित, पृ० १०।
३. किरण जैन—स्वर परिवेश के..., पृ० ३८।
४. शकुन्त माथुर—चाँदनी चूनर, पृ० ९९-१००।
५. नयी कविता—अंक ५-६, पृ० १९४।

है।[1] श्रीकान्त वर्मा ने व्यक्ति की निजता या अहं के प्रभाव से दम्पति के बीच निरन्तर बढ़ती दूरी का आलेख किया है। परिवार में इकाई अपने को मिटाकर कुछ पाती है, कवि उस स्थिति का वर्णन करता है जहाँ वह न अपने को पूरा दे सका, न पत्नी से कुछ पा सका। परिणामतः युगल एक-दूसरे से परिचित होने के प्रयास में निरन्तर अपरिचित होते गये। अन्ततः स्थिति यह हो गई –

प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे।[2]

दाम्पत्य जीवन में एकनिष्ठता का प्रश्न उठाया जा चुका है। एकनिष्ठता का अर्थ केवल पातिव्रत्य नहीं अपितु एक-पत्नीव्रत भी है, यह स्पष्टीकरण कई कवियों ने दिया है। किन्तु अनेक रचनाकारों ने इस एकनिष्ठता को परिवार के लिए जरूरी नहीं माना। इनका विश्वास है कि पति-पत्नी अन्य से प्रणय और यौन-सम्बन्ध रखते हुए भी दम्पति रह सकते हैं। मुक्त भोग और विवाहित जीवन को वे एक-दूसरे का विरोधी नहीं मानते। एक पत्नी से पति की स्पष्टोक्ति द्रष्टव्य है—

न तुम से सीता की उम्मीद
न खुद को राम बताता हूं।

विनोदचन्द्र पाण्डेय के अनुसार विवाह एक समझौता है जिसमें न कोई पातिव्रत्य का प्रश्न है और न इसमें नैतिकता का ही कोई दखल है। पत्नी यदि पति की भलाई का ध्यान रखते हुए किसी के साहचर्य से तृप्त होती है तो कवि इस 'स्वतन्त्रता' को पाप नहीं समझता। प्रिय-साहचर्य के माधुर्य में पगी पत्नी की स्पष्ट दृष्टि है—

सौ फूल झरे हैं मुझ पर एकाएक
पाप सिर्फ पाप कह दोगे,
× × ×
मैंने छिपाई है प्यार की सुगन्ध
पति का जीवन पूर्ण करते
क्या नैतिक होता जला देना जीवन
प्रेम का रहस्य रखने से
मेरी जरूरत और पति की भलाई
मैंने न्याय किया दोनों से[3]

कवि के अनुसार यह 'न्याय' आधुनिक जीवन का है जिसमें पारिवारिक दायित्व और अपने सुख के बीच एक मार्ग तलाश कर लिया है। पत्नी ने यह मार्ग क्यों तलाश किया, इसका जैसे उत्तर देती हुई किरण जैन ने पति की स्वैराचारी वृत्ति का संकेत किया है। पति

---

१. तीसरा सप्तक (सं० अज्ञेय), पृ० २२४-२५।
२. श्रीकान्त वर्मा—माया-दर्पण, पृ० ७६।
३. विनोद चन्द्र पाण्डेय : कृष्ण पक्ष, पृ० ६७-६८।

जब किसी कन्धे से सन्धे छूते या किसी का प्रेम-पत्र पाकर उल्लसित हो उठे और सपनों में डूब जाय तो पत्नी कुम्हला उठती है।[1] इसी के साथ ही कवयित्री अपनी एक कविता 'क्षणों की मिठास' में पत्नी द्वारा परम्परागत नैतिकता या एकनिष्ठता को त्याग कर सुख-भोग की प्रवृत्ति का अंकन करती है। एक गृहिणी दोपहर को किसी (प्रिय) की संगति के क्षणों की मधुरता से उल्लसित होकर घर का कार्य प्रसन्नता से करती है। सायंकाल पति की प्रतीक्षा भी तत्परता से करती है।[2] पति के साथ होने के बावजूद जो रिक्तता पत्नी के जीवन में संभाव्य है उसकी पूर्ति हो जाने पर वह हर कार्य प्रसन्नतापूर्वक करती है जिसमें उसके पारिवारिक दायित्व—यहाँ तक कि पति के प्रति प्रेम-अर्पण भी—सम्मिलित है। वीरेन्द्र कुमार जैन 'पातिव्रत्य, पाप और प्रेम' पर विचार करते हुए नारी के शारीरिक भोग को उसका वैयक्तिक अधिकार मानते हैं। प्रिय से मिलन होने पर विवाहिता प्रेयसी दुर्निवार इच्छा के वश में होकर प्रिय के प्रगाढ़ आलिंगन में बँध जाती है तो उस समय 'दो युगल-अधर चुम्बन देह-सीमा की डाल से चूकर अमरता के निरामय लोक में मुक्त हो गए।' तभी पातिव्रत्य के संस्कार-वश प्रेयसी अपराध-भाव का अनुभव करती है जिसे कवि 'वैयक्तिक अधिकार-सीमा की निष्प्राण हथेलियों के खण्डहर में पातिव्रत्य के निर्जीव उल्लू का निषेध-स्वर' कहता है, किन्तु वह इस निषेध-स्वर को सर्वथा उपेक्षणीय मानता है। नारी की 'महामुक्ति' के पश्चात्—

अपने परम-वल्लभ की क्षितिज-वाहिनी बाहों में
चिरकाल की विरहित, पीड़ित, परकीया राधा
मुक्त निवेदन-मिलन में
विभोर होकर लोट-पोट गई।[3]

यहाँ कवि का अभिप्रेत स्पष्ट है कि पातिव्रत्य कुछ नहीं है। नारी का दैहिक-सुख का अधिकार उसका अपना रहता है, इसमें पाप का प्रश्न नहीं। पातिव्रत्य के स्थूल और बाह्य रूप को भी कवि अस्वीकृत कर देता है। इससे दाम्पत्य की परम्परागत धारणा सर्वथा खंडित हो जाती है, और मुक्त-भोग की मूल्यवत्ता स्पष्ट हो जाती है।

सम्बन्धों में तनाव, विचारों के अन्तर, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि के प्रभाव से टूटते परिवार का कटु चित्र जगदीश चतुर्वेदी ने खींचा है। उनके विचार में पति-पत्नी के बीच आज कोई सार्थक सम्बन्ध नहीं रहा। दोनों केवल औपचारिकताएँ निभाते हैं। एक-दूसरे के प्रति एवं परिवार के प्रति दोनों के मोह-भंग का यह चित्र द्रष्टव्य है—

हर आदमी जुदा मर्द कायर है
हर आदमी जुदा स्त्री फ्रस्ट्रेटेड है
क्योंकि वह एक दूसरे को प्यार नहीं करते
क्योंकि वह एक दूसरे को हेय समझते हैं

---

१. शिवम जैन : स्वर परिवेश के...; पृ० ३८, ४१।
२. वही, पृ० ४५।
३. वीरेन्द्र कुमार जैन : अनामता की आँखें, पृ० १७३।

क्योंकि उन्हें पास रहने से एक दूसरे की
कमियाँ ही दिखाई देती हैं।
हर मर्द खरगोश की तरह चुप है
हर औरत बिल्ली की तरह खूंख्वार है
औपचारिकता के परिवेश में
सोचते रहते हैं एक दूसरे को
ज़हर देने की बात।[1]

ऐसे अतिरंजनापूर्ण प्रसंगों की विश्वसनीयता का प्रश्न उठाया जा सकता है। लेकिन नागर जीवन में नारी-स्वतन्त्र्य के नाम पर कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य हो रहा है जिससे पति के साथ पत्नी पुराने सम्बन्ध को असह्य पाती है। इसलिए अपवाद-रूप ही सही, ऐसे तनावपूर्ण रिश्ते अधिक नहीं टिकते। सम्भवतः इसी प्रकार की चिन्तन-स्थिति में शब्दों की नई परिभाषा खोजते हुए गिरिजा कुमार माथुर ने 'दाम्पत्य-जीवन' को 'दो तलाकों के बीच का व्यवधान'[2] कहा है। इतनी बात तो साफ है कि विवाह-सम्बन्ध को अटूट मान कर उसे जैसे-तैसे निभाने का समर्थन तो आज का कवि कर ही नहीं सकता। रणजीत 'विवाह की पहली वर्षगाँठ पर' पत्नी से यह कहने का साहस करते हैं कि जब प्रेम चुक जाय तो पति-पत्नी को अलग ही हो जाना चाहिए।[3] क्योंकि बकौल राजीव सक्सेना वह घर कोठा है जहाँ एक भोली-सी औरत दो रोटी की खातिर मर्द के साथ लेट जाती है।[4] इस प्रकार इस सम्बन्ध को बाँधने वाले सूत्र प्रेम, सौहार्द्र और सम्मान के न हों, उसकी भर्त्सना करके उसे तोड़ देने की प्रवृत्ति अनेक रचनाओं में लक्षित की जा सकती है।

इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्ध को लेकर तीन मत आलोच्यकालीन काव्य में उपलब्ध हैं। प्रथम मत प्राचीन परम्परा को मान्यता देता है जिसके अनुसार विवाह एक पवित्र और अटूट बन्धन है। दूसरे मतानुसार विवाह अन्ततः एक समझौता है जिसकी आड़ में आवश्यकतानुसार कुछ भी किया जा सकता है। तीसरा मत स्वच्छन्द भोग में विश्वास करने वालों का है। उनके लिए सामाजिक मर्यादा कोई अर्थ नहीं रखती। अन्तिम दो मत भी पर्याप्त बल के साथ कविता में व्यक्त हुए हैं, इसलिए यह कहना उचित जान पड़ता है कि विवेच्य काव्य में विवाह की मूल्य-मानता पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया है।

दाम्पत्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के बारे में कविता में बहुत कम उल्लेख मिलता है। सन्तान से सम्बन्ध टूटने का वर्णन कहीं-कहीं मिलता है। राजेन्द्र किशोर ने परिवार को आर्थिक दबाव में सिसकता हुआ दिखाया है। व्यक्ति माँ, पिता, भाई-बहन और पत्नी के प्रति कृतज्ञ है क्योंकि इन्होंने उसके जीवन में सुख भरा, खुशियाँ भरीं और उसे किसी योग्य बनाया।

---

१. प्रारम्भ (सं० जगदीश चतुर्वेदी), पृ० २५।
२. गिरिजा कुमार माथुर : नयी कविता सीमाएँ और सम्भावनाएँ, पृ० ९२।
३. रणजीत : जमती बर्फ खौलता खून, पृ० ८२।
४. राजीव सक्सेना : आत्म-निर्वासन, पृ० ४२।

उन्हें इसका एक-एक चुम्बन समर्पित। किन्तु अब युग बदल गया है। पिता से सन्तान बहुत अपेक्षाएँ रखती है जिन्हें पूरा कर पाना आज के व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं रहा। परिणामतः पिता बेटे-बेटियों के क्रोध और घृणा का शिकार बन जाता है। किस प्रकार अर्थाभाव परिवार को तोड़ रहा है, इसे सन्तान के प्रति सम्बोधित पिता के इस प्रश्न से देखा जा सकता है—

जीवन के अनुभव का एक बोल कहता है—
बाप कभी मत बनना पैसे न हों यदि,
बेटे और बेटियों के क्रोध से बचना
मेरे बेटे और बेटियों पांचवां गीत गाया है तुमने
पांचवां चुम्बन तुम लोगे?[1]

गिरिजा कुमार माथुर ने भी उन आर्थिक कठिनाइयों की चर्चा की है जिनके शिकंजे में फँस कर जीवन कठिन-से-कठिनतर होता जा रहा है। जिन्दगी की बुनियाद 'घर' है और घर चलाना ही कठिन हो रहा है। दूध,घी की तो बात ही क्या, चीनी, गुड़, दाल, नमक, किरासिन का तेल जैसी चीजें भी अब न मिलें तो 'घर' कैसे चले?[2] इन चीजों के अभाव से मनुष्य में जो तनाव उत्पन्न होता है, वह सम्बन्धों में भी प्रतिफलित होता है।

अर्थाभाव के अतिरिक्त व्यक्ति-सुखवादी दृष्टि के विकास ने भी माँ-बाप का सन्तान के प्रति स्नेह घटा दिया है। ऐसे प्रसंग भी समकालीन कविता में स्वल्प हैं जहाँ वैयक्तिक सुखों की आकांक्षा से सन्तान की उपेक्षा का चित्रण हो। अपवादस्वरूप केशवचन्द्र वर्मा की निम्न पंक्तियाँ इस विषय में द्रष्टव्य हैं—

बच्चों को बन्द करो
शोर बहुत करते हैं।
हमारी ठठोली में मुए
आ पसरते हैं।
कालेज, अस्पताल और
नर्सरियाँ खुली हैं अब
माँ-बाप के लिए ही
कम्बख्त क्यों मरते हैं?[3]

राजकमल चौधरी ने 'मेरे पिता का परिवार' शीर्षक रचना में एक ऐसे परिवार का चित्र खींचा है जहाँ धुआँ उठता रहता है। भाई परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। बच्चे इधर-उधर पसरे पड़े रहते हैं। एक पूजा-घर है और महान् लेखकों की किताबें अलमारियों में बन्द रहती हैं।[4] परिवार के इस चित्र से जुगुप्सा या घृणा का भाव ही प्रकट होता है।

---

१. राजेन्द्र किशोर—स्थितियाँ : अनुभव तथा अन्य कविताएँ, पृ० १९।

२. गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० २७-२८।

३. केशव चन्द्र वर्मा : वीणापाणि के कम्पाउण्ड में, पृ० ११४।

४. राजकमल चौधरी : कंकावती, पृ० २१

उपर्युक्त विवेचन से हम इन निष्कर्षों तक पहुँचते हैं—

समग्र समकालीन कविता में पारिवारिक विघटन की प्रतिध्वनि नहीं है। अनेक रचनाकारों ने पारिवारिक सम्बन्धों के परम्परागत रूप को काम्य बता कर उनकी मूल्यवत्ता को स्वीकारा है।

पारिवारिक सम्बन्धों में मुख्यतः चर्चा पति-पत्नी सम्बन्धों की हुई है। अन्य सम्बन्धों का उल्लेख प्रसंगवशात् ही कहीं-कहीं हुआ है। कहना होगा कि पाश्चात्य विचारधारा के अनुरूप परिवार का अर्थ एकल परिवार से ही है। विघटन के चित्र नागर जीवन से ही सम्बद्ध हैं। इसके चार कारणों की ओर प्रायः कवियों ने संकेत किया है—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादी दृष्टि, नारी-मुक्ति-आन्दोलन, भोगपरक जीवन-दर्शन और आर्थिक दबाव। हर परम्परा को तोड़ कर नवीनता का आग्रह भी एक कारण हो सकता है। मूल्य-निषेध की अभिव्यक्ति तो हुई है किन्तु किसी नये मूल्य की कोई स्पष्ट रूपरेखा व्यक्त नहीं हो पाई। संभवतः यही कारण है कि कोई रचना ऐसी उपलब्ध नहीं होती जिसमें नवीन सामाजिक सम्बन्धों की व्यापकता और जटिलता को प्रस्तुत किया गया हो। मुक्तक रचनाओं में ही यत्र-तत्र एतद् सम्बन्धी चर्चा हुई है।

जहाँ तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है उसके मूल में स्थित त्यागवृत्ति और धर्म-सम्मत काम की धारणाएँ प्रायः उपेक्षित हो गई हैं। मेरे विचार में पारिवारिक सम्बन्धों को लेकर जो बेचैनी, वितृष्णा और असन्तोष काव्य में व्याप्त हुआ है, उसका मूल कारण सम्भवतः यही उपेक्षा है। औद्योगीकरण एवं महानगरीकरण के दुष्परिणामों से बचने के लिए संस्कृति के अमृत तत्त्व का आधार नहीं लिया गया। साथ ही यह भी सत्य है कि पारिवारिक विघटन के कुछ चित्र अतिरंजनापूर्ण हैं। उदाहरणार्थ यह कल्पना क्लिष्ट अथवा विकृत है कि सभी विवाहित स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को जहर देने की बात सोचते रहते हैं। हाँ, इन सम्बन्धों को अब पवित्र-बन्धन के रूप में नहीं लिया जाता। अन्ततः इसे एक समझौता ही मान लिया गया है। विघटन का इतना रूप कविता में अवश्य ही व्यक्त हुआ है।

—हिन्दी-विभाग; हंसराज कालेज
मल्कागंज, दिल्ली–११०००७

रीतिकालीन आचार्य कवि श्रीपति : जीवनी और रचनाएँ

डॉ० शिवाजी हरी मोरे

⊙ ⊙

प्रारम्भिक—हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन आचार्य कवि 'काव्यसरोज'कार श्रीपति के विषय में मेरा कुतूहल तब जाग पड़ा, जब मैंने देख लिया कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण होकर भी इन्हें इतिहास में अधिक सम्मान नहीं दिया गया है। जहाँ एक ओर इनके व्यक्तित्व की एवं रचना-कौशल की महानता निर्विवादतः अवश्य स्वीकारी गई है, लेकिन दूसरी ओर इनकी जीवनी और कृतित्व को गौणत्व की दुःस्थिति भी प्राप्त हो गई है। इसके कारण, मेरे मतानुसार, ये हैं—

१. श्रीपति की रचनाएँ आठ बतलायी जाती हैं, लेकिन 'काव्यसरोज' और 'अनुप्रास विनोद' के अलावा अन्य ग्रन्थों की उपलब्धि नहीं हो सकी है।

२. इनका मुक्तक साहित्य संगृहीत समुच्चयित रूप में किसी एक हस्तलेख में या मुद्रित पुस्तक में प्राप्त नहीं होता। इनका मुक्तक साहित्य यत्र-तत्र छपी हुई पुस्तकों में बिखरा पड़ा है, जिनमें से किसी एक पुस्तक में पाँच-दस तो दूसरी पुस्तक में तीन-चार मुक्तक उपलब्ध हो जाते हैं। नये मुक्तकों की उपलब्धि की दिशा इन पुस्तकों के आधार पर ज्ञात नहीं होती। बहुत अधिक प्रयास करने पर छपी हुई पुस्तकों में से एकत्रित की गई श्रीपति के मुक्तकों की संख्या ५५ से अधिक नहीं होती, जिनमें से ४५ रीतिशृंगार के मुक्तक हैं और १० लोकनीति के मुक्तक।

इन कारणों से हिन्दी साहित्य के विद्वान् श्रीपति का नाममात्र स्पर्श ही अपनी लेखनी को करा सके हैं। जहाँ कहीं पाँच-दस पन्नों में सामग्री देने का यत्न हुआ है, वह अध्ययन-अभ्यासार्थ अधूरा है। पूर्ववर्तियों का सहारा लेकर सही-सही नकल के रूप में परवर्ती आलोचक विद्वान् अपनी साहित्य के इतिहास की पुस्तकों में वे ही बातें दुहराते गए हैं। सारांश, श्रीपति के संदर्भ में आज तक त्रुटित रूप में ही सामग्री मिलती रही है।

इस पार्श्वभूमि पर लिखे जाने वाले प्रस्तुत लेख में श्रीपति के विषय में नये दृष्टिकोण को अपनाकर कुछ बातें प्रस्तुत की जा रही हैं—

जीवनचरित की उपलब्धि

श्रीपति का जीवन परिचय कराने वाली कोई हस्तलिखित रचना नहीं मिलती, अतएव श्रीपति के जीवनचरित के संदर्भ में मुद्रित पुस्तकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। प्रोफेसर

शिवकुमार शर्मा के मतानुसार[1] श्रीपति की जीवनी के संदर्भ में प्रामाणिक सामग्री अनुपलब्ध है। डॉ० किशोरीलाल गुप्त के कथनानुसार[2] पंडित महेश दत्त कृत 'भाषा काव्य संग्रह' में इनका अन्य ५० कवियों के साथ जीवनचरित उपलब्ध होता है।

वैसे तो 'काव्यसरोज' के अन्तर्साक्ष्याधार पर इनकी जाति ब्राह्मण सिद्ध हो जाती है।[3] अन्य एक उपलब्ध प्रमाण के अनुसार ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे इनका उपनाम मिश्र था।[4] काव्यसरोज के अन्तर्साक्ष्य के प्रसिद्ध पद्य में इन्होंने स्वयं के लिए 'सुकवि' एवं 'राइ' शब्दों का प्रयोग किया है, वह स्वयं के कवित्व के साथ अभिमान को बढ़ावा देने के हेतु ही। इन शब्दों के साथ वहाँ आये हुए 'द्विजमनि' शब्द के कारण इन्हें ब्राह्मण जाति का सिद्ध किया गया है।

इसी आधार पर श्रीपति काल्पी निवासी थे और इन्होंने सम्वत् १७७७ में 'काव्य-सरोज' रचा, यह स्पष्ट होता है। इनके 'काल्पी' निवास के संदर्भ में दो पर्याय कहे जा सकते हैं—

१. काल्पी पितृभूमि के रूप में इनका निवासस्थान हो सकती है।

अथवा

२. काल्पी इनकी कर्मभूमि हो सकती है जो इनके काल में किसी संस्थानिक या नरेश के आधिपत्य में होना संभव है। इस संदर्भ में श्रीपति के नाम पर बतलाया जाने वाला विशेष विधासूचक मुक्तक मुझे मिला, जिसमें 'शेख अबदुल्ला जू रावरो सुजस छायो पारदसो दूधसो धवल धनसारसो' यह पंक्ति प्राप्त होती है।[5] इसे पढ़ने पर प्रतीत होता है कि इनके आश्रय-

---

१. हिन्दी साहित्य का युग एवं प्रवृत्तियाँ, प्रोफेसर शिवकुमार शर्मा, पृ० ३५६।

२. सरोज-सर्वेक्षण, डॉ० किशोरीलाल गुप्त, पृ० ७२ पर दिया हुआ कविक्रम ९।

३. वह अन्तर्साक्ष्य इस प्रकार का है—

'संवत् मुनि मुनि ससी सावन सुभ बुधवार।
असित पंचमी को लियो ललित ग्रन्थ अवतार॥
सुकवि काल्पी नगर को द्विजमनि श्रीपति राइ।
जससम स्वाद जहान को बरनत सुख समुदाइ॥'

४. 'काव्यसरोज' की एक हस्तलिखित प्रति लखनऊ के श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र, श्री जुगलकिशोर मिश्र तथा श्री ब्रजकिशोर मिश्र, इन मिश्र उपनामधारियों के पास उपलब्ध होती हैं। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं तथा श्रीपति के वंशज कहलाते हैं। इस आधार पर हिन्दी साहित्य की निम्नलिखित पुस्तकें इनकी जाति कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा उपनाम मिश्र स्वीकारती हैं— १. हिन्दी साहित्य का अनुशीलन, २. हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास, ३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, ४. हिन्दी साहित्य का उद्भव एवं विकास, ५. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग, रीतिकाल), ६. हिन्दी साहित्य, खण्ड २रा, ७. का० ना० प्र० सभा की ईसवी १९२६ से २८ तक की त्रैवार्षिकी।

५. वह मुक्तक पूर्णतया इस प्रकार है—

'मुनिमनमें नारदसों नारदमें सारदसो सारदके उरपर मोतिनके हारसों।
'श्रीपति' कहत बरिसो धरनिपर हूर गिरिपर आनंद अपारसो॥

दादा का नाम शेख अब्दुल्ला था। 'रावरो' शब्द सूचित करता है कि यह किसी प्रान्त का (सम्भवतः काल्पी का) शासक अथवा सूबेदार रहा होगा।

यह भी असंभव नहीं कि मुगलों द्वारा यह काल्पी प्रान्त में नियुक्त किया गया हो। यदि यह प्रमाणित किया गया तो श्रीपति चूँकि आचार्य कवि हैं, दरबारकवि के रूप में इन्होंने काल्पी में इसी के आश्रय में रह कर विक्रम सम्वत् १७७७ में 'काव्यसरोज' की रचना की होगी तथा अन्य सात ग्रन्थ भी इसी के आश्रय में दरबारी कवि के रूप में रह कर रचे होंगे, यह सिद्ध किया जा सकता है।[1]

नाम—हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'श्रीपति' नाम के कई कवि उपलब्ध होते हैं। काव्यसरोजकार श्रीपति से नाम-साधर्म्य रखते हुए लेकिन वस्तुतः उनसे भिन्न इन रचनाकारों का और उनकी रचनाओं का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है—

१. 'हिम्मतप्रकाश' और 'कर्णपर्व'कार श्रीपति—यह श्रीपति गुजराती उदीच्य ब्राह्मण पुरुषोत्तम भट्ट के पुत्र थे। इन्होंने नवाब सैय्यद हिम्मत खाँ के आश्रय में रह कर संस्कृत वैद्यक ग्रन्थ 'माधवनिदान' का 'हिम्मतप्रकाश' नाम से हिन्दी अनुवाद किया। इनके अन्य एक ग्रन्थ का नाम है 'कर्णपर्व'।[2]

२. सम्राट् अकबर के समसामयिक श्रीपति—मुगल सम्राट् अकबर के समय के तथा उनकी 'करी मिलि आस अकबर की' इस समस्या की पूर्ति करने वाले एक श्रीपति हो चुके हैं।[3]

३. मिथिलानिवासी श्रीपति—इनका उल्लेख निम्नलिखित रचनाओं में हुआ है—

१. ए हिस्ट्री ऑव मैथिली लिटरेचर, पृष्ठ ४१५-१६।

शेख अबदुल्लः जू रावरो सुजसछायो पारदसो दूधसो धवल घनसारसों।
चांदनी सों चंदसों विराजत तुसारसो मराळन को हारसो मंदाकिनी के धारसो।'

विशेष यह है कि यह मुक्तक काव्यसरोज का अंश माने जाने वाले 'विनोदाय काव्य-सरोज' में मिलता है।

१. ईसवी १९७५ की अप्रैल, मई, जून की हिन्दुस्तानी त्रैमासिकी शोधपत्रिका में डॉ० दयाशंकर शुक्ल का 'आचार्य श्रीपति और उनका अनुप्रास ग्रन्थ' लेख छपा था, जिसमें अनुप्रास ग्रन्थ के एक छन्द के आधार पर शेख कासिम के पुत्र शेख अब्दुल्ला और अमेठ अनिरुद्ध सिंह के पुत्र अवधूत सिंह दोनों को श्रीपति का आश्रयदाता बतलाया गया है। उसी छन्द में श्रीपति द्वारा इन दोनों की प्रशंसा की गई है। अनुप्रासविनोद के एक छन्द में शेख अब्दुल्ला को दिलीप एवं राम से भी श्रेष्ठ बतलाया है तथा शेख कासिम के इस पुत्र की अन्य एक छन्द में भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा की गई है। यह प्रमाण भी इस संदर्भ में देखने लायक है।

२. आचार्य श्रीपति और उनका अनुप्रास ग्रन्थ, डॉ० दयाशंकर शुक्ल (हिन्दुस्तानी त्रैमासिकी शोधपत्रिका के अप्रैल-मई-जून १९७५, के अंक में छपा लेख) तथा कविकीर्ति-कौमुदी, पद २४।

३. वही।

२. हिन्दी साहित्य एवं बिहार, श्री शिवपूजन सहाय, पृष्ठ १६९।

३. हिन्दी साहित्य, खण्ड २रा, संपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ५४१।

'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' के लेखक डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने मैथिली गीति परम्परा में जिस श्रीपति को लिया है, वह यही रचनाकार होगा। इसकी इससे अधिक जानकारी नहीं मिलती और प्राप्त स्वल्प-सी सामग्री के आधार पर यह 'काव्यसरोज'कार श्रीपति से स्पष्टतया भिन्न भी है।

४. काशी निवासी श्रीपति—मुझे काशी नागरी प्रचारिणी सभा में अपने शोध कार्यार्थ उपस्थित रहते समय 'श्रीपति के कवित्त' नामक एक हस्तलिखित रचना देखने को मिली।[1] इस रचना में कुल पद हैं ७ और छन्द हैं ६०। यह रचना देखते समय जो विशेष तथ्य मैंने ढूँढ़ निकाले, वे इस प्रकार हैं—

१. प्रति के प्रारम्भ में गणेश वन्दना की गयी है। हस्तलेख के ५०वें छन्द में कवि ने स्वयं का रहने का ठिकाना काशी बतलाया है—

'नैननि चकोरन कों सीवत सुधासी कलधर की कलासी मुख सुखमा प्रकासी है।

कवि ललचानों रूप करत बखान सुन्यौं श्रीपति सुजान कासीनगर निवासी है॥'

प्रति के प्रारम्भ की गणेश वन्दना समाप्त होने के पश्चात् 'गंग के कूल की गैल गैहा जिनि प्राण-विरह की बैल कढैगी' इत्यादि कहा है। यहाँ कवि की विशेष भावना दिखाई देती है।

२. इस हस्तलेख के अन्त में—'कवित्त कान्ह के लिखे श्रीपति जी के हैं साठि' कहा है लेकिन यहाँ रचनाकाल, प्रतिलिपिकाल, प्रतिलिपिकार, इत्यादि किसी भी बात का उल्लेख नहीं है। ६० पद्यों के तथा ७ पदों के इस हस्तलेख में छन्द ४६ से ६० संख्या तक के छन्द सवैया में हैं और २१ भी इसी छन्द में हैं। कुल ६० में से बाकी सभी कवित्त छन्द में प्राप्त होते हैं।

३. उपमाओं-अनुप्रासों की भरमार इस रचना की अन्य एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

४. रचना में कृष्ण के मुरलीधर, गुपाल, बिहारी, नन्ददुलारे इत्यादि नाम गिनाये हैं तथा 'रघुवीर' कान्ह का एक विशेषण लिख कर राम एवं कृष्ण में अद्वैत माना है।

लेकिन यह तो रचना और रचनाकार दोनों की विशेषताओं का परिचय मात्र हुआ। आश्चर्यजनक बात यह है कि मुक्तकों की सरसता एवं सुन्दरता के आधार पर काव्यसरोजकार श्रीपति को एक उच्चकोटि का रचनाकार बतलाया जाता है, लेकिन काव्यसरोजकार श्रीपति के कहे जाने वाले कई प्रसिद्ध मुक्तक इस हस्तलेख में इस काशीवासी श्रीपति के नाम पर लिखे गए हैं। यह मुक्तक सचमुच यदि 'काशीवासी' श्रीपति के सिद्ध हो सकें, तो हिन्दी साहित्य के 'रीतिकाल' के इतिहास में नया मोड़ आ सकता है। मुक्तकों की पूरी-की-पूरी पंक्तियाँ देने से विस्तारभय का डर है, अतएव इन मुक्तकों की मात्र एक-दो पंक्तियाँ दे रहा हूँ—

---

१. पुणे से निकलनेवाली 'राष्ट्रवाणी' मासिक पत्रिका के जनवरी-फरवरी-मार्च १९७३ के त्रैमासिकाङ्क में मैंने 'रीतिकालीन काव्यसरोजकार श्रीपति की मुक्तक रचना' शीर्षक लेख लिखा था। इसमें ये बातें विस्तार से स्पष्ट की हैं।

(१) जल भरे झूमे मानो भूमै परसत आय,
    कायर करत मोहि बादर नए नए।....
(२) झूमत झुकत उमकत फेरि झूमति है,
    प्यारे, जोवन तिहारो किधौं गज मतवारे है।....
(३) तेलनी को तिल को फुलेल अजमेर ही को,
    बंसीवट तट नीको नट नीको नंद को।....
(४) पावनि घुंघारे घुंघरान की निहारि, जिये,
    विरह सुभट तें वियोगिनी को रन भौ।....
(५) जलमयी धरनि, तिमिरमयी देह दीसी,
    सनेहमयी जन भौ, मदनमयी मन भौ।....
(६) एहो ब्रजराज....................
(७) कीरति कीसोरी तेरे गात की..........
(८) चोरी नीकी चोर की सुकवि की........
(९) पारिजात हारिजात मालती बिकारी जात...
(१०) श्रीपति सुजान गोरे गात की गुराई देखि...
(११) फूले...बनमाली बिन...दरद की॥

प्रारम्भ के हिन्दी साहित्य के विद्वान् तथा ग्रियर्सन, शिवसिंह सरोजकार, इत्यादि ने काव्यसरोजकार श्रीपति का मूल्यांकन करते समय यदि इस हस्तलेख को आँखों के सामने रखा हो और तदाधार पर एक श्रेष्ठ मुक्तककार के रूप में काव्यसरोजकार श्रीपति को स्वीकारने की क्रमिक परम्परा-सी चल पड़ी हो तो इन मुक्तकों के बारे में फिर एक बार नये दृष्टिकोण से सोचने के लिए विद्वानों को बाध्य होना पड़ेगा। लेकिन इस दिशा में प्रयास करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

५. पयागपुर (जिला बहराइच) निवासी श्रीपति—पयागपुर (जिला बहराइच) निवासी धर्मदासपुत्र श्रीपति तथा कालपीनिवासी श्रीपति इन दो 'श्रीपतियों' को लेकर काव्यसरोज के प्रणेता के विषय में विद्वानों में शुरू-शुरू में मतभेद उत्पन्न हुए थे। लेकिन कालपी (जालौन) निवासी श्रीपति को ही आज निःसंदिग्ध रूप से काव्यसरोजकार के रूप में मान्यता मिली है।[1]

रचनाएँ—श्रीपति की मुक्तकों को परखने पर स्पष्टतया कहा जा सकता है कि 'काव्यसरोज' के कारण ये आचार्य कवि के रूप में सफलता अर्जित कर चुके हैं तो इनका कवित्व पक्ष इनकी मुक्तक रचना में निखर उठा है। श्रीपति कृत मुक्तकों का वर्गीकरण—

---

१. 'यह पयागपुर (बहराइच) के नहीं। इनका जीवनकाल सम्वत् १७०० से १८०९ के बीच का ठहरता है।'

—हिन्दुस्तानी त्रैमासिकी शोधपत्रिका के अप्रैल-मई-जून के अंक में डॉ० दयाशंकर शुक्ल का छपा लेख—'आचार्य श्रीपति और उनका अनुप्रास ग्रन्थ'।

१. लोकनीति के मुक्तक तथा २. रीति शृंगार के मुक्तक इस तरह किया जा सकता है। इनके यह मुक्तक हिन्दी साहित्य के इतिहास की तथा अन्य मुद्रित पुस्तकों में एवं इनके ग्रन्थ 'काव्यसरोज' और 'अनुप्रासविनोद' में काव्यशास्त्रीय लक्षणों के उदाहरणों के रूप में उपलब्ध हैं। संख्या में अधिक-से-अधिक ५५ इन मुक्तकों पर 'रीतिकालीन आचार्य कवि श्रीपतिकृत मुक्तकों में रससौन्दर्याभिव्यंजना' शीर्षक स्वतन्त्र लेख में समग्र विशेषताओं को सामने रख कर भविष्य में विचार करने का निश्चय है, इसलिए यहाँ श्रीपति की मुक्तक रचना पर विस्तारभय के कारण ज्यादा लिखना उचित न समझ कर इनकी ग्रन्थ-रचनाओं पर विचार किया जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने श्रीपतिकृत ग्रन्थों की संख्या कम-से-कम दो-तीन से लेकर अधिक-से-अधिक आठ तक बतलायी है। यहाँ इनकी कुल ग्रन्थ-रचनाएँ आठ स्वीकार कर उनका संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है—

१. **रससागर**—नाम से ही स्पष्ट है कि यह रसशास्त्रनिरूपक ग्रन्थ है, जिसमें सर्व-रसनिरूपण हुआ है। सर्वरसनिरूपक ग्रन्थ के अर्थ में ही इसे रीतिग्रन्थ भी कहा जाता है। इसी रचना के आधार पर कई विद्वान् श्रीपति को रसवादी अथवा एकांगनिरूपक आचार्यों के वर्ग में गिनते हैं। इस रचना में शृंगार रस के प्रसंग में नायिकाभेद निरूपण भी हुआ है। 'काव्यसरोज' के ४ से ७वें तक के चार दलों में शब्दार्थ दोष निरूपण के प्रसंग में इस रचना से लिए गए कई उद्धरण मिलते हैं। विद्वानों के मतानुसार[1] इसकी रचना विक्रम सम्वत् १७७० में हुई। इस रचना का हस्तलेख आज तक अनुपलब्ध है।

२. **अलंकार गंगा**—इस ग्रन्थ का हस्तलेख भी आज तक दुर्लभ ही है। इसका रचनाकाल भी वि० सं० १७७० ही माना जाता है।[2] इसमें अलंकार-विवेचन की प्रधानता है। इस ग्रन्थ के आधार पर अलंकारवादी आचार्य के रूप में स्वीकार कर इन्हें एकांगनिरूपक आचार्यों के वर्ग में गिनने का प्रयास भी हुआ है।

३. **सरोजकलिका**—यह ग्रन्थ भी आज तक अनुपलब्ध ही है। मेरे तर्कानुसार यह रचना 'काव्यसरोज' का संक्षिप्त संस्करण रही होगी, जिस कारण श्रीपति ने इसे 'सरोजकलिका' नाम दिया होगा।

४. **विक्रम विलास**—इस ग्रन्थ का हस्तलेख भी प्राप्त नहीं होता, अतएव इसका प्रतिपाद्य विषय क्या है, यह स्पष्ट नहीं किया जा सकता। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में बैताल पचीसी की कथा को लेकर 'विक्रम विलास' शीर्षक से रची गई अनेक रचनाएँ मिलती हैं। बैताल पचीसी के आधार पर श्रीपति ने भी 'विक्रमविलास' रचा होगा। इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने आश्रयदाता शेख अब्दुल्ला अथवा बघेल अवधूतसिंह की प्रशंसा की होगी और उनके भोग-विलासों का वर्णन भी किया होगा, यह तर्क नकारा नहीं जा सकता।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत इतिहास, पृष्ठ ४३, तथा हिं० सा० का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग, रीतिकाल), संपादक डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १७८ और पृष्ठ ३८९।

२. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ४१।

५. कवि (काव्य) कल्पद्रुम—इस रचना का निश्चित स्वरूप की हस्तलेख की अनुपलब्धि के कारण नहीं बतलाया जा सकता। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र विषयक माना जाता है और 'काव्य-सरोज' में प्राप्त अवतरणों के आधार पर यह बात सिद्ध भी की जा सकती है। काव्यसरोज में जो दोष वर्णन मिलता है, उससे भी अधिक विस्तार से दोष-वर्णन इस रचना में प्राप्त होता है। काव्यसरोज का ही एक अंश माने जाने वाले 'विनोदात्म काव्यसरोज' में प्राप्त कथनाधार पर यह बात स्पष्ट होती है—

'जो दोष नहि है महामति मान कही परम संतोष सों पंचवदन के वास।
'कविकल्पद्रुम' में कही ताकौ बहुत प्रकास॥१०॥'

डॉ० दयाशंकर शुक्ल को 'काव्यसरोज' की एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध हुई है, जिसमें कवि (काव्य) कल्पद्रुम का उल्लेख लगभग इसी आशय-साम्य को लेकर है—

'यमक अठासी भाँतिसो बरनत सुमति अगार।
कवि कल्पद्रुम में कह्यो याको अति विस्तार।
यामें अति संक्षेपसों बरनत आठ प्रकार।'

यहाँ कवि (काव्य) कल्पद्रुम में अट्ठासी प्रकार के यमकों का वर्णन मिलता है, लेकिन काव्यसरोज में संक्षेप में केवल आठ ही प्रकारों का, यह स्वयं कवि का ही कथन है। इस प्रकार के कथनाधार पर पृष्ठ संख्या की दृष्टि से यह ग्रन्थ काव्यसरोज से अधिक विस्तृत है, यह बात सहज ही ध्यान में आती है। काव्यसरोज में ही अलंकारों के बारे में श्रीपति बतलाते हैं—

'चालीस विधि उपमा कह्यो कवि कल्पद्रुम माँहि।
सोरह विधि यामें कहत सुनो महाकवि नाह॥'

काव्यसरोज की रचना वि० सं० १७७७ में मानी जाती है। काव्यसरोज के अन्तर्गत कवि (काव्य) कल्पद्रुम का उल्लेख आने के कारण यह रचना वि० सं० १७७७ के पूर्व की होगी, यह मानना पड़ेगा।[1]

इस रचना का नाम 'काव्यकल्पद्रुम' तथा 'कविकल्पद्रुम' दोनों बतलाया जाता है, लेकिन 'काव्यसरोज' के अन्तर्गत आये हुए उल्लेख के आधार पर इसका नाम 'कविकल्पद्रुम' स्वीकारना ही अधिक समीचीन है।

---

१. सितंबर १९७५ की अप्रैल-मई-जून की हिन्दुस्तानी त्रैमासिकी शोधपत्रिका में डॉ० दयाशंकर शुक्ल का छपा लेख—'आचार्य श्रीपति और उनका अनुप्रास ग्रन्थ'।

२. व्रजभाषा रीतिग्रन्थकोश के लेखक—संपादक श्री जवाहर चतुर्वेदी ने इसका रचनाकाल वि० सं० १७०० दिया है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' के पृष्ठ ४६ पर इसे वि० सं० १७८० की रचना माना है, लेकिन इसके पुष्ट्यर्थ कोई प्रमाण नहीं दिया है। डॉ० त्रिभुवनसिंह ने अपनी पुस्तक 'महाकवि मतिराम' के पृष्ठ ९६ पर इसी उल्लेख को दृष्टि में रख कर इसकी रचना वि० सं० १७७४ के पूर्व अथवा समकाल में मानी है।

३. काव्यसुधाकर—डॉ० दयाशंकर शुक्ल ने[1] इस ग्रन्थ का प्राप्तिस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग बतलाया है। का० ना० प्र० सभा की विक्रम सम्वत् १९०० से १९५० तक की विवरणि में इसे १८वीं सदी की रचना कहा गया है। डॉ० हीरालाल[2] ने इसकी रचना काव्य-सरोज के ही दिनांक पर बतलाई है। उनका यह भी कहना है कि इस रचना की एक प्रतिलिपि प्राप्त हुई है, लेकिन इसका उन्होंने अधिक स्पष्टीकरण नहीं दिया है। 'सरोज-सर्वेक्षण' में कहा गया है—

'यद्यपि इस ग्रन्थ की प्रथम कला ही उपलब्ध है, यह १६ कलाओं का बड़ा ग्रन्थ होना चाहिए। प्रथम कला के अन्तिम दोहे में कहा गया है—

'कवित निरूपण पद कह्यौ श्रीपति सुमति निवास।
काव्यसुधाकर महँ भई पहिली कला प्रकास॥'

किन्तु पुष्पिका में ग्रन्थ समाप्ति की सूचना है, जिसमें कहा है—

'इति काव्यसुधाकरे निरूपनसमाप्तम्॥इति॥'

उनका यह भी मत है कि निश्चय ही काव्यसुधाकर की यह पुष्पिका प्रतिलिपिकार की है, कवि द्वारा लिखी हुई नहीं है। डॉ० गुप्त का यह मत स्वीकारने पर पुष्पिका को प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। पुष्पिका में गंग, आचार्य केशवदास, मुकुंद कविराय, जगन्नाथ, दिनेश, बीरबल, मनिराम इत्यादि कवियों के साथ श्रीपति का भी उल्लेख आया है। पुष्पिका में जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि सुयश, धन तथा मानकी कम से केशव, गंग, मुकुंद तथा बीरबल को हुई और दुख तथा रोग से मुक्ति मिली दिनेश और मनिराम को। इन कवियों में से कई कवि श्रीपति के पूर्ववर्ती और कई समकालीन हो सकते हैं। यदि पुष्पिका प्रक्षिप्त हो और प्रतिलिपिकार ने श्रीपति के देहावसान के कई वर्षों बाद लिखी हो तो कई कवि श्रीपति के बाद की पीढ़ी के भी माने जा सकते हैं।

डॉ० दयाशंकर शुक्ल ने पुष्पिका के आधार पर दिनेश, मुकुंद, मनीराम इन व्यक्तित्वों पर चर्चा करते हुए श्रीपति के पूर्ववर्ती और समकालीन दिनेश और मुकुंद को पुष्पिका में आये हुए कवि मान कर इन पर नया प्रकाश डालने की कोशिश की है। मिश्रबंधुविनोद और शिवसिंह सरोज में दो दिनेश कवियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से एक हैं 'टिकारी गया निवासी।' इनकी रचनाएँ वि० सं० १८८३ की बसंत-पंचमी की होने से डॉ० शुक्ल ने इन्हें पुष्पिका में उल्लेख्य दिनेश कवि नहीं स्वीकारा है। दूसरे एक दिनेश का उल्लेख मिश्रबंधुविनोद में है। उसमें कहा गया है कि इनके छन्द 'अलंकार-रत्नाकर' ग्रन्थ में मिलते हैं, लेकिन डॉ० शुक्ल का कहना है कि उन्हें यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ; किन्तु इसमें किसी भी दिनेश के छन्द नहीं मिलते। 'शृंगारसिंधु' हस्तलेख में आप इस कवि के १२ छन्द प्राप्त होते हैं। बिहार के डुमरांव के तीसरे एक दिनेश कवि हुए हैं, जिनकी रचनाओं

---

१. ईसवी १९७५ की अप्रैल-मई-जून की हिन्दुस्तानी त्रैमासिकी शोधपत्रिका में डॉ० दयाशंकर शुक्ल का छपा लेख—'आचार्य श्रीपति और उनका अनुप्रास ग्रन्थ।'

२. का० ना० प्र० सभा की ईसवी १९२३ से २५ तक की त्रैवार्षिकी।

का काल है वि० सं० १७२४। 'रसिक संजीवनीकार' इसी बिहार के दिनेश कवि को डॉ० शुक्ल ने पुष्पिका में आए दिनेश कवि माना है। मेरे मतानुसार 'शृंगारसिन्धु' का हस्तलेख भी श्रीपति के ग्रन्थों के समकाल में (वि०सं० १७७० में) रचा गया है। इसलिए पुष्पिका में इस दिनेश का नाम आया होगा, यह भी असम्भव नहीं है। बिहारनिवासी 'रसिक संजीवनी'-कार दिनेश और 'शृंगारसिन्धु' में उल्लिखित दिनेश, यह दोनों भिन्न-भिन्न न होकर एक ही दिनेश हो सकते हैं, इस दिशा में प्रयास होना भी अत्यावश्यक है।

डॉ० शुक्ल ने अब्दुर्रहीम खानखाना की प्रशंसा में लिखने वाले और पुरस्कारस्वरूप उससे धन पाने वाले कवि मुकुंद को पुष्पिका में आये हुए मुकुंद कवि बतलाया है। इनका उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में है। उन्हीं के कथनानुसार यह मुकुंद कवि (वि० सं० १७०५ के पहले के) जहाँगीर के शासनकाल के दूसरे एक कवि मुकुंद से स्पष्टतया अलग है। इस दूसरे कवि मुकुंद ने जहाँगीर का यशोगान किया है और जहाँगीर रहीम का विरोधी था।

इस प्रकार से डॉ० शुक्ल ने रहीम की प्रशंसा में लिखने वाले और जहाँगीर की प्रशंसा में लिखने वाले मुकुंद नामधारी दो व्यक्ति अलग बतलाए हैं। लेकिन यह बात इन्होंने इस तर्क के आधार पर कही है कि एक की प्रशंसा में लिखने वाला आश्रित या दरबारी कवि उसके विरोधी व्यक्ति की प्रशस्ति में नहीं लिख सकता। लेकिन एक की प्रशंसा में लिखने वाला आश्रित कवि दिनों के फेर के साथ-साथ उसके विरोधी के गुण गौरव पर लिख सकता है। अतएव जहाँगीर और रहीम के संघर्ष कितने भी तीव्र रहे हों, कवि मुकुंद के कवि जीवन पर भी उसका परिणाम दिखलाना साहस की बात है। कवि मुकुंद सदा के लिए रहीम का ही आश्रित कवि रहा होगा, ऐसी बात नहीं। संस्कारक्षम भक्तहृदय के रहीम के आश्रित कवि में रीतिकालीन आश्रित कवियों की विशेषता होगी, ऐसी बात नहीं। वह रहीम के आश्रय में किसी प्रसंगवश आया होगा, क्या यह सम्भव नहीं है? तर्काधार पर अनेक बातें कही जा सकती हैं, लेकिन मेरे मतानुसार इन दो कवियों को भिन्न मानने की अपेक्षा एक ही मानने में कोई हर्ज नहीं होना चाहिए।

डॉ० शुक्ल ने पुष्पिका के आधार पर—१. 'हम्मीरहठ' काव्य के रचनाकार चन्द्रशेखर वाजपेयी (जन्म वि० सं० १८५५) के पिता मनिराम और २. शाहजहाँ के दरबारी कवि 'आनंदमंगल' ग्रन्थ के रचनाकार मनिराम (जिन्हें काव्योपासना से पुत्रलाभ हुआ। यह डॉ० शुक्ल का तर्क है) इन दो मनिरामों की चर्चा की है और कहा है कि इनमें से काव्यसुधाकर में

---

१. प्रशंसा का डॉ० शुक्ल द्वारा उद्धृत यह पूरा छंद इस प्रकार है—

'कमठ पीठ पर कोल कोल, पर फन फनिंद फंदा
फनपति फन पर पुहुमि पर दिपत दीप जग
सप्त दीप पर दीप एक जंबू जग लिखियाय
खानान खान बैरमतनय, तिहि पर सुव भुजकल्पतरु
जगसंगाहि जस्स भुज मध्यपर जस्स अंम स्वामि लवरु।'

ई० १९७५ की अप्रैल-मई-जून की हिन्दुस्तानी त्रैमासिकी शोधपत्रिका में डॉ० दयाशंकर शुक्ल का छपा लेख—'आचार्य श्रीपति और उनका अनुप्रास ग्रन्थ।'

अकबर कवि अभिराम कौन है, यह जानना कठिन है। लेकिन रहीम और जहाँगीर के समकालीन कवि मुकुंद को पुष्पिका में उल्लिखित मुकुंद स्वीकारने पर शाहजहाँ के दरबारी कवि अभिराम को पुष्पिका में आये अभिराम स्वीकारने में कोई कठिनाई नहीं होती चाहिए। यदि यह स्वीकारा गया तो पुष्पिका प्रक्षिप्त है, इस मत का खण्डन भी अपने आप हो जाता है और पुष्पिका-लेखक प्रतिलिपिकार द्वारा रची इस पुष्पिका को प्रक्षिप्त न मानना युक्तिसंगत हो जाता है।

७. अनुप्रासविनोद—सरोज-सर्वेक्षण में यह अनुप्रासमय ३० छन्दों का लघु ग्रन्थ बतलाया गया है। का० ना० प्र० सभा की ई० १९०९ से ११ तक की त्रैवार्षिकी में इसका थोड़ा-सा विवरण भी देखने को मिलता है।[1] इसे पढ़ने पर स्पष्ट होता है कि यह अनुप्रास और उसके भेद-उपभेद सूक्ष्मतः बताने वाला ग्रन्थ है।

अनूप संस्कृत पुस्तकालय में इसकी एक प्रति उपलब्ध है, इसका भी एक संकेत मिलता है।[2] डॉ० दयाशंकर शुक्ल को एल० डी० इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद से इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई।[3] कुलपति का रसरहस्य, सुरति मिश्र का काव्यसिद्धान्त, बिहारी की सटीक सतसई और अनुप्रासविनोद एकही गुटके में संग्रहीत हैं। पृष्ठ का आकार १०.५"×९.४" है और प्रति पृष्ठ पंक्तियाँ ११ तथा हर पंक्ति में ११ शब्द या ३० अक्षर हैं। काली स्याही में मोटे-मोटे अक्षर मैली भूरे रंग के कागज के ऊपर लिखे हैं। गुटके के ६०वें पृष्ठ से 'अनुप्रास-विनोद' का प्रारम्भ हुआ है और ६१वें पन्ने की संख्या न देकर ६२, ६३ दी गई है। यह ग्रन्थ कुल ६ पृष्ठों का है। सरोजकार ने 'अनुप्रास कुल ३० छन्दों का लघु ग्रन्थ है' ऐसा कहा है। लेकिन वस्तुतः डॉ० शुक्ल को उपलब्ध प्रति में कुल ३१ छन्द हैं। इस प्रकार अब इस ग्रन्थ में छन्द-संख्या में १ छन्द की अभिवृद्धि हुई है। प्रति में रचनाकाल नहीं लिखा है। डॉ० शुक्ल ने इसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १८०० के आसपास माना है।

८. काव्यसरोज—इसी दशांगनिरूपक प्रौढ़ रचना के कारण श्रीपति का रीतिकालीन आचार्य कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अन्तर्साक्ष्याधार पर ज्ञात होता है कि इसकी रचना वि० सं० १७७७ के श्रावण मास की कृष्ण पंचमी को बुधवार दिनांक १३ को हुई। अन्तर्साक्ष्य का यह पद्यांश इस प्रकार है—

'संवत् मुनिमुनि ससि सावन सुभ बुधवार।
असित पंचमी को लियो ललित ग्रन्थ अवतार॥

---

१. यहाँ ग्रन्थ का आदि, मध्य, अन्त, लिपि, रचनाकाल, आकार, प्राप्तिस्थान, इत्यादि की जानकारी दी गई है। का० ना० प्र० सभा की रिपोर्ट्स में भी इस रचना की एक प्रति का विवरण दिया गया है।

२. राजस्थान में उपलब्ध हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थ सूची, सम्पादक डॉ० उदयसिंह भटनागर।

३. ईसवी १९७५ की अप्रैल-मई-जून की हिन्दुस्तानी त्रैमासिकी शोधपत्रिका में डॉ० दयाशंकर शुक्ल का अपना लेख—'आचार्य श्रीपति और उनका अनुप्रास ग्रन्थ।'

सुकवि कालपी नगर को द्विजमनि श्रीपति राइ।
जस सम स्वाद जहान को बरनत बुध समुदाइ।।'

इसकी दो प्रतियाँ निम्नलिखित स्थानों पर मिलती हैं—

१. लखनऊ में पंडित कृष्ण बिहारी मिश्र का पुस्तकालय।[१]

२. काशीराज पुस्तकालय (में प्राप्त जीर्ण प्रति)।[२]

काव्यसरोज में कुल १३ अध्याय (जिन्हें दल कहा गया है) हैं, जिनमें प्रत्येक दल में क्रम से काव्यशास्त्र के एक-एक अंग को लक्षण-उदाहरण सहित समझाया गया है। इस रचना में मम्मट के काव्यप्रकाश को आधारभूत मानकर काव्यलक्षण, काव्य के हेतु, काव्य के भेद, शब्दभेद, ध्वनि, शब्द एवं अर्थदोष, गुणवर्णन, अलंकार एवं रसनिरूपण इत्यादि का विवेचन किया गया है। इन्होंने काव्य का प्रस्फुटन शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति और अभ्यास तथा प्रतिभा से माना है:—

'शक्तिनिपुणता लोकमत बितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत हैं ताको ललित प्रकास।।'

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें चतुर्थ से सातवें दल तक में मम्मट और विश्वनाथ के अनुकरण पर असंमत, भाषाच्युत, संदिग्ध, असम्मित, मान इत्यादि शब्ददोष एवं अर्थदोष मानते हुए पूर्ववर्ती प्रसिद्ध हिन्दी रीतिकवि आचार्य केशव, गंग, ब्रह्म, सेनापति इत्यादि की रचनाओं के दोष दिखलाये हैं। 'विनोदाय काव्यसरोज' में भी अनर्थक, पुनरुक्ति, इत्यादि शब्द एवं अर्थदोषों का वर्णन है। इस आधार पर 'विनोदाय काव्यसरोज' काव्यसरोज के शब्द एवं अर्थदोष निरूपक चौथे दल से आरम्भित अंश होगा एवं सातवें दल तक कहीं पूर्ण हुआ होगा, ऐसा लगता है। दल दस से बारह तक में शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार, यह विवेचनक्रम रखते हुए इन्होंने अलंकारों का महत्त्व बतलाया है—

'जदपि दोषबिनु गुनसहित सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै कविता बनिता रूप।"

अलंकारों को इतना महत्त्व देने पर भी इन्होंने रस को उपेक्षणीय गौण नहीं माना है—

'जदपि दोषबिनु गुनसहित अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छवि नहीं रसबिन तदपि प्रबीन।।'

कई विद्वान् श्रीपति को केवल रसवादी, अलंकारवादी अथवा ध्वनिवादी के रूप में एकांगनिरूपक आचार्य मानते हैं। लेकिन काव्यशास्त्र की सर्वांग (पंचांग) निरूपक प्रौढ़ रचना 'काव्यसरोज' के आधार पर इस मत-प्रणाली का खण्डन हो जाता है।

---

१. का० ना० प्र० सभा की ई० १९०९ से ११ तथा ई० १९२६-२८ तक की त्रैवार्षिकी।—द्रष्टव्य है।

२. विश्वभारती पत्रिका, कलकत्ते के जुलाई-सितम्बर १९७० के अंक में (अंक २, खंड ११) श्री रामचन्द्र तिवारी का श्रीपति के काव्यसरोज पर छपा लेख। प्रस्तुत लेख में श्री तिवारी ने काव्यसरोज पर विस्तार से विशेष विचार किया है।

'काव्यसरोज' व्याख्यायुक्त रचनाशैली का सरल, बोधगम्य ग्रन्थ है। इसमें स्पष्ट लक्षण, स्वच्छ उदाहरण, अधिक समीक्षात्मक दृष्टि से निरूपण करनेवाली आलोचनात्मक प्रतिभा, सरस-सुललित साहित्यिक एवं अलंकृत भाषा, विशेष रूप से दिखाई देती है।

निष्कर्ष—श्रीपति के ग्रन्थ और मुक्तकों की श्रेष्ठता न केवल आज के समीक्षक स्वीकारते हैं, उनके कुछएक वर्षों बाद के कविदर्पन के रचयिता ग्वाल,[1] प्रौढ़ आचार्य कवि भिखारीदास,[2] इत्यादि पर भी इनका ऋण और गहरा प्रभाव था। मुक्तकों के उत्कृष्ट अभिव्यंजना-सौन्दर्य के कारण कहा जाता है—

'भावसौन्दर्य सम्पादन एवं सुगठित शब्दविन्यास करने में उस सदी में श्रीपति का ही देव के बाद स्थान था।'[3] और अनुपम कवित्वशक्ति के साथ-साथ इनके प्रौढ़ आचार्यत्व का गौरव भी इन शब्दों में हुआ है—

'अन्त में हमें कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि कवित्व और आचार्यत्व दोनों दृष्टियों से 'काव्यसरोज' अमूल्य रत्न है और काव्य के दशांगों का पूर्ण विवेचन होने से हिन्दी साहित्य के इतिहास में श्रीपति का नाम सदा अमर रहेगा।'[4]

यह गौरव सचमुच तभी सार्थक हो सकता है जब इनकी सभी रचनाओं के हस्तलेख उपलब्ध कराये जायें और उनका सम्पादन-प्रकाशन भी हो।

—दलभंजन कालोनी,
रामकृष्ण परमहंस कालेज के सामने,
ताम्बी विभाग,
उस्मानाबाद (मराठवाड़ा)

---

१. सरोज सर्वेक्षण, डॉ० किशोरीलाल गुप्त, पृष्ठ १५, क्रम २३।

२. द्रष्टव्य १. आचार्य शुक्लकृत हिन्दी साहित्य का इतिहास।

२. डॉ० प्रतापनारायण टंडन कृत हि० सा० का प्रवृत्तिगत इतिहास।

३. पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध का हिंदी साहित्य का इतिहास।

लेकिन भिखारीदास पर रहे इनके प्रभाव के संदर्भ में प्रस्तुत इन मतों का खण्डन भी हुआ है—

द्रष्टव्य—१. डॉ० नारायणदास खन्नाकृत आचार्य भिखारीदास।

२. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद शर्माकृत हिन्दी साहित्य का अतीत २रा भाग।

३. डॉ० भगीरथ मिश्रकृत हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास।

३. हिन्दी भाषा का इतिहास, पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, पृष्ठ ३०६-३०७।

४. हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार ग्रन्थों पर संस्कृत का प्रभाव, डॉ० कुंजलाल जैन,

विविधा

◉ ◉

दक्खिनी हिन्दी के सूरदास—सैयद मीरां हाशमी

डॉ० रहमतउल्लाह

ब्रजभाषा के महाकवि सूरदास के अतिरिक्त दक्खिनी हिन्दी में भी एक सूरदास हो चुका है जिसका नाम सैयद मीरां हाशमी बताया जाता है और जो दक्षिण भारत के आदिलशाही राज्यकाल का प्रसिद्ध कवि था। दक्खिनी हिन्दी का अधिकांश साहित्य इसी राज परिवार के संरक्षण में लिखा गया था। सन् १६८५ ई० में मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब ने इसको मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया और तभी से आदिलशाही शासन का अन्त हो गया। हाशिम को अली आदिलशाह एवं सिकन्दर आदिलशाह का बीजापुर में और अराकाट में मुग़ल सूबेदार ज़ुल्फ़ेकार ख़ाँ का संरक्षण प्राप्त हुआ था। अतः गंभीर राजनीतिक वातावरण और उथल-पुथल के कारण शांतिपूर्वक काव्य-सर्जना का अवसर नहीं मिल सका। फिर भी उसने अपनी काव्य प्रतिभा एवं प्रोत्साहन के कारण महत्वपूर्ण काव्य की रचना की।

अस्तव्यस्त राजनीतिक परिस्थितियों के कारण अधिकांश दक्खिनी हिन्दी का साहित्य विनष्ट हो गया था, जिसके तत्कालीन साहित्य और साहित्यकारों पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ पाता। इसी कारण अन्य प्राचीन कवियों की भाँति हाशमी का जीवन भी अन्धकाराच्छन्न है। उनके नाम, जन्म और मृत्यु आदि के सम्बन्ध में संदेह किया जाता है। इसके लिए अन्तर्साक्ष्य एवं अनुमान का सहारा लिया जाता है।

कवि का वास्तविक नाम—दक्षिण के प्रसिद्ध लेखक श्री इब्राहीम ज़ुबेरी ने अपनी रचना 'बसातीन सलातीन' में और ख़ाफ़ी ख़ाँ ने उनके असली नाम का उल्लेख नहीं किया है। इन विद्वानों ने केवल 'हाशमी' उपनाम का विवरण दिया है। सर्वप्रथम हकीम शम्सुल्लाह क़ादरी साहब ने हाशमी का नाम सैयद मीरां लिखा है। किन्तु लेखक ने जिन पुस्तकों का प्रमाण दिया है, उनमें किसी में भी इसका उल्लेख नहीं है।[1] परवर्ती सभी लेखकों ने इन्हीं का अनुसरण किया है। तत्कालीन तथा आधुनिक परिचय ग्रंथों में भी इसी नाम का समर्थन किया गया है। सन् १९४४ ई० में प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी अदब' में इनका नाम मियां ख़ाँ लिखा हुआ है

---

१. दीवान हाशमी, पृष्ठ १

और अनेक मतभेदों का उल्लेख किया गया है।[1] मोलवी सैयद महमूद ने भी इसी नाम का उल्लेख किया है।[2]

मेंहदवी सम्प्रदाय की बहुत सी कहावतों में हाशमी के सम्बन्ध में अनेक नई बातों का उल्लेख है। इनमें इनका नाम सैयद मीरां बताया गया है। उनकी पदवी मियां खां थी। तारीख सुलेमानी में भी इनका नाम मियां खाँ हाशमी लिखा हुआ है। इसी आधार पर 'हिन्दुस्तानी अदब' में इस नाम का प्रयोग किया गया है। वास्तव में हाशमी न सैयद थे और न पठान। ये सभी उनकी उपाधियाँ थीं। स्वतंत्र रूप से सभी नाम अपूर्ण कहे जा सकते हैं। मेंहदवी सम्प्रदाय के लोगों के नाम के साथ प्रायः इसी प्रकार की उपाधियाँ प्रयुक्त होती हैं। श्री सखावत मिर्जा साहब ने इनका नाम सैयद मीरां हाशमी स्वीकार किया है। दक्खिन में इस प्रकार का नाम रखने की सामान्य प्रथा थी। मेंहदवी लोग मूल नाम के साथ उर्फ भी लगाया करते थे। इस सम्प्रदाय के लोग इनका नाम मियां खाँ हाशमी ही पुकारते हैं।[3] कुछ लोगों ने इनको मुल्ला हाशमी ही लिखा है।[4] किन्तु इसका आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है। किसी अन्य ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

उनका उपनाम 'हाशमी' था। यह नाम उन्होंने अपने पीर की यादगार में रखा था। उनके पीर का नाम सैयद शाह हाशिम था जो बीजापुर के बहुत बड़े सूफी वली और गुजरात के प्रसिद्ध सूफी औलिया शाह वजीहुद्दीन हाशमी के भतीजे थे जिनका अन्तकाल १६८२ ई० में हुआ था इसी मुर्शिद की कृपा तथा पैतृकदाय के रूप में ही उनको काव्य कौशल प्राप्त था।

जन्म तथा मृत्यु तिथियाँ—उनकी जन्म-तिथि अभी तक अज्ञात है। इसका कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार मृत्यु के सम्बन्ध में भी संदेह किया जाता है। अधिकांश आलोचकों ने इनकी मृत्यु सन् १६९७ ई० में स्वीकार किया है। 'तजकिरा शोराए दकन' में इनकी मृत्यु-तिथि १७७६ ई० अंकित है।[5] यह तिथि भ्रम से लिखी गई मालूम पड़ती है। यह वास्तव में १६९७ ई० ही हो सकता है। कवि ने अपने काव्य में पुस्तक का रचना काल १६८७ ई० अंकित किया है। ऐसी स्थिति में मृत्यु १६७६ ई० में होना असम्भव है। ऐसी सम्भावना है कि मसनवी समाप्त करने के दस वर्ष बाद कवि जीवित था। अतः उनकी मृत्यु-तिथि सन् १६९७ ई० ही हो सकती है। 'बुजुर्गान' के लेखक के अनुसार भी यही तिथि सत्य है।[6] श्री नसीरुद्दीन हाशमी, डॉ० सैयद एजाज हुसेन आदि को इस तिथि में संदेह है। मसनवी के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यह उनके जीवन के अंतिम काल में समाप्त हुई थी। उसने

---

१. 'हिन्दुस्तानी अदब' जिल्द ५, नवम्बर १९४४ ई० नं० २, पृष्ठ ४
२. दीवान हाशमी, पृष्ठ २
३. दीवान हाशमी, पृष्ठ ४
४. मसनवी, पृष्ठ ४
५. उर्दू-ए-कदीम, पृष्ठ ११
६. उर्दू शहपारे, भाग १, पृष्ठ ७१

दीर्घकालीन जीवन व्यतीत किया था। अतः मसनवी के दस वर्ष बाद तक जीवित रहना आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार इनकी मृत्यु-तिथि १६९७ ई० में मानी जा सकती है। 'अनवार सुहेली' में इब्राहीम जुबेरी ने भी इसका समर्थन किया है।[1]

निवास स्थान—इस सम्बन्ध में भी मतभेद पाया जाता है। सआदत मिर्जा ने इनको बुरहानपुर का निवासी बताया है। वहीं से वह गुजरात गया था और बाद में बीजापुर आ गया था। इसी कारण वे गुजराती रीतिरिवाजों से भली प्रकार परिचित थे। जीवन के अन्त में बुरहानपुर आ गए थे। यह बात उनके एक कसीदे से भी सिद्ध है।[2] इसमें उसने नवाब जुल्फेकार खाँ का संरक्षित बताया है। मिर्जा साहब की सम्मति का क़तील साहब ने विरोध किया है।[3] गुजरात राज्य के अहमदाबाद और सूरत आदि मेंहदवी सम्प्रदाय की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं। अतः इन स्थानों के महत्व से प्रभावित होकर वे बीजापुर से गुजरात भी जा सकते हैं, क्योंकि मेंहदी लोगों का गुजरात से आध्यात्मिक सम्बन्ध रहता है। अधिकांश लोगों ने उनको बीजापुर का ही निवासी बताया है। बुरहानपुर निवास होने का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। हाशमी के परवर्ती पीढ़ी के लोग दक्षिण के नन्दगाँव पीठ, अमरावती, बरार और हैदराबाद में अब भी निवास करते हैं। 'तारीख सुलेमानी' की सहायता से क़तील साहब ने इसका विस्तार से परिचय दिया है और इनके लम्बे तथा सुखी सम्पन्न परिवार का विवरण दिया है।[4] हाशमी की समाधि बीजापुर में उनके पीर के कक्ष में है।

हाशमी का धर्म—हाशमी के धर्म एवं सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी मतभेद पाया जाता है। बीजापुर और गोलकुंडा के शासक शिया थे। उनके संरक्षण में रहने के कारण उनके स्वयं शिया होने की सम्भावना की जाती है किन्तु वह सूफी औलिया सैयद शाह हाशिम का मुरीद था। अतः उसे सूफी भी माना जाता है। हाशमी ने अपने पीर को भी मेंहदवी बताया है। जीवन के अंतिम दिनों में मुग़ल सूबेदार जुल्फेकार खाँ के संरक्षण में रहने के कारण उसके सुन्नी मुसलमान होने की आशा की जाती है।

स्वयं हाशमी ने अपना धर्म मेंहदवी बताया है। कुछ दिन पूर्व जौनपुर के सैयद मोहम्मद नामक व्यक्ति ने अपने को पैग़म्बरी का दावा किया था और मेंहदवी नाम से एक नया धर्म चलाया था किन्तु उसको विशेष लोकप्रियता नहीं मिली। इसके मानने वाले दक्षिण भारत में अब भी पाए जाते हैं। हैदराबाद में कुछ मुहल्ले ऐसे हैं जहाँ इसी सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। पालनपुर के नवाब मेंहदवी ही थे। आज भी मेंहदवी साहित्य में सैयद मोहम्मद जौनपुरी की घटनाएँ और जीवन सुरक्षित है। वे हिन्दी और गुजराती में कविता करते थे।[5] हाशमी भी इसी धर्म में आस्था रखते थे। निजामी बदायूनी ने इनको शेख अहमद फारूकी

---

१. उर्दू-ए-क़दीम, पृष्ठ ९२
२. दीवान हाशमी, पृष्ठ ६
३. वही, पृष्ठ ८
४. वही, पृष्ठ ८
५. उर्दू की इब्तदाई नश्वोनुमा में सूफियाए कराम का काम, पृष्ठ २५

इन्हें शेख अहमद सरहिन्दी का मुरीद बताया है।[1] अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं मिलता। मेरा-ध्यान यूसुफ-जुलेखा के आरम्भ में हु० मोहम्मद साहब की प्रशंसा के बाद मेंहदवी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सैयद मोहम्मद जौनपुरी का विस्तार से वर्णन करते हुए उनके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। कवि कहता है[2]—

> यूं खातिम वली रब ने पैदा किया—औलिया में तो सारी बड़ाई दिया।
> यूं मेंहदी च सब है पैगम्बर की शान—यू माबूद रब का नहीं है निशान।
> निशानियाँ सो अकलाक वही चाल है—कि सूरत वही हौर वही हाल है।
> निशानियाँ तो फीतियाँ अछी इसमें सब—यू सैयद मोहम्मद है जिसका लकब।
>
> × × ×
>
> नबी हौर मेंहदी कूं एक च पचान—यू एक जात दो रकम आया है जान।
> फर्ज जिसकी तसदीक है करके जान—नकी कुफ इंकार है इसको मान।
> नबी सू रहिया है जिने नक पकर—रहा है वहाँ सख्स मेंहदी सू कर।
> जो कोई सख्स लाया नबी पर ईमान—रह नेक मोमिन हो मेंहदी कूं मान।
> करम करके मेंहदी ऊपर नित सदा—फिकर हौर सलवात दिया है खुदा।
> यूं मेंहदी खलीफा है रहमान का—बयां जिन किया जम पो फुरकान का।
>
> × × ×
>
> जमी और जमा का करे यूं नदा—है मेंहदी का खासा खिलाना खुदा।
> तू आया है मेंहदी इस काम कूं—दिखाया खुदा खास हौर आम कूं।

कवि की उक्ति से उसके धर्म के सम्बन्ध में संदेह नहीं रह जाता।

कृतित्व—हाशमी जन्मान्ध कवि था। इसका संकेत प्रायः सभी चरित लेखकों ने किया है। अन्तर्साक्ष्य से भी स्पष्ट हो जाता है। पीर द्वारा 'यूसुफ जुलेखा' की रचना का आदेश दिए जाने पर हाशमी ने अपनी असमर्थता व्यक्त की क्योंकि इसके पास आँखें नहीं थीं। उन्होंने कहा है[3]—

> सकल इल्म के फन सूं मैं दूर हूँ—यूं दोनों अखियाँ तुज सो माजूर हूँ।
> और बोलना कुच भी पढ़ना पड़े—सुघर है जो क्या हृष के माँदे पड़े।
> मेरे हाथ में कुछ भी होता कलम—न ऐसे दिखाता मैं आलम सूं कम।
> वले क्या करूँ मुजमूं है ला इलाज—हर एक कोई आजिज है अखियाबाज।
> मशक्कत पर मेरी देखो टुक एक—बोलू बीस बतिया तो रहे याद एक।

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि हाशमी की दोनों आँखें नहीं थीं किन्तु उनको दिव्य-दृष्टि प्राप्त थी। इसीका उल्लेख पीर साहब ने किया है—

---

१. कायूसुल मुसाहिर, भाग २, पृष्ठ २८२

२. यूसुफ-जुलेखा-हाशमी-सालारजंग हैदराबाद की प्रति संख्या १९, पृष्ठ १९, २०

३. वही, पृष्ठ ३७१

सिया चाहू हासिम मुझे फिर जवाब—यकीं है मुझे तू जो बोले किताब।
नजर जिसकी चलती है हर ठार पर—इसे क्यों न कहता अखियाँ माजूर कर।
दुरुस्त क्यां तेरा कहे जग सौ सब—हजार एक अखियाँ पिया दिल को रब।
हुई है तेरी बातनी में नजर न को उस आँखों का तू अफसोस कर।
अखियां हैं जो खुदा को ले पछान—अखियां हैं जो खुबी को देखे निशान।

दक्खिनी हिन्दी का यह सूरदास एक प्रतिभासम्पन्न कवि था। और इसने दीर्घकालीन जीवन व्यतीत किया था। उसने विभिन्न राज परिवारों की सहानुभूति और संरक्षता प्राप्त किया था। सभी की प्रशंसा में कुछ न कुछ लिखा था। कविताएँ बड़ी सुन्दर और सीधी-सादी थीं। प्रारंभिक दक्खिनी हिन्दी कविता में उसके साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। आज भी उसकी कविताएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। उसका प्रसिद्ध प्रेमाख्यान यूसुफ-जुलेखा है। जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भारत तथा यूरोप के विविध पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। इससे कवि की लोकप्रियता का पता चल जाता है।

डॉ० सैयद मोहीउद्दीन क़ादरी के अनुसार हाशमी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—[1]

(१) तरजुमा अहसनुल क़सस—पीरजादा गुलाम मुहीउद्दीन ने व्यक्त किया है कि उसने 'अहसनुल क़सस' का अनुवाद करके अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया था। 'बसातीन' के लेखक ने भी इसका उल्लेख किया है किन्तु पुस्तक का नाम 'रोज़ता अशहदार' लिखा है जो आज उपलब्ध नहीं है। वास्तव में उक्त दोनों एक ही रचनाएँ हैं। ये दोनों मसनवी यूसुफ-जुलेखा का ही दूसरा नाम है।[2] गुलाम मोहम्मद खाँ भी इसका विरोध करते हैं और अन्य रचनाओं को मानते हैं।[3] स्वयं हाशमी ने कहा है[4]—

रखा अहसनुल किस्सा रब जिसका नाम—तुजे खोलकर ऊ बोलिया तमाम
तथा—कहा अहसनुल क़सस जिसको खुदा—कता हूँ उसका तुजे इक्तदा।

इस प्रकार कवि ने उक्त रचना को यूसुफ-जुलेखा ही माना है।

(२) ग़ज़ल का दीवान—डॉ० मोहीउद्दीन क़ादरी 'ज़ोर' तथा बसातीन के लेखक ने इसका उल्लेख किया है। ये लोकप्रिय कविताएँ थीं। इसमें क़सीदा और ग़ज़ल के अतिरिक्त क़ता, रूबाइयाँ और कुछ मरसिया भी संग्रहीत हैं। यह बहुत दिनों तक अप्राप्त था किन्तु 'दीवान हाशमी' के नाम से डॉ० हफ़ीज क़तील द्वारा सम्पादित होकर हैदराबाद से प्रकाशित हो गया है।

(३) मरसिया—हाशमी बीजापुरी को प्रारंभिक मरसिया लेखक बताया गया है किन्तु इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। हाशिम अली नाम से दूसरा मरसिया लेखक हुआ है जो हाशमी से भिन्न है। हाशमी की कुछ मरसिया रचनाएँ दीवान में ही संकलित हैं।

---

१. उर्दू शहपारे, भाग १, पृष्ठ ७१, ७२

२. दीवान हाशमी, पृष्ठ १४

३. हिन्दुस्तानी अदब, नवम्बर सन् १९५४, नं० २, पृष्ठ ६

४. यूसुफ-जुलेखा-हाशमी—सालारजंग हैदराबाद की पोथी संख्या ३९, पृष्ठ ३०

(४) रेख्ती कविताएँ—हाशमी को दक्खिनी कवियों में रेख्ती कविता का जनक बताया जाता है किन्तु रेख्ती कविता का कोई स्वतंत्र संग्रह प्राप्त नहीं होता। सैयद एहतेशाम हुसेन इनको रेख्ती जन्मदाता नहीं मानते।[1]

(५) यूसुफ-जुलेखा—यह हाशमी का प्रसिद्ध प्रेमाख्यान है। युसुफ-जुलेखा के सर्वोत्तम आख्यान को दक्खिनी हिन्दी में सबसे पहले हाशमी ने ही पद्यबद्ध किया था। यह दक्खिनी हिन्दी का लोकप्रिय काव्य है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ दक्षिण भारत तथा यूरोप के विविध पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। इससे इसकी लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सालार जंग संग्रहालय हैदराबाद में दो प्रतियाँ, स्टेट सेन्ट्रल लाइब्रेरी हैदराबाद, उस्मानिया विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में बहुमूल्य प्रतियाँ आज भी सुरक्षित हैं। सैयद शमसुल्लाह कादरी के अनुसार जर्मनी की ओरियंटल लाइब्रेरी में इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ विद्यमान हैं।[2] अभी तक इसका सम्पादन नहीं हो सका है और न प्रकाशित ही हो सकी है।

इसकी रचना सन् १६८७ ई० में हुई थी। रचना के अन्त में कवि ने कहा है कि इसकी रचना १०९९ हिजरी में हुई थी।[3]

मुरत्तब किया मैं यूं किस्सा कूँ तो—हजार बरस पर जो थे नौवत पो नौ।

यह एक विशालकाय काव्य है। शेरों की संख्या में भी मतभेद है किन्तु कवि ने उनकी संख्या ५१०७ बताई है—

अगर कोई पत्तों का पूछे सुमार—एक सद ऐसे सात हैं पंज हजार।

काव्य के प्रणयन की प्रेरणा अपने मुर्शिद से प्राप्त की थी। उन्हीं की आज्ञा पर इसकी रचना की थी। उन्होंने शुद्ध दकनी में इसकी रचना करने का आदेश दिया था—

तेरे शेर दकनी का है जग में नाव—नको भोत कर दूसरी बोली मिलाव।
अव्वल कस्द कर दकनी बोली उपर—मुझे यूँ च हाशिम कहा सर बसर।
दिया शाह हाशिम को मैं यूँ जवाब—मुझे कां सकत है जो बोलूं किताब।

इसका आधार कोई फारसी प्रेमाख्यान है। अन्त में पाठक को मंगल सूचना देते हुए इसे दिल से पढ़ने का सुझाव दिया गया है—

मेरा शेर जिव रख सुनेगा जने—मेरे हक़ पर ईमान मगेगा उने।

—प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
शिबली नेशनल स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, आजमगढ़।

⊙

---

१. उर्दू साहित्य का इतिहास—सै० एहतेशाम हुसेन, पृष्ठ ४४

२. उर्दू शहपारे, भाग १, पृष्ठ ७२

३. यूसुफ-जुलेखा, स्टेट सेन्ट्रल लाइब्रेरी हैदराबाद की प्रति, पृष्ठ २४४।

क्या कौरवी, खड़ी बोली की जन्मदात्री है?

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

टेढ़ी खीर

हिन्दी, जिस खड़ी बोली का परिष्कृत रूप है वह स्वयं किस जनपद की मूल बोली है और उसके विकास का स्रोत क्या है? यह अभी भी विवाद का विषय है। एक मत है कि वह कुरु जनपद की बोली है। रेख्ता और ब्रज के अर्थों (क्रमशः गिरी हुई। मधुर के विपरीत) के प्रचलन में आने पर उसे खड़ी बोली कहा गया। दूसरा मत है कि वह अपभ्रंश से निकली। तीसरा मत है कि वह पूर्वी पंजाबी दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की बोलियों के मिश्रण का परिनिष्ठित रूप है। इन मतों को देखते हुए खड़ी बोली की क्षेत्रीय पहिचान और विकास स्रोत का सही पता लगाना, सचमुच टेढ़ी खीर है।

डॉ० तिवारी का घोल

कौरवी बोली खड़ी बोली को जन्म क्यों नहीं दे सकती, इसका विचार आगे किया जाएगा। पर यह कहना ठीक नहीं कि रेख्ता या ब्रज की तत्कालीन विशेष स्थितियों (क्रमशः गिरी पड़ी हुई या मधुर) के कारण उक्त बोली को खड़ी (उठी हुई या खरी) कहा गया। यह सोचा भी नहीं जा सकता कि जिस बोली में राष्ट्रभाषा बनने की सम्भावना छिपी हो, वह अपना नाम, दूसरी बोलियों के नामों के आधार पर रखेगी। कौरवी से खड़ी बोली का विकास मानने वालों की संख्या बहुत बड़ी है। उनके मत में थोड़ा सुधार करते हुए डॉ० अम्बाप्रसाद का कहना है कि खड़ी बोली के दो रूप हैं। (१) जनपदीय खड़ी बोली (कौरवी) और (२) साहित्यिक खड़ी बोली, (हिन्दी)। लेकिन प्रश्न यह है कि कौरवी को खड़ी बोली कहने की आवश्यकता क्यों हुई? तीसरा मत डॉ० भोलानाथ तिवारी का है। सचमुच यह उनकी अनोखी खोज मानी जाएगी कि खड़ी बोली—कई बोलियों के मिश्रण का परिनिष्ठित रूप है। इस घोल (मिश्रण, जो डॉ० तिवारी ने तैयार किया है) में पूर्वी पंजाबी है, परन्तु जब वह हिन्दी-समूह की बोलियों में नहीं है, इसी तरह पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ उसके घोल में नहीं हैं, परन्तु वे हिन्दी की बोलियाँ हैं? क्या कई समकालीन बोलियों को मिला देने से नई भाषा का घोल बन सकता है?

कौरवी और खड़ी बोली

कौरवी से खड़ी बोली का विकास मान लेने पर भी प्रश्न उठता है कि कौरवी का विकास किस भाषा से हुआ? डॉ० सुमन का कहना है कि, "शौरसेनी अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती और ब्रज का विकास हुआ।" प्रश्न है कि पंजाबी, हरियाणी और जनपदीय खड़ी बोली (कौरवी) का विकास किस अपभ्रंश से हुआ? अर्थात् कौरवी से खड़ी बोली का विकास मानते हुए भी उसके ऐतिहासिक स्रोत का पता लगाना जरूरी है? जिस प्रकार किसी व्यापक भाषा का क्षेत्रीय आधार होता है, उसी प्रकार क्षेत्रीय बोली का भी एक ऐतिहासिक आधार होता है? डॉ० सुमन की मुख्य आपत्ति यह है कि अपभ्रंश उकारांत है और खड़ी बोली आकारांत। अपभ्रंश में क्रिया के सामान्य वर्तमान में जाइ करइ आदि रूप

चलते हैं जबकि खड़ी बोली में जाता है करता है, जो कौरवी के जाता है 'आता है' आदि क्रिया रूपों के निकट है, अतः खड़ी बोली का विकास अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता। लेकिन आकारांत प्रकृति, कौरवी की तरह पंजाबी और हरियानी में भी है। दूसरे हरियानी में जहाँ 'आवै सूं खावै सूं' रूप होते हैं, वहाँ कौरवी में आवै है, खावै है, रूप होते हैं। अपभ्रंश इसकी जगह शुद्ध क्रिया का प्रयोग करती है। पंजाबी में 'वह-जान्दा है' प्रयोग है। इन उदाहरणों से सिद्ध है कि कौरवी से खड़ी बोली का विकास मानने में वे ही आपत्तियाँ हैं, जो अपभ्रंश से मानने में हैं। क्योंकि खड़ी बोली की कुछ विशेषताएँ यदि पंजाबी में मिलती हैं तो कुछ हरियानी और कौरवी में, कुछ ब्रज और पूर्वी हिन्दी में। इसी कारण डॉ० भोलानाथ को यह मानने के लिए विवश होना पड़ा कि हिन्दी कई भाषाओं का घोल है, और जो झगड़ा खोज का परिणाम है।

विचारणीय प्रश्न

सोचना यह चाहिए कि खड़ी बोली यदि कौरवी ही थी, तो स्व० ग्रियर्सन को उसे खड़ी बोली कहने की क्या आवश्यकता थी? उनके समूचे भाषा सर्वेक्षण में 'खड़ी बोली' ही ऐसी बोली है कि जो अपने नाम का संस्कार, किसी क्षेत्र विशेष के आधार पर नहीं करती। सबसे पहिले खड़ी बोली शब्द का प्रयोग करते हुए, लल्लूलाल ने लिखा था (१८०४ ई०)। "जिसका सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली और आगरा की खड़ी बोली में कह प्रेम सागर नाम धरा।" इससे स्पष्ट है कि उनकी खड़ी बोली ब्रज से मिश्रित है। और असम्भव नहीं कि दूसरी बोलियों के मिश्रण से खड़ी बोली के कई रूप प्रचलित रहे हों, क्योंकि वह एक व्यापक बोली थी। उसका एक रूप यामिनी से प्रभावित था। लल्लूलाल के समय लोक में खड़ी बोली शब्द प्रचलित था और दूसरी बोलियों से भेद बताने के लिए ही उन्होंने उसे खड़ी बोली कहा। सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की यामिनी मुक्त ठेठ भाषा (खड़ी बोली) को गिलक्राइस्ट ने जो हिन्दुस्तानी नाम दिया, वह उसकी व्यापकता का संकेत देने के लिए।

खड़ी शब्द की व्युत्पत्ति

खड़ी, खड़ा विशेषण शब्द का स्त्रीलिंग है। खड़ा का विकास, संस्कृत स्थान धातु से हुआ। स्थान से ठान ठाण ठाड़ व्युत्पत्ति होती है जो सरल है। विशेष रूप में यह शब्द, ब्रज से लेकर समूची हिन्दी भाषा समूह में प्रयुक्त है। गुजराती राजस्थानी और भीली में इसके लिए उभा शब्द आता है। जो संस्कृत ऊर्ध्व से बना विशेषण है। इन दोनों (ठाड़ और उभा) की जगह पंजाबी हरियानी और खड़ी बोली में 'खड़ा' शब्द प्रयुक्त है। अतः उसका विकास किसी प्राचीन शब्द से होना चाहिए। जो 'स्थान' शब्द ही हो सकता है। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार 'स्था' का 'ख' में परिवर्तन होकर स्थाणु का खाणु हो जाता है, जिससे आगे चलकर खूँटा शब्द बना। अतः स्थान से खान खाण खणा (वर्ण व्यत्यय) खड़ा की व्युत्पत्ति सरल है। खड़ा का अर्थ है, उठा हुआ स्थित स्थापित या ठहरा हुआ। खड़ी बोली अर्थात् 'स्थापित बोली'। स्थापित तो क्षेत्रीय बोलियाँ भी हैं और प्रान्तीय भाषाएँ भी। पर खड़ी बोली वह बोली है जो क्षेत्रीयता की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक व्यापक रूप में स्थापित बोली है। दूसरे शब्दों में, उसमें आर्यभाषा का दाय सबसे अधिक है।

अपभ्रंश खड़ी बोली

अभी तक ऐतिहासिक आर्यभाषा (विशेषतः अपभ्रंश) से खड़ी बोली के विकास के सम्बन्ध को ऊपरी तौर पर ही देखा गया है। जबकि दोनों का सम्बन्ध गहरा है। अपभ्रंश, भरतमुनि के समय उकार बहुला थी, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र के समय, वह आकारबहुला हो चुकी थी। 'भल्ला हुआ जो मारिआ' में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। शौरसेनी प्राकृत की ओकारांत और अपभ्रंश की उकारांत या आकारांत प्रकृतियाँ वास्तव में संस्कृत के विसर्गान्त रामः के रामु रामो रामा के रूप के विकार हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि खड़ी बोली में आकारांत प्रकृति पुल्लिंग तद्भव शब्दों में ही है जैसे लड़का, घोड़ा इत्यादि। लेकिन उसके प्रभाव से समूची हिन्दी क्रिया आकारांत हो उठी, जैसे लड़का जाता है। इसका कारण हिन्दी क्रिया का विकास कृदन्त क्रिया से होना है। अपभ्रंश में 'एह ते घोड़ा' में आकारांत प्रकृति है। उसके सामान्य भूत में गय, किय, मुअ, आदि मध्यगत के लोप वाले रूप होते हैं परन्तु कृदंत में मध्यग 'त' सुरक्षित है।

जैसे— "धाइया खरी
उल्ललंतिया
वहि मिलंतिया
उवरि एंतिया
घाउ देंतिया," महापुराण ८५।११

गधी दौड़ी, उछलती, आकाश में मिलती ऊपर आती और आघात करती
अब इसे इंशा अल्ला खाँ द्वारा रचित रानी केतकी की भाषा से मिलाइए—
सौ लचके खातियाँ आतियाँ जातियाँ ठहरातियाँ फिरातियाँ थीं॥

खड़ी बोली में इसका अनुवाद होगा 'लचक खाती हुई, आती हुई इत्यादि। पुष्पदंत और इंशाअल्ला की भाषा में काल बोध कृदंत में जुड़ा हुआ है परन्तु खड़ी बोली में वह सहायक क्रिया द्वारा व्यक्त किया जाता है। अपभ्रंश में मेरा मेरी तेरा तेरी आदि, सम्बन्ध सर्वनाम मिलते हैं—

"लइ लइ लच्छि विलास लक्खणउ
मंति मा करहि, काइं मुहुं जोवहि
मेरइ करइ तेरी सुय ढोहय"। ८५।३१

लो लो, लक्ष्मी विलास से सुन्दर यह पुत्र (कृष्ण) इसमें सन्देह मत करो, मेरा मुँह क्या देखते हो मेरे हाथ में तुम्हारी कन्या दे दो।"

जनजीवन आधार

इससे सिद्ध है कि अपभ्रंश काव्य भाषा होने के पहिले, बोलचाल और गद्य की भाषा थी। यह भ्रम, यूरोपीय पंडितों द्वारा जानबूझकर फैलाया गया भ्रम है कि अपभ्रंश काव्य की भाषा थी, बोलचाल या जन-जीवन की नहीं। यह देखकर दुःख होता है कि कुछ भारतीय विद्वान आज भी इस भ्रम के शिकार हैं। साहित्यिक अपभ्रंश में तद्भव शब्द की उकारांत ओकारांत और आकारांत तीनों प्रकृतियाँ मिलती हैं। चूँकि उसका विकास महाराष्ट्री प्राकृत

की आधार भूमि पर हुआ। इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश नाम की कोई स्वतन्त्र अपभ्रंश नहीं थी। यह होते हुए भी ध्वनियों के उच्चारण की क्षेत्रीय प्रवृत्तियाँ जल्दी नहीं बदलतीं। ब्रज राजस्थानी और गुजराती भाषाएँ, अपभ्रंश की ओकारांत प्रकृति से प्रभावित हैं, जबकि पंजाबी हरियानवी और खड़ी बोली, आकारांत प्रकृति से। अतः खड़ी बोली जनपदीय आधार, उस अपभ्रंश को मानना अधिक तर्क संगत है कि जो पंजाबी हरियानी और कौरवी के भूभाग में प्रचलित थी। खड़ी बोली, अपभ्रंश के बिखरे हुए वैकल्पिक क्षेत्रीय प्रयोगों को नियंत्रित करती है, वह समान व्यंजनों के द्वित्व की प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं करती, ध्वनि परिवर्तन में एकदम आगे बढ़कर, 'शब्द' को पूर्ण विकसित रूप में स्वीकार करती है। वह ह्रस्वादेशकर्मणि प्रयोग, क्रिया में ल से अंत होने वाली धातुओं का प्रयोग, और तत्सम शब्दों की परम्परागत वर्तनी को स्वीकार करती है। इस अर्थ में वह संस्कृत की ओर मुड़ती है।

अध्ययन की ऐतिहासिक आवश्यकता

सोचने की बात है कि यदि खड़ी बोली कौरवी से उत्पन्न होती और उसका अपभ्रंश से सम्बन्ध न होता तो आठ सौ वर्ष पूर्व लिखी गई (वह भी हैदराबाद के पास) भाषा में तेरा मेरा जैसे शब्दों की उपस्थिति कैसे सम्भव थी। डॉ० अम्बाप्रसाद ने कौरवी के जो घोयड़ी रूपइया रायत टिग्या आदि शब्द गिनाए हैं, वे (क्रमशः घोड़ी रुपया रात और टिग गया) के प्राकृत उच्चारण हैं, वास्तव में कौरवी खड़ी बोली का एक क्षेत्रीय रूप है। अपभ्रंश और हिन्दी ही ऐसी भाषाएँ हैं कि जो सामान्यभूत में भू धातु के हुई हुआ, रूपों को ही मान्यता देती हैं। अतः जनपदीय कौरवी से खड़ी बोली का विकास मानना, उसे बहुत सीमित कर क्षेत्रीय बोली का दर्जा देना है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय संस्कृति की तरह भारतीय भाषाओं में गहरी आंतरिक एकता है। और हिन्दी इस एकता के केन्द्र में है। यही उसका स्थापित होना है। उसकी उत्पत्ति तथा कथित कौरवी से दिखाना, राष्ट्र की भाषा की जड़ें काटना है। अतः खड़ी बोली न तो कौरवी से निकली है, और न वह कई भाषाओं के घोल का मिश्रण है। वस्तुतः वह आर्यभाषा की उन केन्द्रीय प्रवृत्तियों से विकसित भाषा है, जो अपभ्रंश की वियोगात्मक भूमिका में से होकर हमें प्राप्त हुई। जब तक १२वीं सदी से १८वीं सदी तक के हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त शब्दों और रूपों का विवरणात्मक इतिहास तैयार नहीं होता तब तक उसका सही विश्लेषण कर ऐसा प्रतिमान स्थापित नहीं किया जा सकता जो उसकी अनेकरूपता और स्खलनों को नियंत्रित करे कि जो उसकी सबसे बड़ी ऐतिहासिक आवश्यकता है।

—११४, उषा नगर,
इन्दौर–२ (म० प्र०)

⊙

मराठों के राजकाज में हिन्दी

डॉ० रामबाबू शर्मा

राजपूत सल्तनत तथा मुगल शासकों की भाँति मराठों के शासकों की राजभाषा हिन्दी ही थी। अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ जब मराठों ने मालवा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, बुन्देलखंड के शासन में हिस्सा प्राप्त किया, राजस्थान और पंजाब पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्न प्रारंभ किये और उत्तर भारत में हरिद्वार, प्रयाग, काशी, गया आदि तीर्थों में अपना प्रभाव और शासन स्थापित कर लिया तब उनका सम्पर्क व्यापक रूप से उत्तर के नरेशों, अधिकारियों, व्यापारियों और किसानों के साथ स्थापित हुआ। ऐसी स्थिति में प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए, इन मराठा राजाओं, पेशवाओं और सरदारों को अपने प्रशासन की व्यापकता के साथ-साथ हिन्दी को अपने राज-काज की भाषा बनाना पड़ा।

मराठा शासकों का दैनिक राजकाज हिन्दी भाषा के माध्यम से संचालित होता था। राजकाज से सम्बद्ध अनेकानेक प्रमाणपत्र, निर्देश, राजनीतिक और आर्थिक समझौते, संधिपत्र, किसानों से वसूल की गई रकमों की रसीदें एवं अन्यान्य प्रकार के पत्र हिन्दी में ही लिखे जाते थे। इन शासकों के राजकाज से सम्बद्ध सैकड़ों प्रलेख राज्य अभिलेखागार, बीकानेर; पेशवा दफ्तर, पूना तथा राष्ट्रीय अभिलेखागार, दिल्ली से प्राप्त हुए हैं। जिनका सम्पादन डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० केलकर ने किया है। इन पत्रों के अध्ययन से हिन्दी के तत्कालीन समाज, संस्कृति, इतिहास, धर्म, राजनीति आदि पर जो प्रभाव पड़ा उसकी विराट जानकारी प्राप्त होती है। मराठा प्रशासन में राजकाज चलाने के लिए हिन्दी वाक्यांशों, उपवाक्यों का प्रयोग होता था वे तत्कालीन सरल-सुलभ लोक-प्रचलित संक्षिप्त तथा अर्थपूर्ण भाषा में होते थे। इन वाक्यांशों के प्रयोग से यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि जनभाषा ही राजभाषा के स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकती है तथा राजभाषा के प्रयोग में तथा उन व्यक्तियों का बराबर ध्यान रखना पड़ता है जिनके लिये वह भाषा प्रयोग में लाई जा रही हो। इस सम्बन्ध में मराठा दस्तावेजों से उद्धृत कतिपय वाक्यांश देखिए—

(१) 'ये काम खातर सकुजी भोंसले पठाया है'

(२) 'संकुजी भोंसले कहे सो प्रमान करना' (सं० १८४९)

(३) 'सनधिलिपि दही श्री महाराजा श्री राजा बहादर मारी चकर जी की सरकार तें' (अठारवीं शती के हिन्दी पत्र डॉ० केलकर)

(४) 'आज्ञा पत्र पवत श्री बाजी राजमुख प्रधान बचनास पटेल मौजे उजुपुर'

(५) 'अग्रज फौज का मुकाम नजीक आया है तो तुम खातर जमा से मीलने कु आवजा'

(६) 'अब यहां परीक की निस्तबंदी करी है'

(७) 'तहसील करके खजाना नरसिंहपुर पहुंचाके'

इन सुरक्षा, अर्थ, कृषि, आदेश-सन्देश, सूचना, राजस्व आदि से संबद्ध वाक्यांशों से थोड़े में बहुत कहने की उक्ति स्पष्ट रूप से चरितार्थ होती है। इस प्रकार के हजारों उपवाक्य

इन प्रलेखों में देखे जा सकते हैं जो वर्तमान राजभाषा हिन्दी के आधुनिक सन्दर्भ में पारिभाषिक शब्दावली का कार्य कर सकते हैं।

मराठा अभिलेखों में प्रशासन से सम्बद्ध विभिन्न विभागों की पारिभाषिक शब्दावली प्राप्त होती है। यह वह लोकप्रचलित शब्दावली है जो हमारे जन-जीवन में आत्मसात् हो गई है तथा इस शब्दावली का प्रयोग हमारे असंख्य किसानों, मजदूरों, व्यापारियों और विद्वानों के द्वारा आज भी उनके दैनिक व्यवहार में यथावत होता है। इस शब्दावली की जानकारी से हमारी पारिभाषिक शब्दावली सम्बन्धी समस्या का समाधान आंशिक रूप से अवश्य हो सकता है तथा हमारे कुछ सरकारी कर्मचारियों तथा अधिकारियों के मन में हिन्दी के प्रति जो एक निराशात्मक दृष्टिकोण बन गया है उसका समाधान सरलता से हो सकता है। वे जैसे ही इस परिचित पारिभाषिक शब्दावली को पढ़ेंगे उन्हें ऐसा प्रतीत होगा मानो वे राजभाषा हिन्दी से बहुत पहले से परिचित थे और ऐसी स्थिति में हिन्दी में काम करना उनके लिए एक रुचिकर कार्य होगा। उदाहरणार्थ मराठों के विभिन्न विभागों से सम्बद्ध कतिपय पारिभाषिक शब्द देखिए :

कतिपय अधिकारियों के नाम

अमीन, कानुगो, किलेदार, जमातदार, दीवान, पोहरदार, महाराजा, युदराज्य, कामदार, खुफिया नवीस, पंडितराव, मुख प्रधान, कारकून, गुमास्त चौकीदार, पातसाहि, राऊ राजा, जासूस, सेवेदार, पंतप्रधान, सरदार, महारानि, जेठे सरदार।

शासन व्यवस्था सम्बन्धी

अर्ज, आग्या, चाकरी, तैनात, दरबार, फरमाना, मनसूबा, मुकदमा, अखतयार, करार, बचन, कैद, डाक, दफतर, नजराना, परवाना, भेंट, मुखत्यारी, दफतरदीवानी, राजकाज।

भूमि तथा राजस्व सम्बन्धी

आबादी, कस्बा, खालसी, इनामी, जागा, पठारी, तहसील, गिर्द-बख्सी, खडी चुकावना, जमाबासिल, जागीर, जिमीदारी, परगना, पेशकसी, खरीद की किस्तबंदी, फसल, हवेली, हीसा, बीघे, हुंडी, महसुल, चुंगी, हासल।

सेना तथा युद्ध सम्बन्धी

असवार, काम आना, खुफिया, चौकी पहारा, छापा, जखमी, जोरावरी, आक्रमण, मैदान, गोली, धीराव, डेरा, फौजसीबंदी (मिलीटरी एसटैबलिशमेन्ट) लसकर, बेमरजाद, तोपखाना, बदंबस्त, संरक्षण, हंगामा, हदपार, सेना।

अर्थ सम्बन्धी

कीमत, उधार, नकद, बयाज, तोरा (टूट), कर्ज, जमा, दर, रिन, (ऋण), हुंडी, खजाना, मुद्रा, रोक, हिसेब, रुपा, पैसा।

राजकाज सम्बन्धी इन मराठा हिन्दी दस्तावेजों में पारिभाषिक शब्दावली ही नहीं, अपितु ऐसे असंख्य मुहावरे भी पाये जाते हैं जो प्रशासन सम्बन्धी विभिन्न विभागों से सम्बद्ध हैं। इन मुहावरों के माध्यम से जटिल से जटिल विषयों को सरल बनाने तथा सरल और संक्षिप्त ढंग से बहुत कुछ कह देने की प्रवृत्ति का पता लगता है। ये मुहावरे केवल हिन्दी के

ही नहीं, अपितु निकटवर्ती अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के भी तत्कालीन हिन्दी भाषा में आत्मसात् हो गए हैं। अस्तु, हमें इस राजकाज सम्बन्धी मुहावरों को हृदयंगम करना चाहिए तथा इनके द्वारा अपनी वर्तमान राजभाषा हिन्दी को अधिक समृद्ध, सक्षम और सशक्त बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ :

प्रशासन सम्बन्धी कतिपय मुहावरे

मोर्चा उठावा, ठिकाना, नजर न आना, अमल बहाल करना, माथीपर शामल करना, तहस नहस करना, अपने करना (सम्बन्ध सुधारना), चरन देखना, बाँह पकड़ना, हजुरि पहुँचाना, चरित्र देखते रहना, संकल्प सिद्ध होना, चाकरी में रामसरण होना।

मराठी से प्रभावित मुहावरे

चौकसी करना (तलाशी करना), फौज पर चाल करना (आक्रमण करना), मढ़ीसर करना (अधिकार कर लेना), घोड़े चलाना (घुड़सवारों के दस्ते से आक्रमण करना), गर्द न करना (क्षमा न करना)।

मुगल प्रशासकों की भाँति ही मराठा प्रशासकों के यहाँ से भी भिन्न प्रकार के पत्रों का प्रयोग किया जाता था। इन पत्रों में टिप, सनदि, आज्ञा पत्र, कबज, याददास्ति, अर्जदास्ति, रुक्का, जमावासिल, कावजा, कबुलीअति एवं रसीद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। टिप आधुनिक टिप्पणी का ही नाम था। यद्यपि इस पत्र का प्रयोग विविध विषयों के लिये किया जाता था तथापि मराठा कालीन प्राप्त सामग्री के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस पत्र का प्रयोग विशेषकर आर्थिक विषयों के लिए ही किया जाता था।

इसी प्रकार मराठा कालीन सनदि, आज्ञापत्र, कबज अर्जदास्ति, यादवास्ति, जमा वासिल, कबुलीअति रसीद एवं नकल क्रमशः वर्तमान प्रमाणपत्र कार्यालय आदेश, अधिकार पत्र, प्रार्थना पत्र, स्मरण पत्र, जमा तथा वसूली पत्र, स्वीकृति पत्र, पावती तथा प्रतिलिपि के प्रयुक्त होते थे। यथा

'टिप लिष देइ पं० श्री पंडित प्रधान जू एते श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा हिन्दू पति देवजूने लिषि दे रुपैया ६०००१) रुपैयो साठी हजार एक फागुन के महिना में हजुर पुना में पहुँचाइ देह संवत् १८८० साके।

(१) १६५१ (१६२५) विजय नाम संवत्सरे कार्तिक सुदि ७ शुके लिपितं हुवे वेणी हुसेन' (अठारहवीं शती के हिन्दी पत्र—डॉ० केलकर पत्र ३५३)

(२) 'सनदि लिषि दही श्री महाराजा श्री राजा बहादर'
'नारो शंकरजी की सरकार तें'

(३) 'आज्ञा पत्र पंडत श्री बाजीराव मुष प्रधान क्वनात...'

(४) 'कबज लीष दयो सरकार श्री बाजीराव मुष प्रधान मारफत श्री गोविंदजी बाबद उठ रुपये...'

(५) याददास्ति मतालिक हरि प्रसाद साहूकार या माधि कायम श्रीमंत नाम्हा साहिब जी की पत्र मुहहर सो कराई देनी'

उदाहरण :

(६) 'श्रीमंत राज्य श्री राव साहिब जु के हजुर जाहिर होइ येते अर्जदास्ति सेवक तरफदार मुलाजी दास केनि बांचने'

(७) 'नकल लिखितयी राज श्री पंडित गनपति राजबु करे एते मीचे मलुका के म्हुते आसाराम म्हुते रामचंद म्हुते, दिमान म्हुते सभाराम मे देवें'

(८) 'नकल रसीद राजश्री पंडित कसनाजी गोविंद ऐते श्रमहंत गोवर्धन पुरी जी के आसीर्वचनं वंच्याने'

(९) "श्री रामजू"
कबुली बलि लिखि दई श्री महाराजा श्री राजा बहादुर श्री नाना साहिब जी की सिरकार मो जेबीदार सौ० सुकिलि हाती के श्री श्रीजा पानसे करि देहि।

मराठा शासकों के इन राजकीय हिन्दी पत्रों की लेखन पद्धति परम्परागत थी। इन पत्रों के प्रारंभ में सरकारी मुहर, '१' का अंक मंगलसूचक शब्द पत्र का प्रकार तथा नकल अथवा चीठी लिखा जाता था। ये मुहरें प्रायः गोलाकार होती थीं तथा इनके मध्य में सम्बद्ध प्रशासक एवं राज्य का नाम होता था। न्याय सम्बन्धी पत्रों की मुहरों में सम्बद्ध न्यायालय का प्रकार, स्थान का नाम, उसकी संख्या, एवं स्थिति आदि अंकित किये जाते थे। '१' का अंक एकमेव ब्रह्म का प्रतीक होता था। तत्पश्चात् 'श्री लक्ष्मी कांत' 'राम' आदि मंगल वाचक शब्दों का प्रयोग होता था। इसी क्रम में पत्र का नाम, 'ली०' अथवा 'लिखतंग' प्रापक के सम्मान में 'राजमान्ये' 'राजाश्री' श्री 'श्री बड़ासाहेब' 'गरीबप्रवर' 'राजश्री पंडीत दीवान' 'सवकजन धुरंधर श्री मुख्य प्रधान' अभिवादन के लिये सलामत, सलमति, आसिर्वाद वाचन्ये 'राम राम' 'निमसकार' दंडौत आदि कुशल क्षेम सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के वाक्यांश राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा शिकायत आदि सम्बन्धी मुख्य विषय एवं पत्र के अन्त में शिष्टाचार एवं नम्रता सम्बन्धी वाक्यांश, मिती तथा तारीख, तथा स्थान का नाम, पत्र का प्रकार तथा प्रेषक का नाम और सही निशानी एवं प्रेषक के हस्ताक्षर आदि लिखने की पद्धति थी।

राजकाज सम्बन्धी इन हिन्दी अभिलेखों में विभिन्न विभागों से सम्बद्ध शब्दावली पाई जाती है। इस शब्दावली के स्रोत, संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, मराठी, अरबी, फारसी बुन्देलखंडी एवं ब्रजभाषा आदि हैं। यथा मुद्रा, समय (सं०), एक्क हत्थि, हत्थ (प्राकृत) अठासु डीलापधारयों, मोकला (राजस्थानी) अन्यान्य मोहरा, बाजू, सभासमे (मराठी) अमलदार, जमीन, सूबेदार, (फा०) धरती, भंडार हैं।

मराठा शासकों की राजभाषा हिन्दी में वर्तनी सम्बन्धी उदारता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। ये वर्तनी सम्बन्धी परिवर्तन, तत्सम अथवा तद्भव शब्दों में ही नहीं अपितु विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से ग्रहण किये गये शब्दों में भी हैं। राजभाषा हिन्दी की उच्चारण एवं वर्तनी सम्बन्धी यह अनुकूलता ही हिन्दी की विकासात्मक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है। जन जीवन से रस ग्रहण करने के कारण इन ध्वनियों में सजीवता एवं सरलता व्यापकता तथा अनुकूलता है। यथा—फीरोयाद, हात, हजुर, ईनक, येजी (अर्जी), दिवान (दीवान),

वजीरात (ज्यादा), हुकीमत (हकीकत), सुपरद (सुपुर्द), दीआ (दिया), हुकम (हुकुम), कलकतर (कलक्टर), दसखत (दस्तखत), मीसातर (मिस्टर), जमा (जमा), गिरफ्तार (गिरफ्तार)।

अस्तु इन अभिलेखों में वर्तमान 'आ' के स्थान पर 'ई', ह्रस्व 'इ' के स्थान पर दीर्घ 'ई', 'थ' के स्थान पर 'त', 'ब' के स्थान पर 'अ', र का संप्रसारण, पूर्व स्वर पर रेफ का प्रयोग, तालव्य 'श' के स्थान पर दन्त्य 'स', 'ओ' के स्थान पर 'व', 'ब' के स्थान पर 'व', 'व' के स्थान पर 'म' आदि ध्वनियों के प्रयोग की प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस प्रकार मराठा प्रशासन में हिन्दी भाषा में ताम्र पत्र लिखने, मराठी से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने, विभिन्न विभागों से सम्बद्ध राजकाज चलाने, क्षेत्रीय तथा अखिल भारतीय स्तर पर सम्बन्ध सुधारने तथा स्थापित करने, राजनीतिक समझौते करने एवं सेना, अर्थ प्रशासन, कृषि आदि कार्यों के संचालन करने में हिन्दी भाषा का ही प्रयोग होता था। इन सैकड़ों प्राचीन अभिलेखों से यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी प्राचीन काल से केन्द्र तथा हिन्दी भाषी राज्यों के शासकों के अतिरिक्त अखिल भारतीय सन्दर्भ में अहिन्दी भाषी शासकों के प्रशासन की भाषा भी रही है। अस्तु, हिन्दी भाषा के राजकाज में प्रयोग की एक प्राचीन एवं गौरवशाली परम्परा रही है।

—सी० II/५३७, जनकपुरी,
नयी दिल्ली-५८

⊙

'प्रेम' और मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-काव्य

कामिनी उप्पल, एम० ए०

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत 'प्रेम' शब्द का प्रायः अभाव ही है, और जहाँ 'प्रेम' शब्द का प्रयोग हुआ भी है वहाँ वह 'काम' शब्द के अर्थ में हुआ है, जिससे 'कामना' का अभाव प्रकट होता है। यदि व्याकरण की दृष्टि से देखें तो 'प्रियस्यभावः' को प्रेम कहा जा सकता है। प्रिय को 'प्र' आदेश करने से, 'इमनिच्' प्रत्यय लगाने पर इससे 'प्रेम' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इसका प्रयोग भावपरक होने के कारण यह 'प्रसन्नता' के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। इसके अनुसार इसका प्रयोग साधनपरक होने के कारण इसका अर्थ 'प्रसन्न करने वाला' भी हो सकता है। विभिन्न कोशों में इसी प्रकार के अर्थ लिये गये हैं। अमरकोश में कहा गया है—'प्रेम तु प्रियता हार्दम् स्नेहः।'[1] वाचस्पति कोश में—'सौहार्दे स्नेहे हर्षे' कहा गया है।[2]

---

१. अमर कोश—१।७।२७।

२. वाचस्पत्यम् (कोश) पृष्ठ ५४०।

अन्य कोशों में लगभग इसी अर्थ को लिया गया है।[1] नारदभक्ति-सूत्र, हरिभक्ति-रसामृत सिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में दार्शनिकों, साधकों तथा आलोचकों ने अपने-अपने विचारानुसार प्रेम की परिभाषाएँ दी हैं।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने 'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' कह कर अनुकूल विषयों के प्रति मानसिक आसक्ति को रति कहा है। वास्तव में प्रेम का मूल आधार रति है। अनुकूल विषय के प्रति जब आसक्ति हृदय को द्रवित कर प्रगाढ़ हो जाती है तो वह 'प्रेम' कहलाने लगती है।[3] इसमें स्वार्थ का अभाव, सम्पूर्ण आत्मत्याग और तन्मयता की पराकाष्ठा रहती है। 'अनन्तभावों और अनन्त रूपों में नित्यक्रीड़ा करने वाला यह प्रेम ही परात्पर तत्व है। इस प्रेम को रस संज्ञा देकर 'रसो वै सः' आदि श्रुतिपरक वाक्यों द्वारा भी समझा जा सकता है। अर्थात् रसरूप भगवान और परात्पर प्रेमतत्व में तात्विक भेद नहीं है। यह प्रेम सहज और असीम होने के कारण नित्य माना जाता है।'[4] वास्तव में प्रेम की व्यापक महत्ता के कारण साहित्य में इसका सर्वाधिक महत्व है।' 'एकोऽहम् बहुस्याम्' में भी यही भाव निहित है और सृष्टि का विकास भी इसी से होता है।

प्रेम का महत्व अनेक विद्वानों और भक्त कवियों ने बतलाया है। जिस शरीर में प्रेम प्रकट हो जाता है वह अजर-अमर हो जाता है। 'नारद भक्ति-सूत्र' में नारद ने भक्ति को 'प्रेम स्वरूपा' और 'अमृत स्वरूपा' कहा है।[5] नारद के अनुसार भक्ति को इस रूप में अपना लेने पर मनुष्य सिद्ध, अमर एवं तृप्त हो जाता है।[6] नारद ने प्रेम की कोई परिभाषा नहीं दी है। बस केवल प्रेम स्वरूप को 'मूकास्वादनवत्' तथा अनिर्वचनीय कह कर रह गये हैं।[7] उनके अनुसार प्रेम अपने पात्र में किसी कामना या गुण की अपेक्षा नहीं करता। यह प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है।[8] बहुत से आधुनिक लेखकों ने इसे केवल स्थूल यौन सम्बन्ध माना है। फ्रायड ने तो प्रत्येक भावपरक सम्बन्ध को ही यौन-सम्बन्धी प्रेम पर आश्रित माना है।

वास्तव में प्रेम एक सामाजिक महत्व का भाव मात्र नहीं है, वरन् वह आध्यात्मिक

---

१. लव्, अफेक्शन, फेवर, काइंडनेस, ज्वाय, डीलाइट—आप्टेज संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ११३९।

२. चिंतामणि—रामचन्द्र शुक्ल, फिलासफी आव् सेक्स—एलोल्ड, साइंस आव इमोशन्स—डा० भगवानदास आदि।

३. सम्यङ् मसृण स्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।—हरिभक्तिरसामृत सिंधु, पृ० १०७।

४. राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य—विजयेन्द्र स्नातक, प्रथम संस्करण पृ० १३३।

५. नारद भक्ति-सूत्र (२ एवं ३)।

६. वही (४)।

७. वही (५१ एवं ५२)।

८. वही (५३ एवं ५४)।

भी है। मध्ययुगीन भक्त कवियों ने इस प्रेम भाव को भक्ति भाव का एक महत्वपूर्ण अंग माना है। मध्ययुगीन स्वच्छन्द प्रेम साधना के अन्तर्गत तो इसे भक्ति की अंतिम परिणति माना गया है। जब प्रेम की उच्छृंखलता लौकिक रूप का परित्याग कर आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित हो जाय तभी वह प्रेम स्वच्छन्द-प्रेम-साधना के अन्तर्गत आ जाता है। लौकिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में उन्नयन हो जाता है। यह तभी संभव है जब लौकिक प्रेम पारमार्थिक प्रेम का रूप धारण कर ले। प्रेम 'व्यष्टि' (व्यक्ति) से 'समष्टि' की ओर पहुँच जाता है और वह अध्यात्म रस की प्राप्ति कराता है, जिसकी प्यास कभी बुझती नहीं। व्यष्टि एवं समष्टि के बीच सामंजस्य की स्थापना तभी हो सकती है जब काडवेल के शब्दों में यह स्वीकार कर लिया जाय—'व्यक्ति समाज से प्रत्यक्षतः विपरीत जाता जान पड़ने पर भी उसे भीतर से अनुप्राणित किया करता है और समाज भी स्वयं अपने आन्तरिक विकास के आधार पर अब व्यक्तित्व का निर्माण करता रहता है।'[1]

पद्मपुराण में गोपी, राधा और कृष्ण के इसी अलौकिक स्वच्छन्द प्रेम का वर्णन इस प्रकार है—कृष्ण सदेह सच्चिदानन्द आनन्दघन स्वरूप में दिखाई पड़ते हैं। राधा उनकी पराशक्ति हैं। गोपियाँ उनकी सखी-सहेली, सहचरी और दूती हैं। पराशक्ति रसघन के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनसे मिलने को व्याकुल होती है। ये सखियाँ चित्तवृत्तियाँ हैं, जो देहधारिणी बनी हैं। ये चित्तवृत्तियाँ इस परमात्मा से पराशक्ति को मिलाने वाली हैं। इन चित्तवृत्तियों (भावनाओं) को उस श्यामसुन्दर से स्वतः एकीकरण की अभिलाषा नहीं होती। ये तो आत्म-पराशक्ति को घनश्याम ब्रह्मशक्ति से जोड़ने में उससे अधिक आनन्द पाती हैं, जितना स्वतः पराशक्ति को आनन्दघन के साथ एकाकार होने के समय होता है। ये पवित्र भावनाएँ जीवात्मा का साथ तभी कर पाती हैं जब उनमें नितान्त निर्मलता आ जाती है। यद्यपि राधिका नित्य हैं, गोपियाँ नित्य हैं, किन्तु वासना के निवारण होने पर दृष्टिगोचर होती हैं।[2]

प्रेम-साधना में लीन भक्त की स्थिति निराली ही हो जाती है। उसे सांसारिक प्रयोजनों और प्रपंचों से कुछ भी लगाव नहीं रहता। उसका हृदय सदैव प्रेम से ही ओत-प्रोत रहता है, और इसी कारण वह अपने भीतर एक विशेष प्रकार का आनन्द अनुभव करता है। वह

---

१. स्टडी इन ए डाइंग कल्चर (करेंट बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स)
पृ० ८७—क्रिस्टोफर काडवेल।

२. इमा तु मत्प्रिया विद्धि राधिका परदेवताम्।
अस्याश्च परितः पश्चात् सख्यः शतसहस्रशः॥
नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्य विग्रहः।
सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम॥
सर्वमेतन्नित्यमेव, चिदानन्द रसात्मकम्।
इदमानन्द कन्दारव्यं विद्धि वृन्दावनं मम॥
—पद्मपुराण, पाताल खण्ड—७३-७५।

किसी भी प्रकार के अनुशासन को महत्व नहीं देता और प्रेमोन्मत्त रहता है। वह निर्विकार भाव से स्वच्छन्द अवस्था में प्रेम का पवित्र प्राण रहता है। लोक वेद की दृष्टि से उसका व्यवहार अमर्यादित कहा जा सकता है, पर वह तो वास्तव में इस लोक के प्रपंचों से इतना ऊपर उठ चुका होता है कि उसे लोक-व्यवहार का ध्यान ही नहीं रहता। इस सम्बन्ध में डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने लिखा है—"लोकपक्ष में जिसे हम शृङ्गार रस कहते हैं, भक्ति पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है।....सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभन से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से ओतप्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसलिए संयोग-वियोग—दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एकरूप है।"[1] इस सम्बन्ध में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी लगभग समान विचार व्यक्त किये हैं—"जड़-जगत् में जो सबसे नीची है, वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृङ्गार-रस, जो जड़-जगत् में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृङ्गार होने पर मधुर रस हो जाता है।"[2] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने शुद्ध प्रेम की व्याख्या इस प्रकार की है—"शुद्ध प्रेम की प्रवृत्ति सदा स्वच्छन्द रह कर ही प्रवाहित होना चाहती है, वह किसी संयम व मर्यादा के अंकुश की कमी सहन नहीं कर पाती।"[3] डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि व्यक्तिगत मानव और शाश्वत मानव की दो भिन्न-भिन्न अन्वितियाँ मानी जा सकती हैं। जिनमें से शाश्वत मानव में पूर्णता भावनात्मक रूप में सदा निहित रहती है और वही व्यक्तिगत मानव को अपने प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करने तथा तद्रूप होने के लिए निरन्तर प्रेरित भी करती रहती है।[4] वास्तव में स्वच्छन्द प्रेम-साधना में 'स्व' और 'पर' का भेद पूर्णतः समाप्त हो जाता है। वह व्यक्ति से उठ कर समष्टि को प्राप्त कर लेता है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य गोस्वामी हित हरिवंश ने राधाकृष्ण के वर्णन में प्रेम-साधना की गम्भीरता और तन्मयता को बहुत सुन्दर रूप में प्रकट किया है। उनके अनुसार प्रेम किसी अन्य बात का विचार मन में नहीं आने देता। कृष्ण और राधा दोनों का ही प्रेम अत्यधिक गम्भीर है। कृष्ण ही यह जानते हैं कि प्रेम का निभाना किस प्रकार का होता है। सारे विश्व के भूषण स्वरूप होते हुए भी उन्हें क्या आवश्यकता थी कि स्वयं को केवल किसी मानिनी की एक मुस्कान भर के लिए ही इतना दीन बना डालते हैं—

> प्रीति की रीति रंगीलोइ जानै।
> जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि, दीन अपनपौ मानै।[5]

---

१. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० २४५, चतुर्थ संस्करण।

२. मध्यकालीन धर्म-साधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २५२-५३।

३. हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण, पृ० ८।

४. दि रेलिजन आव मैन (मानव धर्म)—रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ० १६।

५. श्री हित चतुरासी सेवक वाणी, पृ० ३२।

श्रीकृष्ण की प्रिया राधिका की स्वच्छन्द प्रेम-साधना भी कृष्ण से कम नहीं है। राधा का कहना है कि—

> जोई-जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै,
> भावै मोहि जोई जोई सोई करै प्यारे।
> मोको तो भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
> प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे॥१॥
>
> × × ×
>
> श्रीहित हरिवंश हंस हंसनी साँवल गौर।
> कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे॥२॥[1]

सच्चे प्रेमी और प्रेमिका का यही आदर्श है। स्वच्छन्द प्रेम-साधना का यही स्वरूप है। कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि ये श्याम और गौर कांति वाले हंस एवं हंसिनी के समान हैं, जिन्हें जल और तरंग के समान ही कोई अलग नहीं कर सकता।

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति काव्य में ऐसे ही स्वच्छन्द प्रेम को गोपियों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवि जो अष्टछाप के अन्तर्गत आते हैं उनकी भक्ति स्त्री-भाव की ही थी। वैसे वात्सल्य और सखाभाव की भक्ति भी इन्हीं की विशेषता है। परन्तु माधुर्य भक्ति का सबसे अधिक तन्मयतापूर्ण रूप दिखाई देता है। श्रीकृष्ण की प्रेमिका गोपियाँ विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकार की थीं। ये गोपियाँ परकीया की श्रेणी में ही आती हैं किन्तु कहीं-कहीं अष्टछाप के कवियों ने उन्हें इस प्रकार चित्रित किया है कि वे स्वकीया-सी प्रतीत होती हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण के आधार पर राधा-कृष्ण का विवाह भी वर्णित किया गया है। —

> देत भाँवरि कुंज मंडप पुलिन में वेदी रची।
> बैठे जु श्यामा श्यामवर त्रैलोक की शोभा सची॥[2]

अष्टछाप के कवियों में सूरदास का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। सूरदास ने प्रेम के अनेक रूपों का चित्रण किया है। राधा के साथ तो कृष्ण का प्रेम बाल्यपन से ही क्रमशः बढ़ता हुआ दिखाया गया है। सूर ने बालपन में राधा-कृष्ण के खेल आदि का वर्णन किया है। फिर धीरे-धीरे खेल-खेल में ही अपना प्रेम-सम्बन्ध बढ़ाते हैं। राधा कृष्ण के घर भी आने लगती है और माता यशोदा उसके प्रति स्नेह प्रदर्शित करते हुए उसकी चोटी गूँथ देती हैं, कभी नई ओढ़नी उढ़ा देती हैं और स्वादिष्ट व्यंजन आदि भी खाने को देती हैं। कृष्ण और राधा का प्रेम घर और बाहर पल्लवित होता जाता है। हास-परिहास और छेड़-छाड़ भी आरम्भ हो जाती है। अन्य गोपियाँ भी इसमें भाग लेने लगती हैं। तत्पश्चात् दानलीला, चीरहरण लीला आदि लीलाओं में प्रेम विकसित होता जाता है और परिणामतः राधा और गोपियों का प्रेम अलौकिकता का स्पर्श करने लगता है और वे प्रेम में इतनी अनुरक्त

---

१. श्री हित चतुराशी सेवक वाणी, पृष्ठ १।
२. सूरसागर—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, पृ० ३४३।

हो जाती हैं कि अपनी सुध-बुध भी भूल जाती हैं। गोपियाँ सभी परकीया हैं। वैष्णव कवियों ने अपने भगवत्प्रेम को प्रकट करने और प्रेम की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए 'परकीया प्रेम'[1] को आदर्श मान कर अपनाया है। भावावेगों की तीव्रता, पूर्वराग, प्रेम की पूर्णता तथा नित्य नवीनता आदि की दृष्टि से भी परकीया प्रेम स्वकीया प्रेम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। विरह और मान के द्वारा वह परकीया प्रेम और भी तीव्रता को प्राप्त होता है। प्रेम में विरह का अत्यधिक महत्व है। विरह की अग्नि में तप कर प्रेम स्वर्ण की भाँति शुद्ध हो उठता है।

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का विवेचन हुआ है। परन्तु सूरदास ने दसवीं प्रेम-स्वरूपा भक्ति के अन्तर्गत माधुर्य भाव की भक्ति को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। सूर की अलौकिक मधुर भक्ति के अन्तर्गत औचित्य और अनौचित्य का भाव नहीं रह जाता। इसमें स्वकीया और परकीया दोनों ही भावों की रति रहती है। सूर द्वारा वर्णित दान-लीला, रास-लीला और चीरहरणलीला में आत्मसमर्पण और अनन्य भाव दिखाई देता है जो मधुर भक्ति के लिए आवश्यक है। सूर का विरह संयोग से भी अधिक उज्ज्वल और प्रबल है। यह वियोग वर्णन दो रूपों में हुआ है, एक तो 'भ्रमरगीत' के रूप में और दूसरे साधारण रूप में। दोनों ही रूपों में गोपियों के प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई देती है। इस वर्णन में विरह से उद्बुद्ध अनेक भावों और अन्तर्दशाओं के चित्र अंकित हैं। भ्रमरगीत के अवसर पर 'मन में रह्यो नाहिन ठौर', 'ऊधो मन माने की बात' आदि कहला कर प्रियतम के प्रति तल्लीनता की तीव्रता को प्रकट करते हैं। प्रकृति के सारे पदार्थ गोपियों को काटने को दौड़ते हैं। गोपियों का स्वच्छन्द प्रेम लोक मर्यादा से परे अलौकिक धरातल पर आधारित है। वास्तव में जब सांसारिकता से भिन्न अलौकिक मधुरा रति स्थायीभाव, अनन्त सौन्दर्य-रसानन्द स्वरूप ईश्वर-रूपी आलंबन विभाव को प्राप्त कर लेती है तो वह विभिन्न अनुभावों जैसे रोमांच, अश्रुपात तथा संचारी भावों जैसे हर्ष, आवेग, औत्सुक्य के माध्यम से मधुर भक्ति में परिणत हो जाती है। यह अलौकिक मधुर रस अत्यधिक चमत्कारिक तथा लोकोत्तर होता है। भागवतकार ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—"तुम्हारे साक्षात्करण आह्लाद के विशुद्ध समुद्र में स्थित होने के कारण मुझे समस्त सुख गोपद समान प्रतीत होते हैं।" सूर के अनुसार राधा और गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम अलौकिक है। साथ ही वे स्वयं भी अलौकिक हैं। एक पद में सूर राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष कहते हैं। वे दोनों एक हैं और अभिन्न हैं।[2]

---

१. रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः॥
—उज्ज्वल नीलमणि, हरिवल्लभ प्रकरण, पृ० ५२।

२. ब्रजहि बसे आपहु बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानौ बातनि भेद करायो।
जल थल जहाँ रहो तुम बिन नहिं भेद उपनिषद् गायो।
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारण उपजायो॥
—सूरसागर—दशम स्कन्ध, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, पृ० २६२।

सूर ने राधा को भगवान की जगत्-उत्पादिका शक्ति भी कहा है और कृष्ण-भक्ति प्राप्त करने के लिए वे शक्ति-स्वरूपा राधा की वन्दना भी करते हैं।[1]

परमानन्द की गोपी भी अपने अलौकिक स्वच्छन्द प्रेम को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए कहती है—

मैं तो प्रीति स्याम सों कीनी।
कोई निन्दो कोऊ बंदो अब तो यह कर दीनी।
जो पतिव्रत तो या ढोटा सों इन्हें समर्प्यौ देह।
जो व्यभिचार नंद-नन्दन सों बाढ़्यौ अधिक स्नेह।
जो व्रत गह्यो सो और न भायो मर्यादा को भंग।
परमानन्द लाल गिरधर को पायो मोटो संग॥[2]

सूर के समान ही परमानन्ददास ने भी राधा की प्रशंसा की है। वे राधा के चरणों को कृष्ण-वियोग-रूप-सागर के तारने के लिए नौका के समान कहते हैं।[3]

अष्टछाप के कवियों ने राधा को पूर्वा स्वकीया नायिका के रूप में वर्णित किया है और गोपियों का प्रेम अलौकिक होने के कारण अत्यधिक शुद्ध है। परमानन्ददास जी इन गोपियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—'गोपियाँ अत्यन्त पुनीत आत्माएँ हैं। बहुत उच्च वर्ण की यद्यपि वे नहीं हैं परन्तु ब्राह्मणों से भी अधिक पूजनीय हैं। जिस ब्राह्मण ने हरि की सेवा नहीं की वह ब्राह्मण घर में जन्म लेने से ही उच्च नहीं हो जाता।'[4]

नन्ददास ने भी स्वच्छन्द प्रेम-साधना का महत्व स्पष्ट करते हुए 'उपपति-रस' पर बल दिया है। यों तो यह उपपति-रस एक विवाहिता का किसी पर-पुरुष के प्रति आकृष्ट होने के कारण पूर्णरूप से निन्दनीय और हेय समझा जा सकता था। परन्तु नन्ददास का यह प्रेम किसी लौकिक पुरुष के संदर्भ में नहीं वरन् अलौकिक 'कुंवर कन्हाई' से है, अतः वह भक्ति

---

१. राग सारंग
नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन पै दमकत है दामिनि।
× × ×
जगतनि की गति भक्तन की पति श्रीराधा पति मंगल दानी।
× × ×
कृष्ण भक्ति दीजै श्रीराधे सूरदास बलिहारी।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ३४५-४८।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयाल गुप्त, पृ० ६२८ पर उद्धृत।

३. धनि यह राधिका के चरण।
—परमानन्ददास संग्रह—दीनदयाल गुप्त, पद १३४।

४. परमानन्ददास पद-संग्रह—दीनदयाल गुप्त, पद सं० २७९।

के बीच में स्वच्छन्द प्रेम-साधना की गरिमा से युक्त है। रूप-मंजरी को उसकी सखी इन्दुमती इसी रस के प्रयोग द्वारा सुखी बनाना चाहती है। वह कहती है—

रसनि में जो उपजति रस जाही। रस की अवधि कहत कवि ताही।
सो रस जो या कुंवरिहि होई। तौ हौं निरखि जिऊं सुख होई।[1]

× × ×

घर अंबर ससि सूरज तारे। सर सरिता साइर गिरियारे।
हम तुम अरु सब लोग लुगाई। रचना तिन ही देव बनाई॥[2]

नन्ददास की रूपमंजरी ऐसे प्रियतम के प्रति अनुरक्त होकर किसी सामाजिक बंधन या कलंक की भागी नहीं होती। स्वप्न में भी रूपमंजरी को अपने 'नवल किशोर' के आसपास की 'द्रुम-बेलियों' तक अपने 'गीत' सी प्रतीत होती है।[3] जिससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम का मूल आत्मीय है। वास्तव में रूपमंजरी को अपने लौकिक पति से विरक्ति हो जाती है और वह 'उस' अलौकिक को अपनाने के लिए व्याकुल हो उठती है जो परब्रह्म है और स्वच्छन्द प्रेम-साधना का मूल है। नन्ददास ने इसे और भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा है—

जदपि अगम ते अगम अति, निगम कहत हैं जाहि।
तदपि रंगीले प्रेम ते, निपट निकट प्रभु आहि॥[4]

अष्टछाप के अन्य कवि कृष्णदास ने भी प्रेम के अलौकिकत्व को स्वीकारा है और उन्होंने जहाँ भी श्रीकृष्ण का वर्णन किया है, उन्हें युगल रूप में देखा है। उनके अनुसार 'राधा और कृष्ण—दोनों रसमय हैं, उनके अंग-अंग रस के बने हुए हैं और इस युगल रस को रसिक जन ही पहिचान पाते हैं। कृष्णदास को इस उभयपक्षीय प्रेम या रति की न्योछावर मिल रही है।'[5] कुम्भनदास प्रेममूर्ति युगल किशोर के उपासक थे। उन्होंने केवल कृष्ण की रसवती लीलाओं का ही चित्रण किया है। चतुर्भुजदास ने एक गोपी द्वारा कहलाया है कि 'कृष्ण रसनिधि और रसिक हैं और वे रस ही से रीझते हैं, जो 'रहस' कर उनको हृदय से लगाता है वह रस रूप कृष्ण की रसता में मिल जाता है।'[6] यहाँ ब्रह्म की रसता में मिलने के भाव से

---

१. नन्ददास ग्रंथावली (ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित), पृ० १२४-२५।
२. वही, पृ० १३७।
३. वही, पृ० १२७।
४. वही पृ० १४३।
५. रसिकन राधा रस भीनी।
मोहन रसिक लाल गिरधर पिय, अपने कण्ठ मनि कीनी।
रसमय अंग अंग रस रस मय, रसिकता चीन्हीं।
उभय स्वरूप की रति न्योछावरि, कृष्णदास को दीन्हीं।
—कृष्णदास पद संग्रह—दीनदयाल गुप्त, पद सं० ५९।
६. 'रस ही में बस कीने कुंवर कन्हाई।'
—चतुर्भुजदास पद संग्रह—दीनदयाल गुप्त—पद सं० ११९।

अद्वैत के भाव को ही व्यक्त किया गया है। चतुर्भुजदास के अनुसार भी श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और राधा उनकी आनन्द-शक्ति हैं। राधा और कृष्ण की युगल उपासना भी इन्होंने की है। अष्टछाप के कवि गोविन्दस्वामी भी नंदनन्दन कृष्ण और उनकी सहचरी राधा—दोनों को एकरूप मानते हैं।[1] दोनों को एक रूप मान कर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। छीतस्वामी एक पद में गोपी बन कर कहते हैं—'मैं अपने आगे-पीछे, इधर-उधर सर्वत्र कृष्ण ही देखती हूँ और सबको कृष्णमय पाती हूँ।'[2]

अष्टछाप के कवियों में मुख्यतया सूरदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास ने ही मधुरा भक्ति द्वारा प्रेम के महत्व को व्यक्त किया है। अन्य अष्टछापी कवियों ने यद्यपि विस्तृत वर्णन नहीं किया है परन्तु प्रेम के महत्व को स्वीकारा है। वास्तव में नारद ने इस भक्ति को 'परम-प्रेम-रूपा' और 'अमृत-स्वरूपा'[3] कहा है तथा शाण्डिल्य ने जिस भक्ति को ईश्वर में 'परमानुरक्ति' कहा वही मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य रूप में राधा और गोपियों के माध्यम से व्यक्त की गयी।

मध्ययुगीन कृष्णभक्त कवियों ने ईश्वरोन्मुख प्रेम को ही स्वार्थ से रहित माना है। इस ईश्वरीय प्रेम में किसी प्रकार का भय नहीं रहता, क्योंकि इसका आधार पूर्ण आत्मसमर्पण होता है। इसमें किसी भी प्रकार का छल, कपट, द्वेष और हृदय की मलिनता नहीं रहती। ऐसा प्रेमी निष्पाप और निर्वैरी हो जाता है।[4] इसीलिए गोपियों का स्वच्छन्द प्रेम ऐसा है जिसमें 'काम' का लेशमात्र नहीं है और वह इतनी ऊँचाई पर पहुँचा हुआ है कि उसमें फिर लोक-मर्यादा का भय भी नहीं रह जाता।

'मध्यकालीन भक्तों का आदर्श गोपीभाव न केवल 'कामगंधहीन' अपितु कामना-रहित अथवा अहैतुक भी बताया जाता है। उसमें अपने प्रेमास्पद के प्रति सर्वथा 'अर्पितमनोबुद्धि' तथा 'अर्पिताखिल आचार' तक हो जाना पड़ता है जिससे वैसा प्रेमी जड़-यंत्रवत् बन जाता था और उसका अन्तिम लक्ष्य अपने परोक्ष प्रेमपात्र द्वारा अपना लिया जाना अथवा पूर्णतः उसका हो जाना मात्र था।'[5] प्रेम-भाव में उदाहरण का भी अत्यधिक महत्व है। काम और शारीरिकता से दूर होने के कारण प्रेमी यदि अपने प्रेमपात्र से वियुक्त भी हो जाता है तो भी उसे प्रिय की स्मृति सदैव आनन्दविभोर किये रहती है। मध्यकालीन प्रेम की सबसे उत्कृष्ट अवस्था वही है जहाँ भक्त अपने भगवान् को कान्ताभाव से अपनाता है। इसीलिए कान्ता-

---

१. नन्दलाल लय नाचत, नवलकिसोरी।—गोविन्दस्वामी पद संग्रह—दीनदयाल गुप्त, पद सं० १५९।

२. आगे कृष्ण, पाछे कृष्ण, इत कृष्ण, उत कृष्ण जित देखों तित कृष्ण ही माई री।
—छीतस्वामी पद-संग्रह—दीनदयाल गुप्त, पृ० सं० ४९।

३. नारद भक्ति-सूत्र—२ और ३।

४. ह्यूमन अपील्स एण्ड डिवाइन लव (कलकत्ता), पृ० ७-३५।

५. मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण १९५२ ई०, पृ० १८०।

साथ में सब बोलियाँ स्वच्छन्द रूप से निर्विकार होकर अपने अर्थों में अपनी जगह बना रही हैं।

—१. ए० हैमिल्टन रोड, प्रयाग

◎

लोरिक का काल-निर्णय

डॉ० अर्जुनदास केसरी

काल-निर्णय की समस्या भारतीय साहित्य में एक और जटिल समस्या है। लोक-नायक लोरिक का नाम लोक-विश्रुत है। लोक साहित्य में, लोकगाथाओं के क्रम में, 'लोरिकायन' या 'लोरिकी' सबसे बड़ी गाथा है। लोरिक 'लोरिकी' का नायक है। वह जाति का अहीर है और अहीर जाति वीरता के लिए सदा से ख्यात रही है।

अहीर की उत्पत्ति आभीर से हुई है।[1] यह आरंभ से ही लड़ाकू जाति रही है। लोरिक भी एक महान् वीर था। उसकी वीरता का वर्णन 'लोरिकी' या 'लोरिकायन' में विस्तार से किया गया है।[2] लोरिक शब्द अपने आप में स्वयं वीरता का प्रतीक हो गया है। गाँवों में भी जब किसी की वीरता का बखान करना होता है तो लोग सामान्यतया कह दिया करते हैं—'तुम लोरिक हो।'

अब प्रश्न यह उठता है कि लोरिक का समय क्या है। अनेक विद्वान् लोरिक को मध्यकाल (१२वीं सदी के बाद से सन् १४०४ ई० तक) का मानते हैं।[3] किन्तु डॉ० राम-कुमार वर्मा ने लिखा है—'यह राजा भोज का समय था। उन्हीं के नाम पर भोजपुरी प्रदेश बना। लोरिक अहीर था उसकी वंशावली भी राजा भोज से मिलती-जुलती है। लोरिकायन पंवारा काव्य है। पंवारों के वंश में (१०६७-११०७) तक राजा भोज हुए।'[4] उन्होंने आगे लिखा है कि ईसा की तीसरी शताब्दी में अपभ्रंश आभीर आदि निम्न जातियों की भाषा का नाम

---

१. आर्कोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, खण्ड आठ, पृष्ठ ७९। हिन्दी शब्द सागर, पृ० ७५।

२. इन पंक्तियों के लेखक ने मीरजापुर की मौखिक परम्परा से लोरिकी का लगभग ५०० पृष्ठों का संग्रह किया है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना के लोक भाषा अनुसंधान विभाग की ओर से भी इसका संग्रह किया गया है। इसके अलावा ठाकुर प्रसाद बुकसेलर, वाराणसी ने लोरिकी कथा कई खण्डों में प्रकाशित की है। डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय ने लंदन वि० वि० से इस पर कार्य किया है।

३. 'भोजपुरी के कवि और काव्य' दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५।

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ६१।

थइ जो सिंध और उसकी पंजाब में बोली जाती थी।[१] इस तरह लोरिक का समय तेरहवीं शताब्दी अपने आप सिद्ध हो जाता है। क्योंकि किसी भी व्यक्ति के ख्यात होने में पर्याप्त समय लग जाता है। यह सम्भव है कि लोरिक बहुत पहले हो चुका हो और उसकी वीरता पर काव्य की रचना भी बहुत बाद में हुई हो।

दुर्गा शंकर प्रसाद सिंह 'लोरिकायन' (भोजपुरी) का रचना-काल १३७० मानते हैं।[२] यद्यपि वे कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। मौलाना दाऊद ने 'चंदायन' की रचना प्रबन्ध सूफी प्रेम-काव्य के रूप में की। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उसका संग्रह एवं सम्पादन किया। उन्होंने अलबदायूनी के इस लेख का समर्थन किया है कि सन् ७७२ हि० (१३७० ईस्वी) में खानेजहाँ, जो फिरोजशाह का प्रधान मंत्री था, मर गया और उसका लड़का जूनाशाह (या जौनाशाह) उसके पद पर नियुक्त हुआ। 'चंदायन' जो हिन्दी की एक मसनवी है और लोरिक तथा चांदा के प्रेम का वर्णन करती है, उसके लिए मौलाना दाऊद द्वारा रची गयी थी।[३]

अगरचन्द नाहटा ने 'मिश्रबन्धु विनोद' की कुछ भूलों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा था कि मौलाना दाऊद की इस रचना की तिथि ७८१ हि० है जो १४३१ वि० होती है और यह लिखते हुए उन्होंने उसकी एक प्रति से कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत की थीं।[४]

यदि यह तिथि मान भी ली जाय तो इससे लोरिक के काल का पता नहीं चलता। सम्भव है, इसके पूर्व भी लोरिक की कथा-गाथा लोक-कंठ के माध्यम से लोक-प्रचलित रही हो। मौलाना दाऊद कृत 'चंदायन' का ही अधिकतर विद्वानों ने आधार ग्रहण किया है, जब कि मौलाना दाऊद की यह रचना लिखित संस्करण है। मौखिक संस्करण लिखित से अधिक पुराना तथा प्रामाणिक होता है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने उसकी रचना तिथि ७७९ स्वीकार की है।[५]

'मन्तखब उत् तवारीख' में चंदायन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे केवल इतना ही पता लगता है कि उसकी रचना ७७२ हि० (१३७० ई०) के पश्चात् किसी समय हुई थी। बीकानेर की प्रति में उक्त तिथि में भिन्नता पाई जाती है। उसमें उपर्युक्त कड़वक इस प्रकार उद्धृत है—

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ४०।

२. भोजपुरी के कवि और काव्य, पृष्ठ ४।

३. एस० एच० अस्करी, रेयर फ्रेगमेंट्स आफ चंदायन एण्ड मृगावती, पृष्ठ ७।

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, अंक १, पृष्ठ ४२, कड़वक १७। उद्धृत संपादन डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ, ३ से।

५. "बरस सात सौ हुतै उन्यासी। तहिया यह कवि सरस अभासी।"

भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग से प्रकाशित हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड में लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राध्यापक त्रिलोकीनाथ दीक्षित से प्राप्त 'चंदायन' के चार कड़वक उद्धृत किये हैं, पृ० २५० पाद टिप्पणी २।

"बरस सात से होइ इक्यासी। तिहि जाह कवि सरसेउ भासी।"[1]

इस तरह लोरिक के समय की कोई निश्चित तिथि का पता नहीं चलता। अनेक विद्वानों ने तो लोरिक के समय पर विचार ही नहीं किया है। कुछ ने 'लोरिकायन' या 'चंदायन' के समय पर विचार किया है लोरिक के नहीं। लोरिक से संबंधित प्रथम रचना कौन थी? उस रचना का समय क्या था? इस पर बहुत कम विचार हुआ है। कुछ विद्वानों ने (मुख्यत: डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त) विचार भी किया है तो मौलाना दाऊद कृत 'चंदायन' के रचना-काल पर ही विचार किया है। डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने इसे मध्यकाल की रचना कह कर छोड़ दिया है तथा लिखा है कि लोरिक की वीरता आल्हा आदि की मध्ययुगीन वीरता है जिसमें विवाह और उसके लिए युद्ध, शृङ्गार तथा वीरता का चित्रण हुआ करता था। लोरिक ने भी तीन विवाह किये और उसी के बहाने उस समय के अनेक युद्धों का वर्णन किया।[2]

वास्तव में, लोरिकी लोकगाथा है। भारतीय तथा पाश्चात्य पण्डितों—डॉ० राजेन्द्र लाल मित्र, मैक्समूलर, वेबर तथा बरनाफ के अनुसार गाथा संस्कृत तथा पालि के बीच की भाषा है। डॉ० उदय नारायण तिवारी के अनुसार गाथा की भाषा न तो विशुद्ध संस्कृत है और न प्राकृत ही, अपितु इसमें इन दोनों का विचित्र समन्वय हुआ है।[3] यह अपभ्रंश के अधिक निकट है। अत: इसका समय भी साहित्यिक प्राकृतों का समय माना जा सकता है। साहित्यिक प्राकृतों का समय ई० पू० २०० से २०० ई० तक माना गया है। अत: लोरिक का समय भी इसी के आधार पर उसके ही आसपास मानना समीचीन हो सकता है। किन्तु लोरिक का समय जानने के लिए लोरिकी के अन्त:साक्ष्यों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। लोरिकी में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है जिसके आधार पर लोरिक के समय का सही-सही निर्धारण किया जा सके। उसमें गउरा, गुजरात, बोहा, हरदी, बरईपुर, गोठानी, अगोरीदुर्ग, मारकुण्डी आदि स्थानों की घटनाओं का उल्लेख हुआ है।

नदियों में गंगा और सोन (शोणभद्र) का वर्णन आया है। देवी-देवताओं में शंकर, दुर्गा, ब्रह्मा, बंसरा, मनियां का उल्लेख है। प्रमुख जातियों में अहीर, दुसाध, चमार, मल्लाह, धोबी, नाई, कलवार, कोल, तेली, ब्राह्मण आदि जातियाँ आयी हैं। भाषा भोजपुरी है। उस समय के योद्धा तलवार से युद्ध करते थे। हाथी युद्ध में काम आते थे। उस समय के लोग मांसाहारी भी होते थे। शराब भी पी जाती थी। कुश्ती लड़ने का प्रचलन था। शादी-विवाह इसी तरह उस समय भी होता था। दुल्हन को पालकी में बिठाकर विदा किया जाता था। नदी पार करने के लिए नावें होती थीं। वस्त्रों में सामान्यतया धोती, कुर्ता, मिरज़ई आदि ही

---

१. 'चंदायन' डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २१ पर उद्धृत।

२. भोजपुरी लोकगाथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश इलाहाबाद, प्रथम संस्करण पृष्ठ ७२।

३. भोजपुरी भाषा और साहित्य, डॉ० उदयनारायण तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, पृ० ४१।

उसमें पर्याप्त समय भी लग जाता है। तात्पर्य यह कि 'चंदायन' लिखे जाने के पूर्व मौखिक परंपरा के रूप में लोरिकी लोककंठ में रही अवश्य होगी। इस तरह लोरिक का समय नाथों और सिद्धों के साहित्य से पूर्व अपने आप प्रमाणित हो जाता है।

अब हमें बलिया में बोहा-गउरा और मीरजापुर में अगोरी के अस्तित्व पर भी विचार करना आवश्यक होगा। भिक्षु धर्मरक्षित ने लिखा है कि बलिया जिले के क्षत्रिय सदा से ही वीरता एवं साहसिक कार्यों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। ई० पू० ६वीं शताब्दी से बलिया का ज्ञात इतिहास श्रद्धा, भक्ति, ओज, वीरता एवं साहसिक कार्यों का एक अद्भुत शृंखला में आबद्ध दिखाई देता है।[1]

भिक्षु धर्मरक्षित ने बलिया की व्युत्पत्ति बुलियाँ (बुलियों का देश बुलिया-बलिया) से की है और लिखा है कि बुली क्षत्रिय यहीं के निवासी थे। उनका राज्य 'अल्लकप्प' में था जो 'धम्म पद्दट्ठ' कथा के अनुसार १० योजन विस्तृत था। 'अल्ल कप्प' शब्द का अर्थ है जल से भीगने योग्य प्रदेश। हम देखते हैं कि बलिया जिला गंगा टोंस, और सरजू, इन तीन बड़ी नदियों के जल प्रसार से प्रतिवर्ष पीड़ित हुआ करता है।[2]

मेरा तो ख्याल है कि बुलिया से ही बाद में बलिया तो हुआ ही होगा बोहा भी हो गया होगा। आज भी बोहा का क्षेत्र काफी विस्तृत है। यह बोहा भी कभी बुलियों के अधिकृत रहा होगा। धर्मरक्षित जी ने लिखा भी है कि वर्तमान बलिया का उत्तरी-पूर्वी भाग बुलियों के अधिकृत था। बुली क्षत्रिय थे और लोरिक भी क्षत्रिय था। राजा भोज भी भोजपुरी क्षत्रिय वंश के थे।[3]

लोरिक यदुवंशी क्षत्रिय था। यदुवंश का इतिहास भी जन्मेजय तक तो प्रामाणिक मिलता है, किन्तु इसके बाद का नहीं। इस समय तक यदुवंशियों का नाश हो चुका था। उनमें कोई पढ़ा-लिखा न था जो अपने वंश का इतिहास लिखता। आज भी उन्हीं की वंशज अहीर जाति एक पिछड़ी तथा बुद्धिहीन जाति मानी जाती है। लोरिक का जन्म इसी बीच के समय में हुआ होगा। उस समय उच्च वर्णों का शासन था। अन्य जातियों को सिर तक उठाने नहीं दिया जाता था। लोरिक ने अपने शौर्य और पराक्रम से अहीर जाति का उद्धार किया। और यदि ऐसा है तो लोरिक का समय भी उसी के आसपास यानी छठीं शताब्दी तक मानना चाहिए।

जहाँ तक मीरजापुर का सम्बन्ध है लोरिकी में अगोरी, बरईपुर, कड़िया, कंतित आदि स्थानों को सम्बन्धित किया गया है। बरईपुर चुनार के पास है और चुनार अपने अस्तित्व में बुद्ध काल तक आ चुका था।[4] यहाँ सब से पहले मल्ल वंश का शासन था, फिर क्रमशः मौर्य वंश, शुंग वंश, नाग वंश, गुप्तराज वंश, मौखरी वंश, प्रतिहार, गहड़वाल, तथा चन्देल राजाओं का

---

१. बौद्धधर्म दर्शन तथा साहित्य, नंदकिशोर एण्ड सन्स वाराणसी, पृष्ठ सं० २७१।

२. वही, पृष्ठ २७२।

३. संक्षिप्त यदुवंश वृक्ष, मास्टर बेलाड़ी लाल वाराणसी से प्रकाशित।

४. बौद्धधर्म दर्शन तथा साहित्य, पृष्ठ २७२।

प्रतिष्ठित होता था। लोरिक कब नहीं आया, यह बताना तो कठिन है, किन्तु मीरजापुर गजेटियर के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक यह अपने पूर्ण समृद्धि को प्राप्त हो चुका था। इसे द्वितीय काशी (अगोरी से कड़िया तक का क्षेत्र) के नाम से जाना जाता था।[1] उदाहरणस्वरूप सोढ़ली के भग्नावशेष मंदिर, अगोरी का दुर्ग तथा कड़िया (चौरासा) का शिव मंदिर और दुर्ग आज भी अपनी गुरुता का परिचय दे रहे हैं। लोरिकी में भी आया है कि लोरिक ने शंकर और दुर्गा से वरदान प्राप्त किया था। वह कंतित का सरदार था। कंतित मीरजापुर में है।

इस आधार पर तो लोरिक का समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास ही ठहरता है, किन्तु यह तर्क ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि गजेटियर में इस समय का निर्धारण दुर्ग व मंदिरों के भग्नावशेष के आधार पर किया गया है। ये मंदिर और दुर्ग बाद के भी बने हो सकते हैं। मंदिर में स्थापित मूर्तियाँ बहुत प्राचीन हैं। इन मूर्तियों को महात्मा अगस्त्य के समय का माना जाता है।[2] यदि ऐसा है तो निश्चय ही लोरिक का समय भी उसी के आसपास मानना चाहिए। पुरातत्व वेत्ताओं ने भी इन मूर्तियों को ६वीं शताब्दी तक प्राचीन माना है।[3] लोरिकी में दुर्गा और शंकर के जिस रूप का वर्णन है वह अनेक स्थानों पर मिलती हैं।[4]

डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने बातचीत के दौरान बताया कि लोरिक एक काल्पनिक व्यक्ति है, इतिहास से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे निजन्धरी आख्यानों की यह विशेषता होती है कि वे लोक-कंठ में रहती हैं। लोकगायक किसी पुरानी कथा को लेते हैं और अपनी इच्छानुसार उसमें नये-नये अंश जोड़ते जाते हैं। हर देश स्थान के गायक ऐसे काल्पनिक पात्रों को अपने स्थान से सम्बद्ध कर लेते हैं। अतः इनका समय निर्धारित करना कठिन है, तब भी लोरिकी को अपने कथा-प्रसंगों के सन्दर्भ में मध्यकाल के प्रारम्भ की रचना माना जा सकता है।

यह मत अनेक अंशों में भ्रामक तथा अस्पष्ट है। यह बात तो किसी हद तक मानी जा सकती है कि गायक इसमें अपनी पसन्द के अनुसार नयी-नयी घटनाएँ सम्मिलित करते जाते हैं, अतः यह रचना किसी एक काल की नहीं हो सकती; किन्तु लोरिक का तो कोई समय

---

१. मीरजापुर गजेटियर, वाल्यूम २६ डी० एल० ड्रेक ब्राकमैन।

२. गुप्तकाशी : अर्जुनदास केसरी 'आज' दैनिक २३-२-७१ ई०।

३. मध्ययुगीन भारतीय शिल्प में महिषासुर मर्दिनी, 'आज' साप्ताहिक समाचार वाराणसी, लेख : अपर्णा दिनांक १३-१०-७४।

४. इलाहाबाद संग्रहालय में ऐसी ही देवी की एक मूर्ति है जो ९वीं शती की है। भारत कला भवन वाराणसी में दो मूर्तियाँ हैं जो १०वीं शताब्दी की हैं। एक अत्यन्त सुन्दर पल्लव कालीन (७वीं सदी ई० पू०) अभिव्यक्ति महाबलिपुरम् की महिषासुर मर्दिनी प्रतिमा में देखी जा सकती है। एलोरा में अष्टभुजी की मूर्ति मिली है। इसी प्रकार रीवाँ, राजपूताना, अजमेर, खजुराहो तथा मीरजापुर आदि स्थानों में महिषासुर मर्दिनी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मीरजापुर तथा बलिया जोड़ा में भी ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हैं। बलिया में बरमहाबल देवी की मूर्ति भी ऐसी ही है।
—लेखक

होता ही। लौरिक को केवल काल्पनिक पात्र कह कर छोड़ देना ठीक नहीं है। इतिहास में भी उसका नाम आता है। पृथ्वीराजरासो में लौरिक का नाम ही नहीं है, अपितु एक प्रसंग ही उससे सम्बन्धित है।[1] इसी प्रकार 'कथा सरित्सागर' में लाक पर एक कथा ही है। यदि पृथ्वीराजरासो एक ऐतिहासिक रचना है तो लोरक या लौरिक भी उस ऐतिहासिक रचना का ऐतिहासिक काव्य है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि लौरिक—कथा के स्रोत ही हमें अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं।

—लोकवार्ता शोध संस्थान
राबर्ट्सगंज, मीरजापुर

⊙

शब्दार्थ-परिवर्तन : हिन्दी की प्रक्रियाएँ

डॉ० गोविन्दस्वरूप गुप्त

अर्थ को वहन करने वाली ध्वनियाँ सामान्यतः शब्द कहलाती हैं। शब्द और अर्थ परस्पर आश्रित हैं। अभिव्यक्ति के चार चरण हैं—परा (अभिव्यक्ति की इच्छा), पश्यन्ती (अभिव्यक्ति की इच्छा का मन और बुद्धि द्वारा मंथन, विश्लेषण या चिंतन), मध्यमा (शारीरिक प्रयत्न), वैखरी (व्यक्त वाक्)। वाग्व्यापार के इन चारों चरणों को इच्छा, मनोभाव, प्रयत्न तथा वाक्-ध्वनि की संज्ञा दी गई है।

शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य। एक साधन है दूसरा साध्य। दैनिक प्रयोगों में शब्द शक्तियों की सत्ता का भी दृढ़ स्वरूप परिलक्षित होता है। जैसे—'धूम' शब्द का वाच्यार्थ है 'धुआँ' तथा लक्ष्यार्थ 'अनरव' और 'प्रसिद्धि' है। फारसी शब्द 'दिल' का वाच्यार्थ है 'हृदय' तथा व्यंग्यार्थ है 'साहस', 'प्रवृत्ति'।

हिन्दी में ऐसे तत्सम शब्दों का भी बाहुल्य है जो संस्कृत में ही अर्थान्तर को प्राप्त होकर हिन्दी में अवतरित हुए हैं। मूलतः देवतावाची 'असुर' संस्कृत में ही 'देवताओं की विरोधी जाति' के रूप में प्रयुक्त होने लगा था और सामान्यीकृत होकर 'नीच व्यक्ति' का सम्बोधन भी हो गया था। यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि किसी भी शब्द में अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्तर पर ही जानी जा सकती है क्योंकि वाच्यार्थ तक पहुँच जाने के बाद वह अर्थ-परिवर्तन शब्द का मूलार्थ बन जाता है। फिर उसका परिवर्तित अर्थ सामान्यीकृत होकर शब्द के वास्तविक अर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर वह परिवर्तन पहचाना नहीं जा सकता; वह एक खोज का विषय बन जाता है। जैसे, आज जब हम कहते

---

१. पृथ्वीराजरासो द्वितीय खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा काशी—श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ ७२१, ७२३, ७२४, ७२५, ७३६ पर।

यदि सामयिक अर्थ-विज्ञान अर्थ का विश्लेषण, विवेचन करता है तो ऐतिहासिक अर्थ-विज्ञान अर्थ के विकास-क्रम का अनुशीलन करते हुए अर्थान्तर की स्थितियों और हेतुओं का अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा एक जीवंत सत्ता है और कालान्तर्गत किसी भी वस्तु की भाँति परिवर्तन के प्रति गतिमान है। अर्थान्तर को परिभाषित करते हुए स्टेर्न ने उसके दो प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है—

(क) कोई एक शब्द नवीन वस्तुओं को प्रकाशित करने लगता है।

(ख) कोई शब्द नवीन ढंग से किसी वस्तु को प्रकट करता है।

स्टेर्न की परिभाषा में अर्थान्तर का अनिवार्य संबंध वस्तु-प्रकाशन से रखा गया है। वस्तु-प्रकाशन की नवीन योजना भाषा को विकास प्रदान करती है। इस विकास-क्रम में अर्थान्तर की अनेक स्थितियाँ दिखाई देती हैं।

जहाँ कोई नाम किसी नवीन भाव से संयुक्त हुआ है अथवा किसी भाव ने नवीन नाम ग्रहण किया है, अर्थ संक्रमित हो जाता है। जैसे—'गो-पालन' की वाचक सं० धातु—गुप् से निर्मित 'जुगुप्सा' शब्द कालान्तर में 'घृणा' के लिए रूढ़ हो गया। इसे भाव-साहचर्य कहा जा सकता है।

ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ भिन्नार्थक शब्दों के साहचर्य में प्रयुक्त होने के कारण एक शब्द का अर्थ दूसरे में संक्रमित हो गया है। जैसे, हिन्दी 'धज' संस्कृत 'ध्वजा' से निष्पन्न है किन्तु 'सजधज' में युक्त होने के कारण उसने स्वतन्त्र रूप से 'सजावट' का अर्थ ग्रहण कर लिया है।

इसी प्रकार, जब दो शब्द दीर्घकाल तक साथ चलते हैं तब शब्द दूसरे के अर्थ को अन्तर्भावित कर लेता है और दूसरे के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती। 'रेलगाड़ी' से 'रेल'। 'बाइसिकिल' से 'साइकिल'। 'फाउंटेनपेन' से 'पेन'। इस वर्ग में विदेशी शब्द अधिक हैं।

अर्थान्तर पद-परिवर्तन के सदृश्य ही विकासशील तत्त्व है। हिन्दी में ऐसे विपुल उद्भव हैं जिनके विधान का उद्देश्य अर्थ में पूर्ण परिवर्तन लाना या उसके अन्तर्गत किसी नूतन छाया को प्रकट करना है। सं० 'ग्रहण' से निष्पन्न हिन्दी 'गहना' एक उदाहरण है जहाँ रूप-परिवर्तन के द्वारा मूल अर्थ से भिन्न भाव स्थिर किया गया है। जैसे—सं० 'शीत' से हिन्दी 'सीठ'। सं० 'संज्ञान' से हिन्दी 'सूझ'। इस प्रकार की रूप संरचना सर्वत्र पायी जाती है।

सादृश्य अर्थान्तर का प्रमुख साधन है। ये नूतन शब्द सादृश्य वस्तुओं के वाचक शब्दों के आधार पर निर्मित होते हैं। हिन्दी 'छल्ला' शब्द सं० 'छल्लि' (वल्कल) से विकसित है। छाल वृक्ष के चारों ओर गोलाकार परिवेष्ठित रहती है। इसी 'गोलाकृति' को ग्रहण कर उसके सादृश्य पर अँगूठी के लिए 'छल्ला' शब्द निर्मित हो गया।

एक दूसरे प्रकार का सादृश्य आलंकारिक अर्थ-विधान का मुखापेक्षी है। जैसे—सं० 'आभार' का अन्वर्थ है 'बोझ', किन्तु आज वह 'उपकार' के अर्थ में अत्यधिक प्रचलित है। दूसरों का उपकार बोझ ही है। इस आधार पर 'बोझ' का वाचक 'आभार' 'उपकार' के लिए भी प्रयुक्त है। हिन्दी 'चिरौरी' तोतावाचक सं० 'चिरि:' से विकसित है। इस प्रकार रूप, गुण एवं प्रभाव तीनों प्रकार के साम्य दृष्टव्य हैं।

ध्वनि-परिवर्तन की अपेक्षा अर्थ-परिवर्तन में जनता की चेतन-प्रक्रिया अधिक प्रभावी रही है। अनेक अवसरों पर जनता जानबूझ कर एक नवीन, प्रभावकारी, विशेष अभिव्यक्ति-

मूलक और विनयमय रूप में वर्ण संघात का प्रयोग करते हैं। व्यंग्य, विनोद, व्याज-स्तुति आदि के उद्देश्य से प्रेरित अभिव्यक्ति इसी कोटि में आती है। सं० 'रसिक' के सन्दर्भ में 'व्यंग्यात्मकता' की भाव-संपृक्ति को लेकर हिन्दी 'रसिया' शब्द निर्मित है। यह अर्थान्तर की चेतन प्रक्रिया है।

अर्थान्तर का एक अंश वक्ता की अचेतन प्रक्रिया से भी संबद्ध है। इसकी अर्थ-स्वीकृति अयत्नज और सहज होती है। 'पंचायत' शब्द का एक अर्थ 'विवाद' या 'वैमनस्यपूर्ण विवाद' इसी प्रकार विकसित हुआ।

जब अर्थ स्थानान्तरित होता है तब उसमें और मूल अर्थ में स्पष्ट भेद रहता है किन्तु यह भेद वक्ता की प्रयोग भावना पर निर्भर है। कभी-कभी वक्ता किसी शब्द को प्रचलित अर्थ से भिन्न मूल अर्थ में ही प्रयोग कर देता है, जिससे श्रोता भ्रांत हो उठता है। जैसे—'महाजन' शब्द अब 'साहूकार' के अर्थ में प्रचलित है किन्तु यदि इसका प्रयोग मूलार्थ 'महात्मा' या 'श्रेष्ठ पुरुष' के लिए किया जाय तो भ्रांति उत्पन्न होगी।

शब्दों के अर्थ वातावरण से भी प्रभावित होते हैं। उन्हें वातावरण के विभिन्न स्तरों से वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। जैसे—भौगोलिक वातावरण से शब्दार्थ को सापेक्ष गुण प्रदान होता है। 'शीत', 'उष्णता' आदि की अर्थ सापेक्षता जलवायु के स्थानिक वैभिन्न्य के आधार पर स्थापित होती है।

देश की राजनैतिक परिस्थिति शब्दों में अर्थ की नवीन छायाओं को उद्भावित करती है। राजनीति के क्षेत्र में 'क्रांति' शब्द ने एक विशेष अर्थ ग्रहण किया है। इसी प्रकार, 'शीत युद्ध', 'संधि', 'संसद' आदि शब्द विशिष्ट राजनैतिक रंगों से अनुरंजित हैं। 'गृहयुद्ध' किसी देश के आंतरिक संघर्ष का अर्थ देने लगा है।

सामाजिक संघटना एवं पर्यावरण से अर्थ प्रभावित होता है। हिन्दीभाषियों के मध्य 'आदमी' उर्दूभाषियों के मध्य 'मर्द' तथा अंग्रेजीभाषियों के मध्य 'मैन' पति का वाचक है।

रीति-नीति और परम्परा से भी अर्थान्तर घटित होता है। अतिथि-सत्कार के लिए 'अतिथि-पूजा' पद प्रचलित है। प्राचीन समय में अभ्यागतों के सम्मानार्थ उनकी वन्दना, पूजा आदि की पद्धति थी। आज वह पद्धति समाप्त हो गई है किन्तु उसके वह शब्द प्रचलित हैं। उसका सामान्य अर्थ 'अतिथि-सम्मान' ही है।

लोक-व्यवहार में मनुष्य सामान्यतः अपनी परिष्कृत रुचि का परिचय देना चाहता है। इस वर्ग को श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। जैसे—अशुभ प्रसंगों की शुभता-सूचक अभिव्यक्ति के लिए 'मृत्यु' को अशुभ-सूचक मानकर 'स्वर्गवासी' होना', 'गोलोक जाना' आदि का प्रयोग किया जाता है। 'लाश' को 'मिट्टी' का संबोधन किया जाता है।

समाज में अश्लील प्रसंगों के कथन पर्याप्त सतर्कता से प्रस्तुत किए जाते हैं, क्योंकि इनसे न केवल वक्ता की मानसिक संरचना को दूषित सिद्ध किया जाता है प्रत्युत उसके पारिवारिक वातावरण एवं सांस्कृतिक स्तर को भी हेय मूल्यांकित किया जाता है। इसी कारण 'टट्टी' के लिए 'शौच', 'दिशा', 'मैदान जाना' तथा 'पेशाब' के लिए 'लघुशंका' तथा 'गर्भवती होना' के लिए 'पैर भारी होना', 'पीटना' के लिए 'ठीक करना' जैसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है। इसे व्यक्ति की अभिजात्य प्रवृत्ति की संज्ञा दी जाती है।

शिष्टाचार से संकुचित प्रयोग भी किए जाते हैं। 'चेचक' के लिए 'माता'। 'टी० बी०' को 'राजरोग' कहा जाता है।

निम्नस्तर कार्यकर्ताओं के लिए सम्मान प्रयोग भी प्रचलित हैं। 'रसोइए' के लिए 'महाराज' तथा 'मंगी' के लिए 'मेहतर' का फ़ारसी 'जमादार' तथा 'चमार' को 'रैदास' शब्द से अभिहित किया जाता है। 'क्लर्क' को 'असिस्टेंट' कहा जाता है।

व्यक्ति की आयु, शिक्षा, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार प्रयोग अर्थ की भिन्नता को प्रकट करता है। 'दिल' का अर्थ वृद्धावस्था में नैराश्य की छाया लिए होता है। यह अर्थान्तर भी प्रयोग सापेक्ष है।

विनयभाव की अभिव्यक्ति भी अर्थान्तर में सहायक है। जैसे—विनयपूर्वक हम अपने घर को 'गरीबखाना' तथा दूसरे के घर को 'दौलतखाना' कहते हैं।

उत्तेजना में भी व्यक्ति विलक्षण शब्दों का प्रयोग करता है। जैसे—'मार डालना', '[illegible]', 'कचूमर निकालना' आदि। क्रोध में 'अट्ट-सट्ट' कहना आदि।

पुनरुक्तिमूलक अर्थ अनुकरण वाचक शब्द से उत्पन्न होता है। जैसे—'अनापसनाप' में 'सनाप' पद 'अनाप' (सं० अनाप्त) की ध्वन्यात्मक पुनरुक्ति है।

जब तत्सम का ध्वन्यात्मक विकास होता है तब एक अर्थ के लिए दो शब्द प्रचलित हो जाते हैं। जैसे—सं० 'परीक्षक' एवं तद्भव 'पारखी'। तद्भव का विकसित अर्थ है, 'रत्नों का मूल्यांकक'। इसे एक शब्द का भिन्नार्थक रूपों में प्रचलन कहा जाता है।

अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ अनिश्चित है जैसे—'हिंसा', 'अहिंसा'। यह अर्थ-सापेक्षता है।

अशोभनीयता से भी अर्थान्तर प्रभावशील होता है। जैसे—'बाई' शब्द कभी आदरसूचक था किन्तु अब निम्नार्थक हो गया।

संकेत—प्रेम-भाव-प्रदर्शन भी अर्थान्तर का कारण है। जैसे—'गांधी-टोपी' से 'कांग्रेस' का बोध होता है।

साम्प्रदायिक अर्थ-विकास वर्ग, जाति, धर्म के मध्य संघर्ष में भी हो जाता है। अशोक के समय 'पाखंड' एक समादृत सम्प्रदाय था किंतु कालांतर में उसके प्रति हेय भावना के कारण उसका अर्थ संज्ञा और विशेषण दोनों रूपों में 'आडंबर' हो गया।

अर्थान्तर विशेष से सामान्य की ओर भी अग्रसर होता है। जैसे—अरबी 'हलवा' से हिन्दी 'हलवाई' बन गया। यह वर्गवाचक अभिधान कहलाता है।

स्थानिक परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। जैसे—सं० 'वाटिका' से 'बंगला' रूपांतर 'बाड़ी', 'घर' का वाचक है।

लाक्षणिक एवं उत्कर्षमूलक प्रयोग के आधार पर अभिव्यक्ति को स्पष्ट और सटीक बनाने के लिए शब्दों के प्रयोग को ज्ञात और अज्ञात रूप में लाक्षणिक शैली प्रदान की जाती है। जैसे—पत्थर दिल, हरी झंडी, साफ बात आदि।

नवीन वस्तुओं और वस्तुस्थितियों के नामकरण की दृष्टि से संबद्ध शब्दों के आधार पर नए शब्द निर्मित किए जाते हैं। जैसे—सं० 'स्थान' से हिन्दी 'थाना' विकसित किया गया है।

[illegible] : पृष्ठ १८१८]

अर्थान्तर का अब तक के ऐतिहासिक वर्गीकरण [illegible] प्रमुख दिशाएँ हैं। इनका महत्व यह है कि ये प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं।

जब कोई शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ को त्याग कर व्यापक परिधि में प्रवेश करता है तो अर्थ-विस्तार कहलाता है, जैसे—सं० 'शोषण' का मूल अर्थ था 'सोखना' और 'चूसना'। अब यह अत्याचार, उत्पीड़न आदि अर्थों में प्रचलित है।

जब अर्थ व्यापक परिधि से सीमित परिधि में आता है तो अर्थ-संकोच कहलाता है। जैसे—सं० 'मृग' पहले 'पशु' का वाचक था। बाद में 'हिरन' का बोधक हो गया।

शब्दार्थ का अपने निम्न स्तर से ऊँचा उठ जाना अर्थोत्कर्ष कहलाता है। जैसे, सं० 'मुग्ध' या 'साहस' का मूल अर्थ था 'मूढ़' एवं 'दुष्कर्म'। हिन्दी में इन अर्थों में अभिजात्य का सन्निवेश हो गया।

भव्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द का निम्नतर अर्थ ग्रहण करना अर्थापकर्ष कहलाता है। जैसे—सं० 'जुगुप्सा' का मूल अर्थ था 'पालना', 'छिपाना', किंतु अब यह 'घृणा' का वाचक हो गया। जैसे—सं० 'महत्तर' से 'मेहतर'। 'कोठा' का सामान्य अर्थ था 'कक्ष' किंतु अपकर्ष-मूलक अर्थ है 'वेश्यालय'।

दीर्घावधि में मूल शब्दार्थ के अन्तर्गत किसी नवीन भाव का प्रवेश हो जाता है तो अर्थादेश कहा जाता है। यही शब्द अथवा कोई नया [illegible] किसी नए अर्थ की अभिव्यक्ति करने लगता है। जैसे—सं० 'अवतार' शब्द का प्रधान अर्थ है 'नीचे आना' किंतु धार्मिक रूढ़ि के कारण इसका अर्थ अब 'भौतिक शरीर में जन्म धारक ईश्वर' है। सं० 'वर' में 'दूल्हे' का भाव तथा मुख>मुँह>मुँहासा>फुंसियाँ का अभिप्राय अर्थादेश है।

अर्थ-परिवर्तन एवं अर्थ-शोधन अर्थान्तर की प्रक्रिया को अनुशासित करते हैं। प्रथम की प्रवृत्तियाँ द्वितीय को संभव बनाती हैं। दूसरे शब्दों में, इन्हीं के अन्तर्गत शब्द, अर्थ की नवीन छायाओं को ग्रहण करते हैं।

निष्कर्ष रूप में अर्थान्तर को वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे—भाषा-शास्त्रीय कारण के अन्तर्गत, साहचर्य, पुनरावृत प्रयोग, शब्दों के अर्थ का अतिशयन आदि सम्मिलित हैं। परंपरागत कारणों में परिवर्तनकारी शक्तियों जैसे—अश्लील, अमंगल, अशुभ के स्थान पर श्रेयस्कर अभिव्यक्तियों का विवेचन होता है। अंधविश्वास, सांस्कृतिक भावना तथा धार्मिक भावना भी अर्थान्तर के पारंपरिक या ऐतिहासिक कारणों में सम्मिलित हैं। सामाजिक व्यवस्थागत होने वाले अर्थान्तरों में पीढ़ियों का विकास, सामाजिक वातावरण, विनय प्रदर्शन, शासन आदि का समावेश है किन्तु भावावेश, अभिव्यंजना, वैयक्तिक योग्यता जैसी स्थितियों का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि ये वर्गीकरण से परे हैं।

हिन्दी में अर्थान्तर एक व्यापक प्रक्रिया का परिणाम है। अनेक कारणों ने इसे प्रेरित कर अर्थ की नवीन छायाओं को उद्घाटित किया है।

—१५३ ए, सुलेम सराय,
इलाहाबाद

दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय आचार्य

कुमारी शशिबाला

प्राचीन काल से भारत का पूर्वेशिया के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है। आचार्यों की भारत से बाहर अनेक देशों में जाने की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही है। इस लेख में इन्हीं आचार्यों के संबंध में कुछ तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। ये सभी तथ्य चीन के प्राचीन इतिहास पर आधारित हैं। हमारे अपने साहित्य में इस विषय में कुछ भी नहीं मिलता। इसके दो कारण हो सकते हैं—कुछ तो हमारी इतिहास के प्रति उदासीनता और कुछ कराल काल की कृपा, जिसके कारण सहस्रों, लाखों ग्रन्थ पिछले एक सहस्र वर्षों में प्रकृति अथवा बर्बर आततायियों ने नष्ट कर दिये।

भारत का नालन्दा विश्वविद्यालय संपूर्ण भारत में ही नहीं वरन् विश्व भर में सुप्रसिद्ध था। वहाँ विविध प्रकार की विद्याओं के पठन-पाठन की व्यवस्था होने के कारण वह विषयों एवं शोधार्थियों के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र बन गया था। नालन्दा के आचार्य निश्चित ही असामान्य विभूतियाँ थे। उन्होंने अनेक प्रकार से भारत भारती को संपूर्ण एशिया में व्याप्त किया। देश-विदेश में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया, साहित्य के अनेक ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया, मठों एवं विहारों की स्थापना की तथा विदेशी लिपियों में सुधार किया। जब ये आचार्य अपनी विदेश-यात्राओं पर जाते तब अपने साथ अनेक चित्र, चित्रों के प्रतिरूप, स्तूप, मूर्तियाँ, मुद्राएँ और सहस्रों पाण्डुलिपियाँ ले जाते। समय-समय पर मगध प्रदेश के भिक्षु, आचार्य और अनेक विद्यार्थियों का इस क्षेत्र में बहुत योगदान रहा। विदेशों में भारतीय आचार्यों का आवागमन प्रथम शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। विक्रमी सं० १२० में चीन के हुंग सम्राट् मिंग को एक दिव्य स्वप्न हुआ कि पश्चिम दिशा से उड़ते हुए किसी स्वर्णमय दिव्यात्मा ने महल में प्रवेश किया। प्रवेश होते ही महल जगमगा उठा। चन्द्र की प्रभा और सूर्य की रश्मियाँ फीकी पड़ गयीं। महाराज ने चरण वन्दना की। प्रातः हुआ तो ज्योतिर्विदों ने बताया कि वह स्वर्णकाय आत्मा पश्चिम देश के महामुनि पारंगत शुद्धोधन-पुत्र शाक्य सिंह सम्यक् संबुद्ध भगवान गौतम हैं। उसी समय महाराज मिंग ने तीन महात्माओं को थिएन् चुओ अर्थात् देवभूमि जम्बूद्वीप में जाकर बौद्ध सूत्र और आचार्यों की खोज करने तथा उन्हें सत्कारपूर्वक साथ लाने के लिए आदेश दिया। ये राजदूत कुछ ही मास के पश्चात् दो विद्वानों को साथ लेकर चीन पहुँचे। ये दो विद्वान् थे—काश्यप मातंग और धर्मरत्न। सम्राट ने लोयांग नगर में श्वेताश्व विहार की स्थापना की। हमारे इन दोनों पूर्व-पुरुषों ने देवानामिन्द्र शुक्र के समान श्वेत अश्वों पर आरूढ़ होकर जम्बूद्वीप से चीन की राजधानी तक यात्रा की। काश्यप मातंग और धर्मरत्न ने ४२ खंडों के सूत्र का निर्माण किया और चीन के राजकुल में बौद्ध धर्म के उपदेशों का सूत्रपात किया।

राजनैतिक हलचल होते हुए भी श्वेताश्व के इस विहार में धर्म-कार्य बन्द नहीं हुए। विक्रमी सं० २८० के लगभग मध्य भारत से हीनयान संप्रदाय के आचार्य धर्मकाल ने चीन

में प्रवेश किया। चीन में आकर इन्होंने अभिधर्म सूत्र का अनुवाद किया। इस समय तक चीन में संसार-विरक्ति की भावना का सर्वथा अभाव था।

विक्रम की तीसरी शताब्दी में धार्मिक ब्राह्मण कुलोद्भूत पण्डित विघ्न ने देश-देशान्तरों में पर्यटन करते हुए लंका से धर्मपद नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ हस्तगत किया और वहाँ से चीन को प्रस्थान किया। इन्होंने ही प्रथम बार धर्मपद का चीनी में अनुवाद किया। यह ग्रन्थ अभी तक विद्यमान है। इसमें विद्या, श्रद्धा, शील, वाक्पद, अप्रमाद, प्रमाद चित्तादि तथा निर्वाण, संसार और सौभाग्यान्त, ९ अध्याय हैं। चीन में तीन राजवंश थे। इनके नाम थे—यू, चाह और वू। विक्रमी सं० ३२२ तक इन तीनों राजवंशों का ह्रास होकर पश्चिम के चिन् वंश का उदय हुआ। इस वंश के अर्ध शताब्दी के राज्यकाल में भारतीय विद्वान और अनेक सहायकों ने ५०० से अधिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन के पण्डितों ने धर्मरत्न आदि संस्कृत के नाम धारण किये। अमिताभ और अवलोकितेश्वर के संप्रदायों का आरम्भ हुआ। पंचविंशति साहस्रिका, प्रज्ञापारमिता और सद्धर्मपुण्डरीक जैसे जटिल और दुरूह किन्तु युगप्रवर्तक महान् ग्रन्थों ने चीनवासियों के जीवन को प्रभावित किया।

भारत और इतर देशों के इतिहास में कुमारजीव का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने न केवल अनुवाद ही किया अपितु माध्यमिक और योगाचार के सिद्धान्तों को भी चीन में प्रवेश करवाया। कुमारजीव ने महायान संप्रदाय के संस्थापक अश्वघोष की जीवनी लिखी। यह अभी तक चीनी भाषा में विद्यमान है। नागार्जुन के अत्यन्त शून्यतावाद पर कुमारजीव के ग्रन्थ अनुपम हैं। कुमारजीव के जीवन का उद्देश्य चीनियों को सच्चे धर्म का ज्ञान कराना था। उन्होंने पुराने ग्रंथों का संशोधन और नये अनूदित ग्रन्थों का भाषान्तरण अपने हाथ में लिया। इस वृहत् कार्य के लिए उन्हें ८०० विद्वान सहायक के रूप में दिये गये। इनमें भारतीय और चीनी दोनों सम्मिलित थे। कुमारजीव ने अपने जीवन के अन्तिम १२ वर्ष इसी कार्य को अर्पित किये।

५४७ ई० में मगध से आचार्य परमार्थ चीन गये। इन्होंने वसुबन्धु का जीवन चरित लिखा। चीन के सम्राट् वू ने गुप्त सम्राट् विष्णुगुप्त से प्रार्थना की कि वह कुछ ऐसे विद्वानों को चीन भेज दें जो चीन में कार्य कर सकें। विष्णुगुप्त ने आचार्य परमार्थ को चुना। आचार्य परमार्थ ने बहुत-सी बौद्ध पाण्डुलिपियाँ अपने साथ लीं और समुद्र के मार्ग से चीन की ओर चल पड़े। चीन पहुँच कर उन्होंने ७० से भी अधिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। पाँचवीं शताब्दी में आचार्य धर्मजातयशस तथा आचार्य गुणवृद्धि ने अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनके उपरान्त ५६४-५७२ ई० तक मध्य मगध के आचार्य ज्ञानयशस् और अनेक शिष्यों—यशस् गुप्त और ज्ञान गुप्त ने ६ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसके पश्चात् धर्मक्षेम नामक आचार्य मगध से चीन के लिए चले और अपने साथ महापरिनिर्वाण की एक प्रति ले गये।

आचार्य प्रभाकर मित्र नालन्दा में अभिधर्म की शिक्षा देते थे। बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए वे तुर्किस्तान तथा पूर्वी ईरान आदि गये। इसके बाद चीन के सम्राट् ताई-त्सुङ के निमन्त्रण पर चीन की राजधानी पहुँचे और ह्वेन्ग्शेन के विहार में निवास करने लगे।

कुण्डलियों का पाठ प्रस्तुत करने के पूर्व प्राप्त प्रति[1] का संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है। इस प्रति का आकार १६×९ सें० मी० है। पूरी प्रति काली स्याही से लिखी हुई है। विराम चिह्न तथा पुष्पिका लेखन में लाल स्याही का भी प्रयोग हुआ है। एक ही जिल्द में अक्षर अनन्य कृत ध्यान बोध, विज्ञान बोध, कवित्त संग्रह, अंक बत्तीसी, निर्वार शतक, विवेक तरंग तथा बाईसी, कबीर के पद, गिरधर की कुण्डलियाँ, रसनिधि की चौपई, नरसिंह की कुण्डलियाँ एवं सुखदेव कवि कृत अध्यात्म प्रकाश ग्रंथ संग्रहीत है। संपूर्ण प्रति की लिखावट एक है। अध्यात्म प्रकाश ग्रंथ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह प्रति संवत् १८९४ वि० में दलीप नगर (वर्तमान दतिया) में तैयार की गई थी। ग्रंथ की पुष्पिका इस प्रकार है—"इति श्री सुखदेव विलासे अध्यात्म प्रकासे अध्यात्मबोध संपूर्ण समाप्तता" आस्वन कृष्न १४ संवतु १८९४ शुभं स्थाने दलीप नगर।" प्रति में गिरधर की ९४ कुण्डलियाँ तथा नरसिंह की ३० कुण्डलियाँ अलग-अलग शीर्षक से हैं।

नरसिंह कवि का विवरण हिन्दी साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता। नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी की खोज विवरणिका में नर सिंह नामक दो व्यक्तियों का नामोल्लेख हुआ है जिनमें से प्रथम नरसिंह के विषय में विशेष जानकारी नहीं है मात्र उनकी एक रचना भानुमती कबूतर कला चरित्र का विवरण है।[2] दूसरे नरसिंह महाराज छत्रसाल के धर्मपुत्र का विवरण है जो कवि केशवराय के आश्रयदाता थे किन्तु इनकी किसी रचना का विवरण नहीं है।[3] महाराज छत्रसाल के धर्मपुत्र नरसिंह संवत् १७५३ वि० में वर्तमान थे। इस आधार पर यह कह सकना कठिन है कि इन कुण्डलियों के रचयिता कौन नरसिंह हैं। वैसे कवियों के आश्रयदाता महाराज छत्रसाल के पुत्र नरसिंह ही इन कुण्डलियों के रचयिता जान पड़ते हैं क्योंकि वे काव्य प्रेमी थे, धार्मिक थे और स्वयं कवि थे। कुण्डलियों का विषय भी ज्ञान और भक्ति है। कुण्डलियों की ब्रजभाषा में बुन्देलखण्डी शब्दरूप भी मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि कवि बुन्देलखण्ड का निवासी रहा होगा।

यहाँ नरसिंह की कुण्डलियों का प्राप्त पाठ यथावत प्रस्तुत है—

श्री गणेशाय नमः॥ अथ नरसिंह कृत कुंडरियां लिख्यते॥
ध्यान मंजरी की पोथी
कुंडरिया (कुण्डलिया)
बदरई देखि पीतला कीरै वारि देखि बिसु खाइ।
वार देखि बिसु खाइ, बात हीनी न विचारै॥
अयहोती अनुराग हृदै हरि सों अनुसारै।
प्रभु भजिबे की बेर तबै मूरख नर मारै॥

---

१. यह प्रति दतिया निवासी श्री बलबीर सिंह फौजदार के संग्रह से सम्मेलन संग्रहालय को भेंट स्वरूप प्राप्त हुई है। प्रति अब सम्मेलन संग्रहालय में सुरक्षित है।

२. द्रष्टव्य—हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, प्रथम खण्ड, पृ० ४७४।

३. वही, पृष्ठ ४७५।

रसिक सम्प्रदाय और सखी भाव

डॉ० [illegible]

मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य का सर्वेक्षण करते वक्त जिज्ञासुओं को सामान्यतः उसकी प्रधानतम प्रवृत्ति के रूप में मधुरोपासना का तत्त्व-साक्षात्कार होता है। भक्ति की चाहे निर्गुण शाखा हो या सगुण, निर्गुण का चाहे ज्ञान मार्ग हो या प्रेममार्ग, सगुण की चाहे कृष्णोपासना हो या रामोपासना—विभिन्न क्षेत्रों में प्रायः सर्वत्र इस मधुरोपासना की ही एक सर्वव्यापक प्रवृत्ति—'सूत्रे मणिगणा इव'—परिलक्षित होती है। यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों और साधना-सम्प्रदायों से क्रमशः विकसित होकर रूप ग्रहण करने के कारण इनमें प्राप्त नाम-रूपात्मक (प्रतीकात्मक) अभिव्यक्ति-भेदों को दृष्टान्तर नहीं किया जा सकता तथापि इनमें अन्तर्व्याप्त उस रागात्मिका वृत्ति को भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते जो मधुरोपासना का मूलाधार है।

मधुरोपासना भक्त (उपासक) और भगवान (उपास्य) के बीच के प्रगाढ़ रागात्मक संबंध को सूचित करने वाली प्रेमाभक्ति की ही चरम परिणति है। भक्ति की उपासना के लिए शास्त्र-पुराणों व साधना-साहित्य में ईश्वर-जीव के बीच जो चार-पाँच भाव क्रमशः शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर (दाम्पत्य)—संबंध स्वीकृत हैं उनमें से अन्तिम (मधुर) में भाव की तीव्रता व राग-परिष्ठता सर्वस्वीकृत होने के कारण भक्त द्वारा इस विधि से की गई भगवान की उपासना चरम कोटि की मानी गयी है। जिस प्रकार लोक में दाम्पत्य संबंध पति के प्रति पत्नी के सर्वात्म समर्पण व प्रेम-मिलन का चूड़ान्त दृष्टान्त है, उसी प्रकार इस साधना-लोक में प्रभु के प्रति भक्त का प्रेमयोग उसके समर्पण व सम्मिलन के आदर्श प्रतीक रूप में सर्वमान्य बन गया है। मधुरोपासना की इस टेक पर जब हम भक्तिकाव्य की विभिन्न साधना-सरणियों का आलोड़न करते हैं तो कबीर के 'साईं' ('राम भर्तार') और मीरां के 'नटवर नागर', सूर के 'गोपीपति' और हरिवंश के 'राधावल्लभ', हरिदास के 'कुंज-बिहारी' (कृष्ण) और अग्रदास के 'रास बिहारी' (राम)—सबों का मर्म सहज ही हृदयंगम हो जाता है। यहाँ तक कि सूफी प्रेम-साधक जायसी और रामाश्रयी प्रेम-चातक तुलसी भी इसके अपवाद नहीं लगते।

उक्त प्रेमोपासकों की मधुरोपासना को तनिक सूक्ष्मता से देखें तो इनमें विभिन्न सम्प्रदाय और प्रतीक, साधना और विश्वास-परम्पराओं के अन्तर के आधार पर न्यूनाधिक रूपान्तर प्रतीत होगा। इनमें सब कहीं उपास्य प्रेय को युगलरूपों में मानकर उनके पारस्परिक लीला-चिंतन की परिपाटी नहीं मिलती। निर्गुण सम्प्रदाय में अवतारलीला की स्वीकृति न होने के कारण उसके प्रेम-वर्णन में वियोग की उत्कटता तो है पर सगुण भक्ति-सा प्रेमी-प्रेय के मध्य लीलाभिनय के उपयुक्त संयोग-सुख का नाम-रूपात्मक रस-क्षेत्र प्रशस्त नहीं है। इससे एक ओर जहाँ इनके प्रेम का स्वरूप युगल न होकर सकल है, वहीं प्रेमी का संबंध लीला-माध्यम न होकर प्रत्यक्ष है। इस दृष्टि से कृष्ण भक्ति का लीला-क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक और उर्वर है।

सर्वप्रथम इसके आराध्य लीला पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण हैं। भागवतादि पुराणों में गोपी-कृष्ण की मधुर लीलाओं के व्याज से इस भाव-क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत और रमणीय फलक प्रदान किया गया है साथ ही, उसमें एक गोपी विशेष (राधा) के स्फुट संकेत से युगल लीला का भी सूत्रपात हुआ है। जिसकी पूर्ति गीत गोविन्द में दिखाई देती है। तत्पश्चात् पुराण-साहित्य (ब्रह्मवैवर्त, पद्म आदि), तंत्र व संहिताओं में क्रमशः कृष्ण की युगलोपासना भी राधा को केन्द्र करके पुरस्सर हो गयी। इनमें कहीं-कहीं (पद्मपुराण, पुराण संहिता आदि में) सखीभाव भी समाविष्ट हो गया है।

१६वीं शती के पूर्व की साधनावधि का सिंहावलोकन करने पर हम भलीभाँति पाते हैं कि इस युग के भक्ति आन्दोलन को गति और ऊर्जा प्रदान करने वाले वैष्णव सम्प्रदाय व उनके पोषक आचार्य प्रायः कृष्णभक्त रहे हैं। इनमें गौणतः रामानुज व मध्वाचार्य तथा मुख्यतः निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभाचार्य का नाम लिया जा सकता है। रामानुज (श्री नारायण) व मध्व (लक्ष्मी-विष्णु)के आराध्य-युग्म प्रत्यक्षतः सीताराम या राधाकृष्ण नहीं हैं।[1] अतः हमारे आलोच्य विषय सखी व रसिक सम्प्रदाय के लाडिली-लाल की युगल लीला से इनका सीधा संबंध न होकर अवतार-माध्यम से ही है। दूसरे, इनमें माधुर्य की अपेक्षा ऐश्वर्यभाव प्रबल है। हाँ, निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभ -मत (के साधना-साहित्य) में अवश्य ही गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण की युगल लीला का व्यापक विन्यास हुआ है। इनमें पूर्वोक्त दो में तो राधाभाव स्पष्ट होने के कारण युगल माधुर्य अतिशय प्रबल है। किन्तु तीसरे में वात्सल्य भाव को ही विहित माना गया है। यों उसकी परवर्ती व्यक्तिगत साधना में युगल माधुर्यभाव भी क्रमशः प्रतिष्ठित और पल्लवित होता गया है। फिर भी उसका प्रतिनिधि भाव ब्रजलीला के अन्तर्गत बाल और माधुर्य का मध्यवर्ती सख्य भाव ही मान्य है।

अब यदि प्रेमाभक्ति पर प्रेमी-प्रेय : आश्रय-विषय की दृष्टि से विचार करें तो निम्बार्क[2] के प्रेय (विषय) पक्ष में जहाँ स्पष्टतः राधा-कृष्ण युगल दम्पति हैं वहाँ प्रेमीपक्ष में सहस्रों सखियाँ लीलादर्शन व सेवन के हित उपस्थित बतायी गयी हैं। यह सखीभाव का आदि प्रेरक है। चैतन्य देव के गौड़ीय मत में भी गोपी या सखीभाव से मधुरारति की चरम-दशा की प्राप्ति का 'उपासक परिस्मृति' के अन्तर्गत सुविस्तृत विधान है। यहाँ गोपियों की मिलन-विरहपूर्ण कामरूपा परकीया प्रीति अद्भुत है और अद्भुत है उनका 'मंजरी' (या 'सखी') भाव जिसकी विस्तृत समीक्षा यथा प्रसंग होगी।

ब्रजभक्ति सम्प्रदायों में स्वामी हितहरिवंश प्रवर्तित राधावल्लभ सम्प्रदाय के उपास्य ब्रज के गोपी कृष्ण के स्थान पर वृन्दावन के श्यामाश्याम हैं। यहाँ उपासक के रूप में गोपियों को ही 'सहचरी' स्थानीया बनाकर उपस्थित किया गया है। अतः यहाँ रस के एकनिष्ठ पिपासुओं की दृष्टि में विशुद्ध सखीभाव का अभाव ही है। कदाचित इसी [illegible] रसाभास

---

१. द्रष्टव्य—लेखक का प्रबंध—'हिन्दी काव्य में कृष्ण चरित का भावात्मक स्वरूप-विकास', पृ० २०८-२१०।

२. दशश्लोकी—१।५।

की पूर्ति स्वामी हरिदास जी के सखी-सम्प्रदाय द्वारा करायी गयी है। यह पूर्णतः दिव्य शृंगार या मधुर रस की उपासना है। इसमें यद्यपि ऐश्वर्य-माधुर्य में केवल माधुर्य है; पंचरसों में मधुर है; ब्रज, मथुरा, द्वारिका में केवल वृन्दावन का निभृत निकुंज; परिकरों में केवल सखी है। इस प्रकार, बाह्य विषयों का पूर्ण संकोच है तथापि रसोपासना सर्वाधिक प्रखर, एकनिष्ठ और अनन्य है। सखी साधना के रसिक साधकों ने कृष्ण की ब्रजलीला के स्थूल उपकरणों को—छिलके और बीज की तरह—छाँट कर निगम कल्पतरु के परिपक्व फल का नव कीरक-शुक की तरह रस-पान किया है। जिस प्रकार शुक को वृक्ष के गहन झुरमुट में भी पल्लव-प्रतान व डाल-पात की तरह जगह रस-भरा फल ही दीखता है, उसी प्रकार इन्होंने नित्य वृन्दावन के निभृत निकुंज (निधि वन) में आह्निकी काल की निरन्तर चल रही संयोग-लीला की सखी रूप में अन्तरंग झाँकी प्राप्त की है। रसोपासकों के लिए यहाँ गोपी-प्रेम (स्वसुख) के भी ऊपर सखी-सेवा (तत्सुख) का उच्चादर्श प्रतिष्ठित है। तदनुसार नित्य निकुंज की उस अद्वय युगल लीला के साक्षात्कार और प्रवेश के लिए रसिक साधक को (स्त्री, गोपी) या सखीभाव धारण करना अनिवार्य है। सखी-भावोपासक भक्त अपने आराध्य युगल के मध्य प्रणयवृत्ति का सखी की मध्यस्थता निभाते हुए दिव्य दम्पति के आमोद-प्रमोद व मान-मनुहार को सतत उद्दीप्त रखता है और स्वयं उस लीला को प्रत्यक्ष कर संयत आनन्द लेता है। अपना सांसारिक इतिवृत्त खोकर नित्यसखी का भाव ग्रहण कर रसिक जब प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार का ध्यान करता है तो श्री हरिवल्लभा कृपा कर उसे अपनी सहचरी बना लेती हैं। इस प्रकार, रसिक को सखी माध्यम नित्य लीलाप्रवेश व प्रेक्षण का सुअवसर मिलता है। यही सखीभाव की उपासना का परम प्राप्तव्य है। वैष्णव साधकों की दृष्टि में इस नित्य रस की तुलना में ब्रह्म-सम्मिलन या मोक्ष तुच्छ लवण-कण-सा है।

निष्कर्षतः ब्रजभक्ति को निचोड़कर कृष्णोपासकों ने जिस अनन्य सखीभावित रस-साधना का रूप दिया उसे सखी-सम्प्रदाय कहते हैं। इसके पुरस्कर्ता वृन्दावनी सन्त स्वामी हरिदास (सं० १५६५ के पास) हैं। अनुसन्धित्सुओं ने इस सम्प्रदाय का स्थापना-काल सं० १५६५ के आसपास माना है।[1]

स्वामी हरिदास जी की सखी-साधना-प्रणाली इतनी भाव-सरल और रस-पेशल सिद्ध हुई कि ब्रज के अन्य (चैतन्य, वल्लभ, राधावल्लभ आदि) कृष्णभक्ति सम्प्रदायों पर तो उसका सहज प्रभाव पड़ा ही, अवध की वैधी रामभक्ति पर भी उसकी रमणीय प्रभाव-छटा फैल गयी है। इसका प्रभाव हमें तुलसीदास की तत्ः परवर्ती रसिक रामकाव्य-धारा के अनुशीलन-क्रम में मिल जाता है। तुलसी का राम-काव्य एक ओर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के लोकपावन चरित का अन्यतम आदर्श है तो दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में वैधी मार्ग और भाव के क्षेत्र में दास्यभाव का प्रतिनिधि स्वरूप भी। अपने इन्हीं रूपों में तुलसी-पुरस्कृत रामकाव्य-धारा लोकजीवन को अभिषिक्त करती रही है। किन्तु, इस आदर्श-निर्मित लोक-संस्कार के प्रतिकूल जब हम उधर तुलसी-युग में आराधनात्मक रूप में रचित राम की माधुर्य

१. डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी—'कृष्ण भक्ति काव्य में सखीभाव', पृ० ७४८।

लीलापरक काव्य-राशि को देखते हैं तो सभी भावाधिक इस रसिकोपासना पर विस्मय होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मर्यादावादी आलोचक को तो इस आदर्श के तथाकथित 'शोभनस विपर्यय' पर खीझ भी हुई थी। उनके अनुसार 'इधर आकर कृष्णभक्ति शाखा का प्रभाव बहुत बढ़ा।...रामभक्ति मार्ग के भीतर भी शृंगारी भावना का अनर्गल प्रवेश हो रहा...। इन्होंने पति-पत्नी-भाव की उपासना चलाई।...राम की रासलीला, विहार ही आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किए गए।...इस प्रकार विलास क्रीड़ा में कृष्ण से कहीं अधिक राम को बढ़ाने की होड़ लगायी गयी। गोलोक में जो नित्य रासलीला होती रहती है उससे कहीं बढ़ कर साकेत में हुआ करती है।...चित्रकूट की भावना वृन्दावन के रूप में की गयी और वहाँ के कुंज भी व्रज के क्रीड़ा-कुंज माने गये।'[1] उक्त उद्धरण का अक्षरशः पक्ष-समर्थन यहाँ अभीष्ट न होने पर भी इतना बताने के लिए पर्याप्त है कि तुलसी के बाद के राम-साहित्य में व्याप्त इस रसिकोपासना पर उक्त कृष्ण-भावना का न्यूनाधिक प्रभाव है। चाहे मिश्रों की धारणा में यह—'प्रारंभिक वैधी मार्ग की कठोरता के विरुद्ध तीव्र मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया ही क्यों न हो'[2] पर रामभक्ति के 'इस तथाकथित अनोन्मुक्त अव्यक्त सखीभाव' पर गुप्त गोदावरी की भाँति ही सही, अन्यान्य सम्प्रदायों के अतिरिक्त उन्हें भी कृष्णायत सखी सम्प्रदाय का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य स्वीकार करना पड़ा है।[3] प्रमाण के लिये—'आज अयोध्या में अधिकांश मन्दिर 'कुंज' और 'वन' नाम से अभिहित हैं और श्री कनक भवन के अतिरिक्त भी जितने मुख्य स्थान हैं, वहाँ भी युगल मूर्ति की मधुर उपासना चल रही है। यहाँ के अधिकांश साधु, सन्त एवं साधक या तो कोई 'लता' हैं या 'प्रिया' या 'अली' या 'सखी'।[4] यों तो विद्वानों ने राम रसिकोपासना के प्राचीन रूप का व्यंजन रामभक्त हनुमान और उत्तनन आलवार सन्त शठकोपतक में किया है सखीभाव के आदर्श पर लीला-पुरुषोत्तम भगवान् राम और लीलानायिका भगवती सीता के सुमधुर रास-विलास के नित्य लीला-चिन्तन की साम्प्रदायिक धारणा सर्वप्रथम अग्रदास जी द्वारा ही प्रवर्तित प्रमाणित होती है। इनकी 'ध्यान मंजरी' 'शृंगारी साधना की गीता' कही गयी है। इनका समय सं० १६१२ के आसपास मान्य है।[5] कृष्ण-'सखी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक स्वामी हरिदास (वृन्दावनी) से ७० वर्ष पीछे होने वाले राम-'रसिक सम्प्रदाय' के प्रवर्तक स्वामी अग्रदास (जयपुरी-रैवासा गद्दी) की शृंगार साधना-प्रणाली—विशेषतः अपने साम्प्रदायिक सखीभाव के कारण—तुलनात्मक समीक्षा की प्रेरणा देती है और इस तुलना के निष्कर्ष-बिन्दु पर हम देखेंगे कि उक्त दोनों में जो अधिकांशतः साम्य है वह सखी सम्प्रदाय की साधना-प्रणाली द्वारा रसिक सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति को दिये गये रस-दान की ही परिणति है। १७वीं शताब्दी से लेकर १८वीं

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५३।

२. डॉ० भुवनेश्वर मिश्र माधव—'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना', पृ० ११८।

३. वही, पृ० ११८।

४. वही, पृ० ११८।

५. डॉ० भगवती प्रसाद सिंह—'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय', पृ० ८८-८९।

शताब्दी के अन्त तक इस राम-रसिक शाखा के सैद्धान्तिक विकास में वृन्दावन के कृष्ण रसिक साधकों का प्रत्यक्ष योगदान रहा है। प्रमाण के तौर पर 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' के सुधी विद्वान् डॉ० भगवती प्रसाद सिंह की 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' पर आधारित यह विस्तृत स्वीकारोक्ति उद्धृत है—"कहने की आवश्यकता नहीं कि रामभक्ति की रसिक शाखा के विकास में कृष्णभक्ति का योग पहले से ही कुछ-न-कुछ चला आ रहा था। इस काल में वह भावना अधिक विकसित हुई। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में ऐसे कई राम-भक्तों के वृत्त दिये गये हैं, जिन्होंने रसिकोपासना के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वृन्दावन की यात्रा की थी और वहाँ के प्रसिद्ध आचार्यों से सत्संग-लाभ किया था। मोहन रसिक एक ऐसे ही भक्त थे। उन्होंने वृन्दावन के महात्मा भगवत रसिक से रास-ध्यान सीखा था।...कुछ रसिक रामभक्त स्थायी रूप से कृष्ण-तीर्थों में निवास भी करने लगे थे। मौनी जानकीदास के वृन्दावन में रह कर शृंगारी साधना करने की चर्चा 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में आयी है।"[1]

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक भी राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुशीलन-क्रम में यही पाते हैं कि अयोध्या के रसिक सम्प्रदाय और उसकी सखीभाव-साधना का मूलाधार वृन्दावनी कृष्ण-रस-साधना ही है। उनके अनुसार—'अयोध्या के रामानन्दी सम्प्रदाय की एक शाखा सखी सम्प्रदाय (रसिक सम्प्रदाय ?) के रूप में सामने आयी। इस सखीभाव का मूलाधार प्रेमलक्षणा में राधा भाव का प्राधान्य था जो हितहरिवंश जी की ही देन है।...यह प्रभाव किस रूप में संक्रमित होकर वहाँ तक पहुँचा, यह अनुसन्धान का विषय है।...पूछने पर हमें यही बताया गया कि वृन्दावन और अयोध्या दोनों स्थानों पर प्रेमलक्षणा और राधा भाव का इतना व्यापक प्रभाव किसी काल में पहुँचा था कि राम और सीता को राधा-कृष्ण की छाया में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया और उसी शैली में काव्य-रचना होने लगी।'[2] कृष्ण-काव्य के अनुसन्धायक ही नहीं, राम-काव्य के सुधी विद्वान् भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। डॉ० कामिल बुल्के भी शृंगारी राम-काव्यों के संविधान में—भाव, साधना और शैली—सभी दृष्टियों से शृंगारिक कृष्ण काव्य-साधना के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। अपने (राम-कथा) शोध प्रबन्ध में उक्त धारणा की अभिव्यक्ति के अनन्तर वे 'हिन्दी साहित्य कोश' में लिखते हैं—'इस भक्ति पर कृष्ण-राधा-संबंध साहित्य का प्रभाव भी पड़ा और बाद में उत्तरोत्तर बढ़ने लगा।... साधना के क्षेत्र में भी यह प्रभाव दृष्टिगोचर है। रामभक्ति प्रधानतया दास्यभाव की न रह कर कुछ सम्प्रदायों में मधुरोपासना में परिणत हुई।'[3] अनुसन्धायकों के अतिरिक्त साहित्य के इतिहासकारों ने भी इस तथ्य को लक्ष्य किया है। आचार्य शुक्ल इनमें अग्रगण्य हैं। उनके अतिरिक्त आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने इतिहास में इस धारणा की स्पष्ट-घोषणा की है। तदनुसार—'१७वीं शताब्दी के बाद भक्ति-साहित्य में सखी-भाव की साधना का

---

१. डॉ० भगवती प्रसाद सिंह—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १३७-१३८।

२. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक—राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ५८६।

३. डॉ० कामिल बुल्के—हिन्दी साहित्य कोश (भाग १), पृ० ६४७।

प्राधान्य हो गया। . . .इसका प्रभाव रामभक्ति शाखा पर भी पड़ा है। वृन्दावन की भाँति अयोध्या भी सखी सम्प्रदाय के भक्तों का केन्द्र बन गई।[1]

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह सिद्ध है कि १८वीं सदी के प्रारंभ से ही रामरसिकों का वृन्दावन के सम्प्रदायों से सम्पर्क-लाभ निरन्तर बना रहा। ज्ञातव्य है कि रसिक साधना की प्रारंभिक पीठ और गद्दियाँ जयपुर (गलता-रैवासा) में ही केन्द्रित थीं। १७वीं शताब्दी में जब मुगलों के द्वारा बड़े पैमाने पर वैष्णव तीर्थ ध्वस्त किये जाने लगे तो मथुरा और वृन्दावन के रसिक सन्तों ने भी अपने आराध्य विग्रहों के साथ जयपुर (आमेर) की शरण ली थी। इस प्रवास-अवधि में इन दो धाराओं के प्रारंभिक सन्तों का सम्पर्क होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि प्रारंभ से लेकर १८वीं सदी के अन्त तक वृन्दावनी रसिकों के साथ इनका मधुर संबंध बना रहा। इन दोनों (रसिक और सखी सम्प्रदाय) के मध्य सैद्धान्तिक आदान-प्रदान की विस्तृत संभावनाओं का इस भाँति संकेत मिलता है।

भक्ति साहित्य में मधुरोपासना की समीक्षा करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी जब मर्यादावर्गवादी रामावत शाखा में रसिकोपासना को लक्ष्य करते हैं तो अपनी निर्गुण-गंभीर वृत्ति के कारण कुछ झुंझलाते हुए कहते हैं—'श्रीकृष्णोपासकों के अनुकरण में इन्होंने भी कभी-कभी अनेक 'सखियों' वा 'मंजरियों' की सृष्टि कर उनके कारण अपने मर्यादा प्रेम में कमी ला दी है।' और फलतः उनका निष्कर्ष है कि—"श्री रामोपासकों में भी श्री कृष्णोपासकों जैसा एक वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने आराध्य देव के युगल स्वरूप की लीलाओं को अति निकट से अनुभव करने का लक्ष्य अपने सामने रखा। इस प्रकार वह 'सखी सम्प्रदाय' वा 'रसिक सम्प्रदाय' भी कहलाया।"[2]

तथापि यह संकेत कर देना यहाँ आवश्यक है कि 'सखी सम्प्रदाय' और 'राम रसिक सम्प्रदाय'—दोनों पृथक् शाखाओं की रसोपासना के संबोधक ये पृथक् अभिधान अत्यन्त साभिप्राय हैं। ध्यातव्य है कि दोनों ही मुख्यतः शृंगारोपासना है और दोनों ही आराध्य युगलों की नित्य लीला के साधक, चाहे राम के उपासक हों अथवा कृष्ण के, 'रसिक' नाम से ही प्रसिद्ध रहे हैं।[3] पुंस्त्व भाव-त्याग पूर्वक लीला-सहकार इनके सखी भाव का लक्ष्य है। और यह दोनों में अनिवार्य है। युगल लीला में सखीभाव से नित्य मुक्त जीवों का प्रवेश दोनों में काम्य है। इस दृष्टि से चाहें तो कृष्ण सखीभाव के अतिरिक्त रामरसिक सम्प्रदाय को भी 'सखीभाव' या 'सखी सम्प्रदाय' कह सकते हैं। चूंकि युगलोपासना की विधि दोनों में समानतः सखीभाव ही है। वस्तुतः इसी समानता के आधार पर 'कृष्णभक्ति में सखीभाव' के अन्वेषक ऐसा कहते भी हैं।[4]

परन्तु, रस-दृष्टि से विचार करने पर हम पायेंगे कि कृष्ण सखी-सम्प्रदाय में जहाँ

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ० २१२।

२. परशुराम चतुर्वेदी—भक्ति साहित्य में मधुरोपासना, पृ० ११०।

३. डॉ० भगवती प्रसाद सिंह—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १४१।

४. डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी—कृष्णभक्ति काव्य में सखी भाव, पृ० ७४७।

पंच भक्ति रसों में एकान्ततः अन्तिम मधुर रस की संयोग शृंगार लीला का ही संविधान और ध्यान सखी-मत करती है वहाँ रामरसिक सम्प्रदाय में विशेषतः शृंगार रस और सामान्यतः दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसों में से अपनी स्वानुभूति के अनुरूप सद्गुरु-दीक्षित सखी किसी एक रस का अनुसन्धान करती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम पायेंगे कि सखी सम्प्रदाय की अपेक्षा रसिक सम्प्रदाय में रस-वैविध्य अधिक है। अतः राम रसिक सम्प्रदाय को 'सखी सम्प्रदाय' कहने में अव्याप्ति दोष होगा। क्योंकि, रसिक सम्प्रदाय में साधकों के लिए रस-विकल्प अधिक है जिसे विद्वानों ने उसकी 'व्यापकता' का नाम दिया है।[1]

दूसरी ओर कृष्ण सखी सम्प्रदाय में रस-वैविध्य या विकल्प की अपेक्षा एकनिष्ठता है। इस मधुर लीला में अन्य रसों की समाई या मिश्रण नहीं है। यही इसका अनन्य माधुर्य भाव है—[2]

रसना कहौं न और, त्वचा परसौं नहि औरें।
कुंजविहारी केलि झेलि इन्द्रिन सब ठौरें॥
भगवतरसिक अनन्य नेक उपदेशौं सैवनि।
बैननि मैन जगाय रैन दिन देखौं नैननि॥

रसिकों ने इसी कारण अपने सम्प्रदाय को 'अनन्य रसिक' कह कर उद्घोषित किया। व्यास जी के शब्दों में—'रसिक अनन्य हमारी जाति।' कृष्णोपासकों के इस 'अनन्य रसिक सम्प्रदाय' का रामोपासकों के 'रसिक सम्प्रदाय' से यहीं प्रस्थान-भेद सूचित होता है। एक शब्द में—रसिक भाव में सखीभाव की समाहिति तो है पर सखीभाव में पूरे रसिकभाव की समाहिति नहीं है—[3]

सबनि दास्य सख्यादि भवि सहचरि करत प्रवेस।
सखीभाव को यह सबै किंचित् लहै न लेस॥

रसिक भाव में फैलाव है तो इस (सखीभाव) में एक संकोच। कभी-कभी इसे क्रमशः 'व्यापकता' और 'संकीर्णता' का नाम भी दे दिया गया है। किन्तु, तत्त्वतः बात इतनी उथली नहीं है। रसोपासना के केन्द्रीय प्रसंग में (अवान्तर) भावों का अनेकत्व न तो सच्चे अर्थों में उसका व्यापकत्व है और न एकत्व उसकी संकीर्णता ही। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी के अनुसार[4]—'यह संकीर्णता विशालता की उपलब्धि के लिए है।'

अन्ततः सखीभाव और रसिकभाव के भीतर मधुर रस की सघनता और अनेकता के मूल में एक सूक्ष्म कारण है जिसकी ओर संकेत कर देना आवश्यक है। और वह यह है कि कृष्णभक्ति के अन्य अनेक सम्प्रदायों में भक्ति के विभिन्न भावों से की जाने वाली रसोपासना

---

१. डॉ० भगवती प्रसाद सिंह—राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १४३।

२. अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ, पृ० ६७।

३. सिद्धान्त सरोवर, पृ० १०।

४. सूर-साहित्य, पृ० १२२।

को निखार कर इस सखी सम्प्रदाय के मधुरमधुर रस का सुघर रूप प्रकट हुआ है। जबकि राम रसिकोपासना में रूप-दृष्टि से वह उप-साम्प्रदायिक वर्गीकरण न हो कर सब-के-सब प्रायः संघ रूप में समाविष्ट हैं। राम रसिक बालअली के शब्दों में—[1]

> संतन के मत्त के चारि। सखी सखा पितु मातु निहारि।
>
> जिनमें सखी भाव नर-नारि। सकल सिरोमनि तिन्हें विचारि॥

कहना न होगा कि रसिकोपासना के क्षेत्र में संघीभूत इन विविध रसों के आधार पर उनका उप-साम्प्रदायिक वर्गीकरण, उनका व्यवस्थित अनुशीलन व कृष्णभक्ति सम्प्रदायों से उनका तुलनात्मक अध्ययन आदि अनेक विषय रसोपासना के जिज्ञासुओं के लिए आज भी करने को शेष हैं।

पुनः लीलापुरुषोत्तम कृष्ण और लीलानायिका राधा के माधुर्यप्रधान वृत्त में शृंगार रस का यह केन्द्र न जहाँ पारस्परिक और सहज संभव है वहाँ सीता-राम के ऐश्वर्य-प्रधान वृत्त में माधुर्य की अनन्य और अभिन्न अनुभूति पारम्परिक और सहज नहीं है। यही कारण है कि रामभक्ति के शृंगारी सन्तों की रसिक साधना-प्रणाली ऐश्वर्य और माधुर्य (वैधी और रागानुगाः दास्य और मधुर) के युगल पुलिनों को चूमती हुई प्रवाहित होती है। स्वभावतः यहाँ जबकि—[2]

> गहि केवल माधुर्य पुनि, धरै न चित ऐश्वर्य।
>
> रसिक ताहि नहिं मानिये, राम उपासक वर्य॥

माधुर्य पर ऐश्वर्य का शासन है वहाँ नित्य-निकुंजविहारी के ललित स्वरूप पर सोने का मुलम्मा रास नहीं आता। यहाँ तो—'प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं' की-सी स्थिति है। कदाचित् इसी कारण सखीभाव के रामोपासकों ने इसी भाव के कृष्णोपासकों से अपना प्रस्थान-भेद सूचित करने के लिए पीछे उनकी 'रसिक छाप' लेकर अपने सम्प्रदाय को धूमधाम से 'रसिक सम्प्रदाय' घोषित किया।

इन्हीं भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं के प्रभाव-स्वरूप दोनों की रसोपासना-पद्धति प्रायः एक-सी होकर भी यदाकदा भिन्न दिखायी देती है। जैसे दोनों ही सखी-साधनाओं में दिव्य देह की प्राप्ति और तदर्थ सद्गुरु की दीक्षा आवश्यक है। पर, दीक्षा-ग्रहण से लेकर भाव-सेवा तक में वैधी और रागानुगा के मध्य धूप-छाँह (विधि-निषेध की) बनी रहती है। सखीभाव इसी अर्थ में भाव है और रसिक सम्प्रदाय इसी अर्थ में सम्प्रदाय।

तो, रसिक साधना का मूलाधार है—सखीभाव। यह लिंगोपाधिविनिर्मुक्त रस-साधना है। कृष्ण की युगलोपासना को केन्द्र बना कर इस भाव का साम्प्रदायिक वितान

---

१. सिद्धान्त तत्त्व दीपिका, पत्र ३४।

२. रसिक अली—अनन्य तरंगिनी, पृ० ३।

लगा जो पीछे राम-रसिक सम्प्रदाय पर भी अँबोबें की तरह तन गया। 'पुराण संहिता' में ही सर्वप्रथम इसका आदि उल्लेख प्राप्त होता है—[1]

सखी भावाश्रया: सर्वे भूत्वा तद्विरह व्यथाम्।
अनुभूय सखी रूपं गोलोके भूयमाप्स्यथ॥

अर्थात्, भगवान् के मूल रूप की प्राप्ति हेतु सखीभाव की भाव-पीड़ा की अवधारणा साधना के क्षेत्र में आवश्यक है।

—रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

---

१. पुराण संहिता, अध्याय २०।१२४-१३५।

पुस्तक-परिचय

⊙

अनामदास का पोथा अथरैक्व आख्यान : लेखक : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली। प्रकाशन वर्ष : १९७६। डिमाई आकार, पृष्ठ १९१, मूल्य : १४ रु०।

'अनामदास का पोथा अथरैक्व आख्यान' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की चौथी औपन्यासिक कृति है। नाम से लगता है कि यह किन्हीं अनामदास का ही पोथा है, जिसमें रैक्व आख्यान वर्णित है। भूमिका की विशिष्ट शैली से अनवगत होने पर तो यह भ्रम पुष्ट ही समझिए। लेखक ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को 'दीदी' से प्राप्त बतलाया था और 'चारुचन्द्रलेख' को अघोरनाथ की संपत्ति घोषित किया था। उसी क्रम में इसे भी एक अपरिचित अनाम व्यक्ति का पोथा बताया है। ये अनामदास और कोई नहीं, स्वयम् आचार्य जी ही हैं। भूमिका में नाम की दार्शनिक एवं भाषा मनोविश्लेषणपरक चर्चा विद्वानों के लिए अतिरिक्त लाभ है, यह प्रासंगिकता अनामदास को और उभारती है।

भूमिका में रैक्व आख्यान के संदर्भ में संकेत है, कि लेखक ने चालीस वर्ष पूर्व यानी सन् १९३६ में 'बड़े हल्के मनोभाव से' एक कहानी लिखी थी—'सब हवा है।' इसमें छान्दोग्य उपनिषद् में आई रैक्व की कथा है कि वह एक रथ की छाया में बैठ कर शरीर खुजलाता रहता था। तपस्वी ऐसा कि हंस भी प्रशंसा करते थे। उनकी बोली सुन कर जिज्ञासु राजा जानश्रुति रैक्व के पास बहुत संपत्ति ले कर ज्ञान प्राप्त करने पहुँचा किंतु रैक्व ने शूद्र को ज्ञान देना स्वीकार न किया। राजा दुबारा अपनी सुन्दर कन्या लेकर उनके पास गया। अब रैक्व प्रसन्न हुए कन्या स्वीकार कर ली और उपदेश किया, कि वायु ही जगत् का कारण है। उसी में सब कुछ लीन हो जाता है। इस उपनिषद्-कथा में स्पष्ट नहीं है कि रैक्व रथ की छाया में ही तपस्या क्यों करते थे। उनके शरीर की (पीठ की) खुजली का क्या कारण था? कन्या स्वीकार कर तपस्वी ने निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति-मार्ग क्यों अपना लिया? कदाचित् लेखक ने इन प्रश्नों को ध्यान में रख कर ही प्रस्तुत उपन्यास में रैक्व कथा पल्लवित की है।

ऋषि रिक्व का पुत्र रैक्व बचपन में ही अनाथ हो गया किंतु पिता के आश्रम में चलने वाले चिंतन-मनन की छाप उस पर ऐसी पड़ी कि भौतिक चिंताओं से अपरिचित रहा और चिंतन में लीन रहता हुआ वह बालक से किशोर और किशोर से तरुण हो गया, अपने चिंतन से उसने 'वायु' को परम तत्व अनुभव किया। एक दिन नदी-तट पर बैठा वायु की प्राणवत्ता का प्रत्यय प्राप्त कर रहा था कि तूफ़ान आ गया। उसकी चपेट में वह नदी की लहरों में बड़ी देर तक डूबता-उतराता रहा। फिर भी वायु की शक्ति के अनुभव से विभोर था। तूफ़ान

थमने पर होश आया तो रैक्व जी एक ओर को चल दिए। मार्ग में पड़ा था उलटा रथ और मुर्दा गाड़ीवान। थोड़ी दूर दृष्टि डालने पर आभरणों में जगमगाती एक युवती भी बेहोश पड़ी दिखाई दी। भोले रक्व ने स्त्री-सौंदर्य पहले देखा नहीं था। युवती के नेत्रों और केशों की सुंदरता पर मुग्ध हो कर हाथ फेरने लगे। यह राजा जानश्रुति की कन्या जाबाला थी, जो अपनी मौसी के यहाँ जा रही थी। तूफ़ान में रथ उलट गया और यह दुर्गति हुई। रैक्व ने उसके प्राण बचाए थे, इसलिए उनके व्यवहार पर वह क्रुद्ध नहीं हो सकती थी। उसने रैक्व के सहज भोलेपन का अनुमान कर समझाया कि एक युवक का अपरिचित युवती से कैसा व्यवहार उचित माना जाता है। रैक्व संबोधन तक तो जानते न थे। जब जाबाला ने बताया कि उसे 'शुभा' कह सकते हैं, तो उन्होंने इसे नाम समझा और लगे उससे ज्ञान-चर्चा करने। जाबाला को बताने लगे कि 'हवा' ही सब कुछ है पर वह याज्ञवल्क्य के स्वर में 'आत्मा' को गौरव दे रही थी। रैक्व उस पर इतना रीझ गए कि उसे अपनी पीठ पर बैठा कर गंतव्य तक पहुँचाने को तैयार हो गए। भोलेपन की भी हद होती है। जाबाला ने इसका अनौचित्य बताया। तब तक उसे ढूंढ़ते हुए राजसेवक आ पहुँचे और उसे ले गए। इस घटना का रैक्व पर विचित्र प्रभाव पड़ा। उलटे पड़े रथ को सीधा कर वे उसके नीचे ही तप करने लगे। उनकी पीठ में सनसनाट या खुजली रहने लगी, जिसे रथ से पीठ रगड़ कर शान्त करते रहते। दीन-दुनिया से उन्हें कोई मतलब न पहले था, न अब रहा।

जाबाला राजा जानश्रुति की इकलौती मातृहीना कन्या थी। आचार्य औदुम्बरायण ने उसे शिक्षा दी। वे उसके प्रति गुरु भाव ही नहीं, अगाध वत्सलता भी रखते थे। जाबाला किशोरावस्था तक आते-आते अच्छी विदुषी हो गई थी। आचार्य से निरंतर ज्ञानचर्चा करते जानश्रुति भी इधर रुचि रखते थे। किंतु तूफ़ान की घटना के बाद वह गुम-सुम रहने लगी। रैक्व के प्रति उसका आकर्षण अनुराग में बदलता गया और आत्मलीन रह कर वह कमजोर पड़ती गई। राजा और आचार्य चिंतित हुए। राजा को जानकारों ने बताया कि गंधर्व बेटी का रक्त चूस रहा है। कोहली लोगों के नाटक से गंधर्व-शांति हो जाती है। राजा ने कोहलियों को बुला लिया। तैयारियाँ होने लगीं। जाबाला की मौसेरी बहन अरुन्धती भी इस उत्सव के दौरान आ गई। उधर, औदुम्बरायण जाबाला के योग्य वर ढूंढ़ने लगे। आश्वलायन को उन्होंने उपयुक्त देखा; स्वीकृति भी ले ली। लौट रहे थे तो मार्ग में हंसों के दल चिल्लाने लगे 'रयिक्व', 'रयिक्व'। आचार्य ने समझ लिया कि हंस रैक्व के ज्ञान की प्रशंसा कर रहे हैं। आकर जानश्रुति को बताया तो वे रैक्व से ज्ञान प्राप्त करने को आकुल हो उठे। आचार्य को उन्हें लिवा लाने भेजा। रैक्व रथ के नीचे बैठे पीठ खुजला रहे थे। बोले—"जाकर अपने राजा से कहिए मैं कुछ नहीं जानता। शुभा जैसी कोई स्त्री मिल जाए तो उसी से ज्ञान-चर्चा करें।" (पृ० ४४)। औदुम्बरायण को उन्होंने वायु का ही महत्व बताया और बिना परीक्षा किए कोई बात मान लेने को—नेयता को—'शूद्र धर्म' कहा। फिर आचार्य को चकित छोड़ कर अज्ञात की ओर चल दिए। नदी के घाट पर उन्हें एक वृद्धा तपसी मिली।

तापसी महर्षि औषस्ति की पत्नी थीं। रैक्व को देख कर उनमें मातृत्व भाव जगा। वे उन्हें अपनी कुटी पर ले आईं। रैक्व उन्हें 'माता' कहने लगे। माता जी ने रैक्व को व्यवहार

की अनेक बातें बताईं। रैक्व संसार में 'शुभा' को ही अपना गुरु मान रहे थे। उनकी बातों से माता भी समझ गईं कि वह राजकन्या में अनुरक्त है। अपने अनुराग को इस रूप में व्यक्त कर रहा है। वे रैक्व को औषस्ति के पास ले गईं। उन्होंने समझाया—"एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है, बेटा देखो संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है. . .जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है, वह दुःख कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है वत्स? (पृ० ५९)। उनके पास से लौटे, तो दृष्टि ही बदल गई थी। मार्ग में थकी-हारी स्त्री को देखा। उसका बच्चा मरणासन्न था। रैक्व द्रवित हो उठे। पानी पिला कर आश्वस्त किया और साथ ही माता जी के पास ले आए। यह मृत गाड़ीवान की विपन्न विधवा थी। अब रैक्व की दीदी बन गई। कुटी में ही रहने लगी। रैक्व माता जी के साथ आस-पास के गाँवों में घूमने लगे। दीन-दुखियों की सेवा में मन लगाया। एक दिन तो बोले—"माँ आज समाधि नहीं लग पा रही है। आँखों के सामने भूखे-नंगे बच्चे और कातर दृष्टि वाली माताएँ ही दिख रही हैं।" (पृ० ८२)

उस समय अकाल और भुखमरी की स्थिति थी। राजा जानश्रुति जनता से दूर थे। उन दिनों गंधर्व-शांति का उपक्रम चल रहा था; जनवर्ग की दशा देखने की फ़ुरसत कहाँ? कोहलियों ने रंगमंच बनाया। जाबाला की गंधर्व-शांति के लिए कोहली आचार्य ने पूजन किया। फिर नाटक अभिनीत हुआ जिसमें ऋष्यश्रृंग और सुव्रता का कथानक था। ऋष्य-श्रृंग ने बचपन से ही 'स्त्री' को नहीं देखा था। तपस्यारत थे। भयभीत इन्द्र ने अप्सराओं को उन्हें तपोभ्रष्ट करने भेजा। वे भोले ऋषि को छलती रहीं पर एक अप्सरा सुव्रता ऋषि के भोलेपन पर मुग्ध हो उठी। शाप की भी परवाह न कर उनके साथ रह गई। जाबाला रैक्व के भोले भाव पर रीझी थी। आत्मा सदृश कथा ने उसे रुला दिया।

इसी बीच माता जी राजा तथा जाबाला से मिलीं। दीन-दुखियों के प्रति ध्यान देने की प्रेरणा की। जाबाला उनसे बहुत प्रभावित हुई। रैक्व माता जी के आश्रम में है, यह जानकर खुश भी हुई। कालांतर में गाड़ीवान की विधवा ऋजुका उससे मिलने आई। जाबाला और पूरा राजपरिवार गाड़ीवान की मृत्यु की ओर से उदासीन था। किसी ने भी खोज-खबर न ली थी कि उसके घरवाले कहाँ हैं? जाबाला ने ऋजुका से क्षमा माँगी और रैक्व के हाल-चाल भी पूछे। अरुन्धती उसके अनुराग को ताड़ गई थी। जब जाबाला उसे रथ के पास नित्य दीपक जलाने की हिदायत कर रही थी, तो अरुन्धती ने और जोड़ा—"देख मेरी ओर से भी दो फूल नित्य चढ़ा देना। एक देवता से भी जो बढ़कर हो उसके लिए, दूसरा दिव्य लोक की पवित्र किरण के निमित्त" (पृ० १२७)।

माता जी ने राजा के यहाँ से लौटकर रैक्व का उपनयन कराया। एक वर्ष में ही उसने अनेक विद्याएँ सीख लीं। आश्वलायन से मित्रता की और भोले भाव बता गया कि उसकी गुरु 'शुभा' हैं। आश्वलायन ने जब जाना कि 'शुभा' उनकी मंगेतर जाबाला ही है, तो तत्काल पत्र द्वारा औदुम्बरायण को सूचित कर दिया कि जाबाला के योग्य वर रैक्व ही हैं। उधर औदुम्बरायण को जब ज्ञात हुआ कि जाबाला रैक्व में अनुरक्त है तो खिन्न हुए क्योंकि वे स्वयं आश्वलायन से स्वीकृति ले चुके थे। अब क्या करें? दुविधाग्रस्त आचार्य कहीं चल

दिए। जाबाला इन परिस्थितियों में और उदास रहने लगी। अंततः अन्य दिशा में मन लगाने के लिए वह माता जी के आश्रम में आ गई। वहीं रैक्व से भेंट हुई। उनकी पीठ अब भी खुजला रही थी। वे उससे फिर न अलग होने की याचना करने लगे। किंतु ऐसी वार्ता कोई सुन न ले, इसलिए जाबाला ने उनसे अन्यत्र चले जाने के लिए कहा। टालमटोल कर वे चले गए। आश्वलायन ने उनकी भेंट एक जटिल मुनि से कराई जो घास छील रहे थे। मुनि ने रैक्व की हस्तरेखाएँ देखकर उन्हें 'विवाह' के बजाय 'उद्‌वाह' करने की सलाह दी। उद्‌वाह यानी ऐसा समझौता, जिसमें पति-पत्नी एक दूसरे को ऊपर की ओर ले जाते हैं—आध्यात्मिक विकास करते हैं।

आश्वलायन के पत्र से आश्वस्त होकर राजा जानश्रुति रैक्व का वरण करने आश्रम पहुँचे। अपनी इच्छा व्यक्त की कि ज्ञानयज्ञ में ऋत्विज बना कर कन्यादान करेंगे। संतुष्ट होकर रैक्व ने कहा "मैं इस शोभन मुख की उपेक्षा नहीं कर सकता। मैं तो इसके उपोद्ग्रहण मात्र से कृतार्थ हूँ।" (पृ० १८३)।

इस कथानक में रेखाएँ औपनिषदिक कथा की हैं किंतु उनमें रंग भरा है लेखक ने अपने विवेक से। ऐसी स्थिति में एक खतरा यही रहता है कि कभी-कभी कथा के पात्रों और उनके वातावरण एवं देश-काल के चित्रण में सामंजस्य नहीं रहा करता। किंतु यह उपन्यास इसका अपवाद है। विभिन्न घटनाओं का संयोजन पात्रों के देशकाल के अनुरूप ही हुआ है। साथ ही, लेखक ने अनेक जनविश्वासों को भी यथावकाश कथा में गूँथ दिया है। जैसे, लोग कहते हैं, कि युवा कुमारों, कुमारियों को गंधर्व पीड़ित करता है। वे बेचारे इसीलिए दुबले होते जाते हैं, लेकिन इस विश्वास की गहराई में जाने का उपक्रम अभी तक नहीं हुआ था। आचार्य द्विवेदी ने स्पष्ट किया है, कि गंधर्व ही कन्दर्प या कामदेव है, जिसके प्रभाव से युवा हृदय बेचैन रहता है। इसका रहस्य उन्होंने शब्दों की भाषिक संरचना एवं उच्चारण भिन्नता में खोजा है। बाचक्नु के मत से कपिश-गांधार के लोग कोमल वर्णों के स्थान पर परुष वर्णों का प्रयोग करते हैं। 'गगनम्' को 'ककनम्' कहते हैं। इसी तरह 'गन्धर्व' हो गया 'कन्नर्प' (कन्दर्प)—(पृ० १४१)।

लेखक ने भाषागत परिवर्तन के आधार पर विकसित लोकविश्वास के अतिरिक्त मानसिक विपर्यास से शरीरगत विकृति का भी चित्रण किया है। लोक व्यवहार से अनवगत रैक्व जाबाला को पीठ पर बैठा कर ले चलने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। अनौचित्य बताये जाने पर भी वे इस अभिलाषा भाव को संवृत नहीं कर पाते। अभिलाषा उनके अवचेतन में गहरे पैठ जाती है। इससे उनकी पीठ में बराबर सनसनाट या खुजली चलती रहती है। अचानक घटित घटना के प्रभाव से लोग किस तरह पक्षाघात ग्रस्त हो जाते हैं, यह आए दिन हम देखते ही रहते हैं। मानसिक आघातों का शरीर पर प्रभाव अज्ञात नहीं है।

क्योंकि रथ के कारण ही रैक्व को जाबाला के दर्शन हुए थे अतः उनकी चेतना ने अनुराग के साधनरूप में उसका वरण कर लिया था। उससे रगड़ने पर पीठ की खुजली शांत हो जाती थी। स्पष्ट है कि लेखक ने उपनिषद्-काल के चिंतन-मनन करने वाले पात्र के जीवन की गुत्थियाँ मन के स्तर पर ही सुलझाई हैं। लगता है मन की आंतरिक प्रवृत्तियों

में युग बदलने पर भी कोई खास अंतर नहीं आया है। फ्रायड की पुस्तकें मानसिक उपचार के उदाहरणों से भरी पड़ी हैं। मनोव्यथाएँ आदिम अवस्था में भी थीं, आज भी हैं। उनका प्रभाव मानव-शरीर पर तब भी पड़ता था, आज भी पड़ता है। आचार्य जी ने प्रसन्न शैली में सहज ढंग से पीठ की जिस सनसनाट का जिक्र किया है, वह मखौल नहीं एक व्यक्ति का सत्य है। उसके पीछे उसकी गहन अतृप्ति छिपी हुई है। यह लेखक का कौशल है, कि वह इतने बड़े सत्य को रैक्व के भोलेपन का अंग बनाकर प्रस्तुत करता है।

उपन्यास में रैक्व मुख्य पात्र है। बाकी जितने भी पात्र हैं, सब उसके विकास में सहायक हैं। जाबाला उसकी प्रेरणाशक्ति है। औषस्ति तथा माता जी उसके लिए प्रवृत्ति का रास्ता प्रशस्त करते हैं। पहले रैक्व ने तप और आत्मज्ञान को ही चरम सत्य मान रखा था। परंतु औषस्ति ने समझाया—"सज्जनों का संग, सद्ग्रंथों का अध्ययन, सत्य पर दृढ़ आस्था, और दुःखी जनों की सेवा ही परम धर्म है।" (पृ० ५९) आश्वलायन को औदुम्बरायण ने जाबाला के लिए वर-रूप में स्वीकार किया था परंतु जब उसे ज्ञात होता है, कि मित्र रैक्व की 'शुभा' वही राजबाला है, तो उसने औदुम्बरायण को पत्र लिख दिया कि जाबाला के लिए रैक्व ही योग्य है। लेखक चाहता तो आश्वलायन को प्रतिनायक के रूप में रख सकता था किंतु उसने वैसा किया नहीं, एक संकेत भर कर दिया है—"रैक्व के सिवा दूसरा होता तो आश्वलायन के चेहरे की कालिमा अवश्य देख लेता।" (पृ० १४३)।

'उद्‌वाह' की प्रेरणा करनेवाले जटिल मुनि की फक्कड़ाना मस्ती उपन्यास में बड़ा महत्व रखती है। इस पात्र के माध्यम से लेखक ने उपनिषद्-काल के विविध मतवादियों की ईषद् झलक प्रस्तुत की है। वेद और यज्ञ में निष्ठा रखकर ज्ञान-चर्चा करनेवाले होते थे 'ऋषि' और स्वतंत्र चिंतन करने वाले—'मुनि'। ऐसा ही फक्कड़ पात्र है, 'मामा' जो न ऋषि है न 'मुनि' पर है सबसे ऊपर सबसे विशिष्ट। दुर्भिक्षजर्जर बच्चों की सेवा करता है। गाँव के दीन-दुखियों के लिए अन्न जुटाता है। बच्चों को शहद का शर्बत पिलाकर कहानियों में बहलाए रखता है। साधारण आदमी है लेकिन लोगों का दुःख-दर्द समझता है। सीमा भर उपचार करता है। उसका अपना कोई नहीं है। सबको वह अपना समझता है। समाज के लिए उसने अपना उत्सर्ग कर दिया है। लगता है, सच्चे सार्थक मानव की कल्पना आचार्य जी ने इसी पात्र के रूप में की है।

राजा जानश्रुति अभिजात पात्र है। उसकी मानसिकता दूसरे ढंग की है। अपनी समृद्धि से संतुष्ट है और ज्ञान में रुचि रखता है। प्रजावर्ग की उसे परवाह नहीं। तूफ़ान में गाड़ीवान मर गया किंतु उसकी विधवा और परिजनों की खबर तक न ली। गाँवों में भुख-मरी फैली है, फिर भी बेटी की गंधर्व-शांति के लिए नाटक करा रहा है। प्रजा की बहू-बेटियों से जैसे उसका कोई नाता ही नहीं है।

रैक्व और जाबाला के रूप में जीवन की पूर्णता कैसे अर्जित की जाए, इसे दिखाना लेखक का इष्ट रहा है। तप और ज्ञान, ऐकान्तिक ध्यान और निवृत्ति जीवन का एक पक्ष है। दूसरा और कदाचित् इससे सबल पक्ष है, जीवन में प्रवृत्त होना, दीन-दुखियों का दुःख दूर करना और श्रेष्ठ आदर्शों की प्रतिष्ठा करना। जो जीवन से पराङ्मुख होकर के अपनी

उन्नती चाहता है, वह अपूर्ण है। रैक्व-जाबाला का उद्वाह कर उसी पूर्णता की प्राप्ति के लिए यत्न पर दिखाया गया है।

आचार्य जी ने ऋषियों की ज्ञान-चर्चा के प्रसंगों के माध्यम से उस युग की तत्त्वचिंतन-परक मानसिकता का चित्रण कर वातावरण को स्वाभाविक रूप दिया है। अन्य उपन्यासों की भाँति इसमें भी समस्त मानवता के प्रति उनकी अगाध निष्ठा व्यक्त हुई है। यहाँ भारतीय महर्षियों का सनातन स्वर मुखरित हुआ है कि, "जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है, वह दुःख कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है ?" (पृ० ५९)। उनकी यह मानवतापरक दृष्टि उन्हें अन्य उपन्यासकारों और रचनाधर्मियों से ऊपर ले जाती है। वे मानव-जीवन को समस्त या पूर्ण देखना चाहते हैं, खंडित नहीं। 'रैक्व आख्यान' मानव की पूर्णता की ओर अग्रसर होने की कहानी है।

भाषा के स्तर पर इस कृति को रचयिता का अगला चरण कह सकते हैं। इसमें आचार्य जी संस्कृतनिष्ठता से सहजता की ओर बढ़े हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु-चन्द्रलेख' जैसी संस्कृतप्रियता यहाँ नहीं है। रंगमंच की सज्जा जैसे वर्णन आज की भाषा में हैं, रूपान्तरित भाषा में नहीं। जगह-जगह शब्दों का भाषिक और मानसिक विश्लेषण लेखक के अद्वितीय पाण्डित्य का द्योतक है। 'सहस्र' के 'हस्र' से फारसी 'हज़ार' का विकास हुआ है, गन्धर्व, और 'कन्दर्प' में कोई सम्बन्ध है; जैसी नैरुक्तिक चर्चा अत्यन्त रोचक बन पड़ी है।

भाषा और विचार दोनों दृष्टियों से यह हिन्दी की ऐसी कृति है जिस पर गर्व किया जा सके। सच तो यह है, कि आंदोलनों और विकृतियों की सांप्रतिक सभ्यता के कोलाहल में विश्व मानवता का स्वर मुखरित करनेवाला यह उपन्यास भारतीय मनीषा की उदात्त अभिव्यक्ति है।

—डॉ० आनन्दमंगल बाजपेयी

⊙

निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल : लेखक : डॉ० रामलाल सिंह। प्रकाशक : साहित्य सहयोग, इलाहाबाद। मूल्य : विद्यार्थी संस्करण १५ रु० एवं पुस्तकालय संस्करण २० रु०।

डॉ० रामलाल सिंह का शोध-प्रबन्ध, "आचार्य शुक्ल का समीक्षा-सिद्धान्त" बहुत वर्षों-पूर्व प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् आचार्य शुक्ल के निबन्धकार व्यक्तित्व को विशेष सन्दर्भ में रखकर लेखक ने अध्येताओं एवं विद्यार्थियों की दृष्टि से यह पुस्तक तैयार की है। आज की अधुनातन समीक्षा-पद्धति मूल्यांकन व आकलन के लिए तमाम समीक्षकों के उद्धरणों या आलोच्य कृती के मतों पर आधारित नहीं है बल्कि समीक्षक अपनी अनुभव-दृष्टि एवं समझ को ही कृति या कृती पर केन्द्रित करता है। इस दृष्टि से डॉ० सिंह ने उद्धरणों की भीड़ में अपने प्रस्तुत तथ्यों को भी आवृत कर दिया है जो वस्तुतः इण्डक्टिव पद्धति की अलोचना का दोष बन गया है। इस आलोच्य कृति की सभी कमियों या गुणों को एक साथ नहीं उठाया जा सकता है। आरंभ में निबन्ध-विकास को साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से देखने पर अनेक असंगतियाँ परिलक्षित होती हैं। उदाहरणार्थ निबन्ध-लेखन का आरंभ भारतेन्दु

युग से होता है जो रचनात्मक तत्वों से परिपूर्ण है। द्विवेदी-युग के निबन्धों को वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने ही आकार दिया है क्योंकि एक ओर रचनात्मक मूल्य-दृष्टि (व्यक्ति प्रधान निबन्धों में) एवं दूसरी ओर वस्तुपरक विषयों पर विचारात्मक मूल्य-दृष्टि की विशेषता के कारण उनमें समन्वय बिन्दु की खोज मिलती है। मैंने यह स्थापना की है कि द्विवेदी-युग उपन्यास एवं कहानी के विकास में प्रेमचंद युग है, नाटक के विकास में प्रसाद युग है, इसी प्रकार आलोचना व निबन्ध के विकास में शुक्ल-युग[1] है। द्विवेदी जी केवल एक समय व काल के केन्द्रीय व्यक्तित्व मात्र रहे हैं। डॉ० सिंह की दृष्टि पारम्परिक आलोचना-पद्धति तक ही सीमित है।

यह आलोचना-पुस्तक उद्धरणों की भीड़ में आलोचक के व्यक्तित्व को आवृत्त किये हुए है। अनेक पृष्ठ साक्ष्य के रूप में हमारे सामने हैं कि एक ही वाक्य-रचना की सम्पूर्णता में तीन-तीन लोगों के उद्धृत मत आत्मसात् हो गये हैं। आचार्य शुक्ल के निबन्धों में स्थित आलोचना-मूल्य—'लोक-मंगल की भावना' वस्तुतः आज के संदर्भों में आम आदमी की जीवनानुभूति पर आधारित है। तत्सम्बन्ध में भी कोई नया परिप्रेक्ष्य नहीं उद्घाटित हो सका है।

शोधार्थी व परीक्षार्थी को भी सम्भवतः इस पुस्तक से लाभ नहीं प्राप्त हो सकेगा।

—डॉ० विजय शुक्ल

⊙

श्री रामनारायण उपाध्याय : अभिनन्दन-ग्रंथ—'माटी की गंध' : सम्पादक : शिवशंकर शर्मा। प्रकाशक : साहित्यार्चन समिति हरसूद, (म० प्र०)। मूल्य २० रु०।

खण्डवा निवासी श्री रामनारायण उपाध्याय के व्यक्तित्व व कृतित्व को प्रकाशित करने के उद्देश्य से यह संकलन तैयार किया गया है किन्तु इसे अभिनन्दन-ग्रंथ आवश्यक रूप से कह दिया गया है। श्री उपाध्याय जी व्यंग्य-लेखक एवं लोक-साहित्य लेखक के रूप में जाने जाते हैं। बेहतर होता कि उनके सम्मान में प्रकाशित इस ग्रंथ में उनके किसी एक पक्ष-विशेष की, सविस्तार सूचनाएँ होतीं तो निश्चय ही हिन्दी-जगत् का लाभ होता। कुछ मित्रों का उनके सम्बन्ध में विचार व दृष्टिकोण, कुछ चिट्ठियाँ व व्यक्तिगत पत्र और दो-चार लेख आदि मात्र से किसी भी लेखक व उसके परिवेश का बोध नहीं हो पाता। एक पक्षीय प्रशस्ति अथवा फुटकल सम्मतियों से यही समझा जा सकता है कि हिन्दी के एक पुराने लेखक को आलोचना या अभिनन्दन-ग्रंथ के नाम पर अपनी साहित्यिक सेवा का प्रमाण-पत्र जुटाना अनिवार्य हो गया है।

---

१. देखिए—सम्मेलन पत्रिका, श्यामसुन्दर दास शताब्दी विशेषांक में लेखक का लेख-निबन्ध—आधुनिक काल : युग-विभाजन।

फिर भी श्री उपाध्याय के इस तथा-कथित अभिनंदन-ग्रंथ से अधिक श्रेष्ठ हम 'माटी की गंध' का होना उनमें पाते हैं जो उनके व्यक्तित्व से उद्‌भूत होकर कृतित्व में सुवासित होता है।

—डॉ० विजय शुक्ल

⊙

बालमुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबन्ध, चिट्‌ठे और खत : सम्पादक—ओंकार शरद। प्रकाशक : विविध भारती प्रकाशन, इलाहाबाद। मूल्य : बारह रुपए।

सभी हिन्दी प्रेमी बालमुकुन्द गुप्त की साहित्यिक सेवाओं से परिचित हैं। जिस हिन्दी का जन्म भारतेन्दु बाबू ने दिया, उसे नये रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय गुप्त जी को है। यह गहन विचारक, निष्पक्ष पत्रकार एवं कुशल निबंधकार थे।

गुप्त जी ने पहले उर्दू-पत्रों का सम्पादन किया, बाद को पं० मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा से कालाकांकर से प्रकाशित 'हिन्दोस्थान' पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में कार्य करने लगे। यद्यपि इन्होंने कई पत्रों का सम्पादन किया, फिर भी 'भारतमित्र' के सम्पादक के रूप में इन्हें अक्षय ख्याति प्राप्त हुई।

प्रस्तुत पुस्तक में गुप्त जी के १० श्रेष्ठ निबन्ध एवं १४ शिवशम्भु के चिट्‌ठे और खत संग्रहीत हैं। ये सभी लेख 'भारतमित्र' में प्रकाशित हो चुके हैं जिनका चुनाव हिन्दी के प्रसिद्ध अनुवादक एवं लेखक श्री ओंकार शरद ने किया है। गुप्त जी ने शिवशम्भु शर्मा नाम से शिवशम्भु का चिट्‌ठा शीर्षक से एक लम्बी लेखमाला भारतमित्र में प्रकाशित की। ये पत्र राजनीतिक हैं। इन पत्रों में लार्ड डफरिन, एलगिन, कर्जन एवं मिन्टो जैसे प्रसिद्ध वाइसरायों के शासन-काल की विशेषताओं का व्यंग्यात्मक वर्णन किया गया है। मूक जनता के दुःख-दैन्य को इन्होंने वाणी का रूप दिया है। अंग्रेज अधिकारियों की बड़ी निर्भीकता से आलोचना की गई है। यहाँ पर एक उदाहरण दे देना अनावश्यक न होगा।

"कृष्ण हैं, उद्धव हैं पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। राजा है, राजप्रतिनिधि है, पर प्रजा की उन तक रसाई नहीं। सूर्य है, धूप नहीं, चन्द्र है चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर में हैं, पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है।"

इसी प्रकार की जोरदार सशक्त भाषा में अपने विचारों को प्रकट किया है। पुस्तक पठनीय है। इसकी साज-सज्जा भी आकर्षक है। छात्रों के लिए पुस्तक की विशेष उपयोगिता है, इसमें सन्देह नहीं।

—कृष्ण नारायण लाल

⊙

विज्ञान-दर्शन : लेखक : डॉ० वीरेन्द्र सिंह। प्रकाशक—साहित्य सहयोग, इलाहाबाद। मूल्य : विद्यार्थी संस्करण १५ रु०, पुस्तकालय संस्करण २० रु०।

विज्ञान-दर्शन को लेखक ने सोलह अध्यायों में विभाजित किया है। विज्ञान को मात्र वस्तु-जगत् में होने वाले नये आविष्कारों तक समझने की सीमित दृष्टि सामान्य लोगों

नहीं रहा है। लेखक ने यह बताया है कि विज्ञान मनुष्य की मानसिकता से भी जुड़ा हुआ है जो मात्र जीवन-मूल्य के रूप में स्थित है एवं निरन्तर है। साहित्य व कला के भीतर मनुष्य की चेतना से विज्ञान का क्या सम्बन्ध हो सकता है, ऐसे दार्शनिक विषय को लेखक ने बखूबी प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य की महती सेवा की है।

संभवतः विज्ञान के दार्शनिक विवेचन की यह हिन्दी की पहली पुस्तक है।

—डॉ० रैवारानी शुक्ल

(७)

शंकरदेव साहित्यकार और विचारक—डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'। प्रकाशक : पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, १९७६ पृष्ठ संख्या ४८६। मूल्य : अज्ञात।

डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'-कृत 'शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक' नामक ग्रंथ के अवलोकन का अवसर मिला। पंद्रहवीं-सोलहवीं शती में भारत के पूर्वांचल में आविर्भूत महापुरुष शंकरदेव कवि, नाटककार, दार्शनिक, वैष्णवमत-संस्थापक, रंगशिल्पी, समाज-सुधारक और क्रांतिकारी युगद्रष्टा के रूप में अप्रतिम रहे हैं। यदि वर्तमान असमी समाज को महापुरुष शंकरदेव के विचारों की प्रतिमूर्ति कहा जाए तो इसमें किंचिन्मात्र अत्युक्ति नहीं होगी। हिंदी क्षेत्र के अर्थ में गोस्वामी तुलसीदास की जितनी महत्ता है, उससे कई गुनी अधिक महत्ता महापुरुष शंकरदेव की असमीभाषी क्षेत्र के लिए है। भारत के इतने महान् पुरुष के संबंध में राष्ट्रभाषा में ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं थी जो उनके जीवन और कृतित्व के विषय में सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत कर सके। यह चिंता का विषय था। डॉ० मागध के पूर्व कतिपय विद्वानों ने शंकरदेव के विषय में लिखा, किंतु किसी ने इतने विस्तार और गहनतापूर्वक विचार नहीं किया जितना प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है। किसी ने अंकिया नाटकों के विषय में कुछ कहा-सुना, किसी ने बरगीत के विषय में कुछ सूचनाएँ दीं, किसी ने उन्हें वैष्णव कवियों की पंक्ति में बैठा कर कुछ विचार-विमर्श किया और किसी ने उनके भक्ति-साहित्य का संपादन किया, किन्तु उनके संपूर्ण साहित्य को अध्ययन का विषय बनाकर किसी हिंदी विद्वान् ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा।

प्रस्तुत ग्रंथ को डॉ० मागध ने अधोलिखित दस अध्यायों में अनुगुम्फित किया है—

१. जीवन-चरित, २. रचनाएँ, ३. काव्यरूप, ४. रचनाओं के कारक तत्त्व, ५. दर्शन, ६. भक्ति, ७. समाज-दर्शन, ८. काव्य-सौष्ठव, ९. नाटक और १०. समापन।

उक्त अध्यायों को उपयुक्त उपखंडों में विभाजित करके अध्ययन को सुविस्तृत बनाने की पूरी चेष्टा की गई है।

मनुष्य का व्यक्तित्व परिस्थितियों के ही साँचे में ढलता है। साहित्यकार भी इसका अपवाद नहीं है। अतएव किसी साहित्यकार की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उसकी परिस्थितियों का परिज्ञान आवश्यक होता है। लेखक ने शंकरदेव के पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन असमी समाज की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशाओं का चित्र 'रचनाओं के कारक

तत्त्व' तथा 'समाज-दर्शन' नामक अध्यायों में प्रस्तुत करके उनकी परिस्थिति का अच्छा आकलन किया है।

शंकरदेव के काव्यग्रंथों का लेखक ने अनेक दृष्टियों से वर्गीकरण किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से उनका वर्गीकरण कठिन है, क्योंकि वे उक्त काव्यशास्त्र को दृष्टि में रखकर लिखे ही नहीं गए हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्न और नव्य काव्यशास्त्र-समन्वित दृष्टिकोण का आश्रय लेना पड़ा है और यही उचित भी है।

महापुरुष शंकरदेव ने भागवतपुराण के अधिकांश स्कंधों का अनुवाद उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में महात्मा सूरदास ने। उन्होंने कहीं कथा-प्रसंग को चलता कर दिया है, कहीं विस्तृत कर दिया है, कहीं श्रीधरी टीका का अनुवाद किया है और कहीं अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। लेखक ने इस विषय का भी विवेचन किया है कि अमुक स्थल का अनुवाद इस प्रकार का है। उसने शंकरदेव के काव्य का वर्ण्यवस्तु, शब्दशक्ति, गुण, वृत्ति, रीति, रस, अलंकार, पिंगल, गीति, शैली आदि सभी दृष्टियों से विवेचन किया है। शंकरदेव के काव्य का शास्त्रीय दृष्टि से पर्यवेक्षण का यह स्तुत्य प्रयास है। उनके अंकिया नाटकों को भारतीय नाट्य साहित्य के परंपरित विकास में स्थापित करके उन्हें परखने की चेष्टा की गई है। यों तो लेखक ने उनके नाट्यसाहित्य का प्रायः सभी अपेक्षित दृष्टियों से विवेचन किया है, पर पता नहीं क्यों उसने कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और पंचसंधियों के विषय में कोई चर्चा नहीं की है। इस प्रसंग की भी थोड़ी बहुत चर्चा अपेक्षित थी।

ऊपर प्रस्तुत की गई अध्यायों की सूची से स्पष्ट है कि लेखक ने शंकरदेव की दार्शनिक मान्यताओं और उनकी भक्ति के विषय में भी विस्तृत विचार किया है। इस संदर्भ में उसने शंकरदेव के तत्संबंधी मान्यताओं को दर्शन और भक्ति के विकास की शृंखला में स्थापित किया है।

लेखक ने शंकरदेव तथा गोस्वामी तुलसीदास के वर्षावर्णन में पाँच स्थानों पर उक्ति साम्य का उल्लेख किया है।[1] यह उसके सूक्ष्म अध्ययन का परिचायक है। लेखक ने यह उल्लेख किया है कि केलिगोपाल नाटक में 'राधा का वर्णन' हुआ है।[2] यह बात तो ठीक है, पर इस रचना को छोड़ कर शंकरदेव साहित्य में कहीं भी राधा का नाम नहीं है और न एकशरणिया धर्म में राधा का कोई स्थान है। ऐसी दशा में श्री कालिराम मेधी ने यह तर्क उपस्थित किया है कि उक्त नाटक में राधा का नाम परवर्ती प्रक्षेप है।[3] लेखक को इस तथ्य का भी उल्लेख करना चाहिए था। शंकरदेव के नाटकों में हास्य-तत्त्व की चर्चा करते हुए लेखक ने लिखा है कि 'विदूषक का इन नाटकों में अभाव है, किंतु वेदनिधि (रुक्मिणीहरण), नारद

---

१. पृष्ठ ४१४।

२. पृष्ठ २८७।

३. दे० अंकावली, पृ० ५१-५२ अथवा इन पंक्तियों के लेखक—द्वारा संपादित 'महापुरुष शंकरदेव-भक्तमुक्ति-ग्रंथावली', पृ० ४०, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९७५ ई०।

(पारिजातहरण) और विश्वामित्र (रामविजय) में विदूषक के कतिपय गुणों का समावेश हो गया है।[1] इस प्रसंग में मेरा विनम्र निवेदन है कि नारद के चरित्र में यहाँ विदूषक के गुणों का समावेश नहीं जान पड़ता। अपनी कलहप्रिय और पिशुन-प्रकृति के अनुसार नारद पारिजात-पुष्प के लिए श्रीकृष्ण और सत्यभामा में झगड़ा लगा देते हैं। जब सत्यभामा मान करती है तब वे पुनः कृष्ण को उनके मान का संदेश देकर उन्हें उनके पास भेजते हैं।[2] नारद के इस व्यवहार से हास का तो नहीं, क्रोध अथवा जुगुप्सा का भाव जागरित होता है। दूसरी बात यह कि श्रीरामविजय नाटक में 'विश्वामित्र' में नहीं प्रत्युत 'परशुराम' में विदूषक के गुणों का समावेश हुआ है।[3] संभवतः लेखनीदोष (Slip of pen) के कारण ऐसा कांड हो गया है।

विद्वान् लेखक ने शंकरदेव की काव्यभाषा का भी विवेचन किया है जिससे प्रायः लेखक कतराते हैं। उसने शंकरदेव की ब्रजावली (जिसमें रचित साहित्य शंकरदेव की रचनाओं में बहुत उच्चकोटि का है और जो हिंदी की ही एक बोली है) का विस्तृत व्याकरणिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।[4] प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को छोड़कर किसी हिंदी विद्वान् ने इस विषय पर अब तक लेखनी नहीं चलाई थी।[5] लेखक ने शंकरदेव के काव्य में प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों की ओर भी ध्यान दिया है।[6]

लेखक की भाषा और मुद्रण के संबंध में भी कुछ बातें आवश्यक हैं। ग्रंथ में जिस स्तर की भाषा का व्यवहार किया गया है, वह विषय की गंभीरता की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है, इसमें कोई संदेह नहीं है। यत्र-तत्र भाषा-दोष लक्षित होता है; जैसे—लेखक ने ग्रंथ में अनेकत्र 'सविस्तार'[7] शब्द का व्यवहार किया है। 'विस्तार-सहित' के अर्थ में शुद्ध शब्द 'सविस्तर' है। संभव है वर्ण-योजकों (Compositors) ने लेखक के 'सविस्तर' को ही सब जगह 'शुद्ध' कर दिया हो। ऐसा मेरे लेखों में भी हुआ है। लेखक ने 'केंचुलवत्'[8] शब्द का भी व्यवहार किया है। 'केंचुल' शब्द तद्भव है। इसमें संस्कृत प्रत्यय (मतुप्) का प्रयोग उचित नहीं है। 'केंचुल' के स्थान पर तदर्थी 'निर्मोक' शब्द रखकर यह प्रत्यय लगाया जा सकता है। इस

---

१. पृ० ४४७।

२. दे० महापुरुष शंकरदेव-ब्रजबुलि ग्रंथावली, पृ० १३६-१३९।

३. दे० उपरिलिखित ग्रंथ, पृ० ३०९-३३६।

४. पृ० ३५३-३९१।

५. दे० महापुरुष शंकरदेव...,पृ० १९१-१०४ तथा ४०१-४०५ अथवा 'गुरुभक्ति-माला' में—'The Brajabuli of Mahapurush Shankardeva' पृ० ४९-६६, प्रकाशक—श्रीमंत शंकरदेव संघ, डिब्रूगढ़, सन् १९७६।

६. पृ० ३९२-३९४।

७. पृ० ७३। पंक्ति (नीचे से) १३, पृ० २८२, पंक्ति (ऊपर से) १३।

८. पृ० ७३। गी० ४।

प्रकार अभीष्ट शब्द बनेगा 'निर्योकवत्'। 'दसाधिक' भी ऐसा ही शब्द है।[1] [illegible] शब्द 'दश' है। संधि संस्कृत शब्दों में होती है। हिंदी शब्दों में नहीं। फिर भी 'दशाधिक' शब्द बनेगा, 'दसाधिक' नहीं। इसी प्रकार 'स्वभावतः' के अर्थ में 'प्रकृत्या' अथवा 'प्रकृतितः' शब्द बनेगा, 'प्रकृति': नहीं।[2] इनमें अंतिम दो में भी मुद्रणाशुद्धि हो सकती है। लेखक ने 'शंकरदेव' के विशेषणरूप में सर्वत्र 'शांकरी' शब्द का प्रयोग किया है।[3] असमी में इस शब्द का उक्तार्थ में व्यवहार होता है, यह बात ठीक है, पर मेरी समझ में 'शंकरी' शब्द ही हिंदी की प्रकृति के अनुकूल होता। 'शंकरी' का एक अर्थ 'भवानी' भी होता है, पर एक शब्द के अनेकार्थ भी होते हैं और प्रसंगानुकूल उन्हें ग्रहण किया जाता है। 'शंकर' का विशेषण 'शांकर' (जो 'शिव-भक्त' अथवा 'शंकराचार्य' के विशेषण के अर्थ में आता है) और फिर उससे विशेषण 'शांकरी', यह नहीं जँचता। एक शब्द की एक ही वर्तनी ठीक होती है। कहीं 'पाटबाँउसी',[4] कहीं 'पाट-बांउसी',[5] कहीं 'पाडबाउसी',[6] कहीं 'पाट बाउसी',[7] कहीं 'पाट-बाउसी'[8] ठीक नहीं लगता। यह सब लेखक का दोष नहीं मुद्राराक्षस की कृपा ज्ञात होती है। हिंदी में अन्य भाषा के शब्दों की वर्तनी उच्चारण के अनुसार रखनी चाहिए। हिंदी शब्द 'असमी' का असमी प्रतिशब्द 'असमीया' है जिसकी वर्तनी हिंदी की उच्चारण-प्रकृति के अनुसार 'असमिया' बन जाती है। लेखक ने लिखा है कि "व्यक्तिवाचक संज्ञा होने के कारण इस ग्रंथ में इसे 'असमीया' रूप में लिखा गया है।"[9] 'बड़गीया' शब्द का व्यवहार भी कदाचित उसने इसी सिद्धांत पर किया है।[10] तो फिर उसे 'एकशरणीया' भी लिखना चाहिए था, क्योंकि यह भी व्यक्तिवाचक शब्द है, पर उसने 'एकशरणिया' शब्द का व्यवहार किया है।[11] लेखक ने असमी शब्द 'तुलापात' (=कागज) को 'तुलापाट' लिखा है[12] क्योंकि असमी जनता 'त' को भी हलके 'ट' जैसा उच्चरित करती है। ये दोनों परिवर्तन उच्चारणानुसार हुए। लिप्यंतर में सर्वत्र एक सिद्धांत रखना समीचीन रहा होता। 'विचार' संज्ञा से 'विचारना'[13] क्रियारूप अब हिंदी में चलने लगा

---

१. पृ० ६६/ ऊ० ५।
२. पृ० २६८/ नी० १२।
३. पृ० ३०/नी० ११, पृ० ९२/ नी० १, पृ० २७६/ नी० ८।
४. पृ० १४/ नी० ५।
५. पृ० १५/ ऊ० १।
६. पृ० ३०/ नी० ११।
७. पंचम चित्र के नीचे।
८. षष्ठ चित्र के नीचे।
९. पृष्ठ ग, पाद-टिप्पणी।
१०. पृ० ५/ नी० १७।
११. पृ० ५४/ ऊ० ७, पृ० ६६/नी० १६, पृ० ९७/ नी० ५।
१२. पृ० ११/ नी० १०।
१३. पृ० २०/ नी० १२।

है। मैं मानता हूँ कि ऐसे प्रयोगों से भाषा की शक्ति बढ़ती है, पर ऐसे प्रयोगों को 'साथ प्रयोग' कहने में संकोच होता है। 'मिथालिस' भी ऐसा ही प्रयोग है।[1]

अपने देश के मुद्रणालयों में पूर्णतः शुद्ध पुस्तक छपे, वर्तमान काल में तो यह विस्मय की ही बात होगी। मुद्राराक्षस की कृपा से इस पुस्तक में भी यह स्वाभाविकता आवश्यक ही थी। नीचे थोड़े से नमूने प्रस्तुत हैं—

मुद्रित रूप	शुद्ध रूप	पृष्ठ	पंक्ति	
			ऊपर से	नीचे से
सूरसावर	सूरसागर	ब	–	११
Parthogenesis	Parthenogenesis	३	१४	–
बन पथा	बनपथा	५	–	४
पत्निप्रसाव	पत्नीप्रसाव	१३	–	१७
चकार	चाकर	११२	–	३
सामान्य	सम्मान्य	२३९	२३९	१३
कृष्ण का राधा के साथ	कृष्ण के राधा के साथ	२६०	–	७
कीतिता	कीर्तिलता	४५४	–	१४
लुटिया	लुटिया	४५८	१२	–

राक्षस की गलती के लिए मानव बेचारे का क्या दोष ? मुझे भी इसका अनुभव है। कोई चारा नहीं है। शुद्धिपत्र एक उपाय है, पर प्रकाशक उससे डर कर कतराते हैं। ऐसे स्थल पर हमें दार्शनिक दृष्टिकोण से सोचना ही अच्छा है कि 'जड़-चेतन गुण-दोषमय बिस्व कीन्ह करतार'। एकाध दोष कर ही क्या सकते हैं—

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।'

ग्रंथ में सुंदर-सुंदर २१ चित्र भी दिए गए हैं जो प्रसिद्ध सन्तों, हस्तलेखों, महापुरुष द्वारा प्रयुक्त सामग्रियों आदि के हैं। पुस्तकांत में विस्तृत ग्रंथ-सूची लगाई गई है। डॉ० माधव ने बहुत पसीना बहा कर जो यह चिरानुभूत ग्रंथ दिया है, इस हेतु वे साधुवाद के पात्र हैं।

'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्'।—

डा० लक्ष्मीशंकर गुप्त

---

१. पृ० १५१; डी० २१ [illegible]

सहयोगी-साहित्य

सुधाबिन्दु (युग विशेषांक), जनवरी, फरवरी—१९७६। सम्पादक : डॉ० राजनाथ पाण्डेय, प्रकाशक—राजस्थान सेवा समिति, अहमदाबाद। पृ० सं० १२४, मूल्य ५ रु०।

प्रस्तुत 'सुधाबिन्दु' पत्रिका ने 'युग विशेषांक' प्रकाशित करके युगीन समस्याओं से संबंधित विचारोत्तेजक लेख तथा कवितायें पाठकों के लिए प्रस्तुत की हैं। 'युगसंकेत', 'धर्म और युग संक्रान्ति', 'नए युग की ओर', 'कलियुग का कमाल', 'युग का अनुशासन पर्व', 'साहित्य और युगकर्म', 'युग और विद्यार्थी', 'युग और युवक' आदि लेख पठनीय एवं मननीय हैं।

युगीन चेतना को समझना और युगानुकूल आचरण के लिए अपने को तैयार करना ही युग धर्म का निर्वाह है। दिशाहीन भारतीय युवा पीढ़ी के लिए इस प्रकार के 'विशेषांक' मूल्यवत्ता रखते हैं। सुरुचिपूर्ण संपादन और उत्कृष्ट सामयिक समस्याओं को निर्देशित करने वाली विशिष्ट सामग्री का संचयन निश्चय ही सम्पादक की सूझ-बूझ का परिचय देती है।

साहित्य परिचय १९७६, (शैक्षिक प्रगति विशेषांक)। संयुक्तांक मार्च-मई १९७६, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा द्वारा नवां वार्षिक उपहार। मूल्य ८ रु०। प्रबन्ध सम्पादक—श्री सतीशकुमार अग्रवाल।

प्रस्तुत शैक्षिक विशेषांक में शिक्षा संबंधी प्रचुर सामग्री संकलित हुई है। 'पूर्व प्राथमिक शिक्षा', 'भारत में माध्यमिक शिक्षा', 'उच्च शिक्षा प्रशासन और विश्वविद्यालयों का दायित्व', 'शिक्षा क्षेत्र में बढ़ते चरण', 'स्त्री शिक्षा', 'महिला शिक्षा की प्रगति', 'समाज शिक्षा', 'प्रौढ़ शिक्षा', 'प्रशासन में भारतीय भाषायें' आदि लेखों में भारतीय शिक्षा धारा का परिचय प्रस्तुत किया गया है। शिक्षा के पूर्व स्तर तथा वर्तमान स्तर पर विशेषांक में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। विशेषांक की सामग्री देखने से लगता है कि सर्वतोमुखी, व्यवसायपरक, सर्वजन हिताय एवं सर्वजन सुखाय शिक्षा की खोज का यह विशेषांक एक सार्थक प्रयास है। इस प्रकार अगर इन संकलित शीर्षकों को आधार मान कर शिक्षा का मानदण्ड निश्चित किया जाय तो निश्चय ही भारत की शिक्षा प्रणाली में एक अभूतपूर्व काया पलट हो सकती है।

साहित्य परिचय अपने गौरवपूर्ण विशेषांकों के कारण स्थायी महत्व पाता जा रहा है। इस प्रकार की सुनियोजित पत्रकारिता की परम्परा हिन्दी में बहुत बड़े अभाव की पूर्ति है। शिक्षा क्षेत्र के मनीषियों के सतत सहकार से 'साहित्य परिचय' युगानुकूल चिंतन सरणि का निर्देश करते हुए नयी क्रान्ति का बीज मंत्र-कोष बनेगा ऐसा विश्वास है।

जीवन साहित्य—सम्पादक : यशपाल जैन, विशेषांक मई-जून १९७६, प्रकाशक : सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

'जीवन-साहित्य' गांधीवादी मूल्यों को प्राथमिकता देने वाली सात्विक पत्रिका है। पत्रिका के सम्पादक श्री यशपाल जैन हिन्दी के वरिष्ठ लेखक एवं सधे हुए सम्पादक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। सस्ता साहित्य मण्डल की मुख पत्रिका होने के नाते जीवन-साहित्य की अपनी जननी संस्था की पयस्विनी से रस प्राप्त करता है। विशेषांक सस्ता साहित्य मण्डल की

स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित है अतएव इस संस्था के कार्य-कलापों, उद्देश्यों एवं उपलब्धियों से संबंधित सामग्री द्वारा हमें उसके उदात्त स्वरूप का सहज परिचय प्राप्त होता है। विशेषांक उत्कृष्ट लेखों और सूचनात्मक तथ्यों तथा ललित निबन्धों के कारण पठनीय है।

सात्विक, रचनात्मक एवं मानवतावादी मूल्यों से अनुप्राणित जीवन-साहित्य जैसी पत्रिकाओं के प्रत्येक अंक का महत्व सर्वमान्य है। यह विशेषांक तो अनेक दृष्टियों से प्रबुद्ध-चेता वर्ग का परितोष करेगा।

—हरिमोहन मालवीय

● ●

सम्मेलन का नवीनतम प्रकाशन

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य की अन्तर्कथाओं के स्रोत

⊙

डॉ० शशि अग्रवाल

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर लिखित और डी० लिट्०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

⊙

मूल्य : पचपन रुपए

⊙

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग